सूर्यकुमारी पुस्तकमाला—१६

हिंदी रसगंगाधर

तृतीय भाग

लेखक
पुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी

नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

प्रकाशक : नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
मुद्रक : महताबराय नागरी मुद्रण, काशी
प्रथम संस्करण, १५०० प्रतियाँ, सं० २०१५
मूल्य ८)

श्रीहरिः ।

वक्तव्य

आज यह हिंदी-रसगंगाधर का अवशिष्ट भाग भी जनता जनार्दन की सेवा में समर्पित करते हुए अत्यन्त आनन्द का अनुभव हो रहा है। आज से लगभग ३५ वर्ष पूर्व साहित्याचार्य के परीक्षार्थी के रूप में रहते हुए मैंने इस कार्य का आरंभ किया था। इसका आरंभ जिन संयोगों में हुआ उनका दिग्दर्शन आज इसकी समाप्ति के समय अप्रासंगिक न होगा।

मैंने संस्कृत का अध्ययन घर पर पिता जी से ही आरंभ किया था, पर गांवों में, और विशेषतः राजस्थान के गाँवों में, उस समय परीक्षा का रिवाज न था। लोग परीक्षाओं से प्रायः घृणा करते थे। अतः बीस-बाईस वर्ष की अवस्था तक मैंने कोई परीक्षा न दी। नाथद्वार जाने पर यद्यपि मैंने सिद्धांतकौमुदी पढ़ ली तथापि वहाँ भी हमारे गुरु जी परीक्षाविरोधी ही मिले, किंतु मैं समय की गति से परिचित हो चुका था, अतः मैंने परीक्षा देना उचित समझा। मैं वृत्तिप्राप्त विद्यार्थी था, अतः बिना अनुमति के परीक्षा दे नहीं सकता था। अंत में बड़ी कठिनता से सन् १९२० में मुझे परीक्षा की अनुमति मिली। उसी वर्ष मैंने व्याकरण में गवर्नमेंट संस्कृत कालेज काशी की संपूर्णमध्यमा परीक्षा दी। भगवत्कृपा से उत्तीर्ण भी हो गया। परन्तु उत्तीर्ण होने के बाद विदित हुआ कि मध्यमोत्तीर्णता तो पांडित्य में प्रवेशमात्र है, पर आगे आचार्य परीक्षा के अतिरिक्त उन दिनों कोई परीक्षा ही नहीं थी और वह भी होती थी छः वर्ष में समाप्त। वृत्तिकर्शित व्यक्ति के लिए इतने

दिन परीक्षा में लगे रहना असंभव नहीं तो अतिकठिन तो था ही, क्योंकि और कोई निर्वाह का साधन नहीं था। पर इतने पर भी साहस करके आचार्य परीक्षा में प्रविष्ट होना निश्चित कर लिया। वृत्तिकर्शितता के कारण मैंने उन दिनों अध्यापकता भी स्वीकार कर ली। मेरे सामने उस समय आचार्य परीक्षा के लिए दो ही विषय थे व्याकरण और साहित्य। उनमें से मैंने साहित्य ही लेना उचित समझा। कारण यह था कि मैं हूँ सदा से ही स्वतंत्र प्रकृति का व्यक्ति और वहाँ थी राजनीति की चालें, अतः मैं समझता था कि न जाने किस दिन मुझे यहाँ से छोड़कर चला जाना पड़े। साहित्य में मेरा प्रवेश था और उसे मैं बिना किसी की सहायता के भी तयार कर सकता था, व्याकरण में सहायता आवश्यक थी। हुआ भी ऐसा ही। परीक्षा आरंभ करने के तीन ही वर्ष बाद मुझे नाथद्वार छोड़ देना पड़ा।

उस समय मैं काव्यप्रकाश की परीक्षा दे चुका था, जिसमें उस वर्ष यावन्मात्र परीक्षार्थियों में एकमात्र मैं ही उत्तीर्ण हुआ था। अब रसगंगाधर की तयारी करनी थी, पर उसी वर्ष मुझे नाथद्वारनरेश के साथ मुंबई और दक्षिणयात्रा में, राजपंडित के रूप में, जाना पड़ा। उस समय रसगंगाधर के विकल्प में महिमभट्ट का 'व्यक्तिविवेक' भी था। मेरे पास न रसगंगाधर था न व्यक्तिविवेक। दक्षिण यात्रा में जब पूना पहुँचा तो वहाँ मेरे परिचित एक प्रोफेसर महोदय के पास व्यक्तिविवेक मिल गया। उनने वह पुस्तक मुझे देना स्वीकार भी कर लिया। अतः यात्रा में मैंने परीक्षार्थ व्यक्तिविवेक की तयारी आरंभ कर दी। यात्रा से जब कार्तिक (अक्टूबर) में लौट कर नाथद्वार आया तब काशी का आया हुआ सूचनापत्र मिला कि 'व्यक्तिविवेक आउट आफ स्टाक है, अतः केवल रसगंगाधर में ही परीक्षा ली जायगी'। फरवरी में परीक्षा थी। केवल ३ मास रह गए। निर्णय-सागरवाली

रसगंगाधर की पुस्तक तो मेरे पास थी नहीं, पर जब मैं काशी आया था तो चौखंभा में मुद्रित रसगंगाधर की जीर्ण-शीर्ण कापियाँ खरीदकर ले गया था। उन्हें देखना आरंभ किया। अशुद्ध और विषयविभागादिरहित उस पुस्तक में सिर मारकर नौकरी में व्यस्त रहते हुए भी परीक्षा की तयारी की, पर थी तयारी अधूरी ही। रसगंगाधर की स्वयं तयारी और वह भी अधूरी, ऐसी स्थिति में उत्तीर्ण होने की आशा मृगतृष्णा ही थी, पर नवयुवकोचित उत्साह के कारण साहस कर ही लिया। परिणाम तो जो होना था सो हुआ ही। मैं अनुत्तीर्ण हो गया।

यद्यपि यह अनुत्तीर्ण होना उस समय अभिशाप समझा गया और मैं अभी तक कभी अनुत्तीर्ण नहीं हुआ था अतः इस अनुत्तीर्णता से उस समय अत्यंत दुःखी भी हुआ, तथापि वही अनुत्तीर्णता इस हिंदी अनुवाद का कारण हुई। यदि मैं अनुत्तीर्ण न हुआ होता तो यह अनुवाद कदापि न लिखा गया होता। मैंने सोचा कि मेरे साथी कहेंगे कि 'चौबेजी काव्यप्रकाश में तो निकल गये, पर रसगंगाधर में स्वयं गाड़ी खींच ले जाना तमाशा नहीं था'। पंडित केशवप्रसाद जी मिश्र (अध्यक्ष, हिंदी विभाग, हिंदू विश्वविद्यालय) ने भी मुझे एक बार लिखा था कि 'रसगंगाधर का अनुवाद हँसी खेल नहीं है'। मैं चाहता था कि इस नैयायिकभाषामय ग्रंथ का प्रचलित भाषा में अनुवाद करूँ और दिखाऊँ कि मैं रसगंगाधर समझता हूँ अथवा नहीं। इसी धुन में मैंने इसका अनुवाद आरंभ कर दिया। यहाँ तक हुआ कि दूसरे वर्ष परीक्षा देने के समय तक मैंने इस अनुवाद के ५०, ६० पृष्ठ (फुल्सकेप), संभवतः रसप्रकरण की समाप्ति पर्यन्त, अथवा कुछ अधिक, तयार कर लिए और उन्हें काशी लेता आया।

महामहोपाध्याय श्री बालकृष्ण मिश्र, जो उस समय हिंदू विश्व-विद्यालय के संस्कृत कालेज के प्रोफेसर मात्र थे, मेरे परिचित थे।

उनके एक शिष्य श्री सदानंद झा नाथद्वार में मेरे सहयोगी थे। वैसे तो मिश्र जी सभी विषयों के बड़े पंडित थे, पर न्याय, वेदांत और साहित्य के तो माने हुए मार्मिक विद्वान् थे। मेरा विचार हुआ कि मैं यह अनुवाद उनको दिखाऊँ। परीक्षा देने के अनंतर पं० श्री साँवलजी नागर के साथ मैं उन पृष्ठों को लेकर हिंदू विश्वविद्यालय गया। वे उन दिनों रुइया होस्टल में रहते थे। सूचना देने पर वे बड़े प्रेम से मिले। जब मैंने उनसे इस अनुवाद की चर्चा की तो उनने सबसे पहले यही कहा कि 'पंडित जी, आप भी किस चक्कर में पड़े हैं। रसगंगाधर पर अभी तक संस्कृत में भी कोई अच्छी व्याख्या नहीं है। फिर हिंदी में उस पर लिखना तो और भी जटिल है।' मैंने इसके उत्तर में कहा कि 'यह मेरा बालोचित प्रयास है। आप सुन लें तो मुझे पता पड़ेगा कि यह उचित है वा अनुचित। यदि आपकी दृष्टि में न जँचे तो इन पृष्ठों को मैं जाकर ताक पर रख दूँगा। अभी तो मैं बहुत आगे बढ़ा भी नहीं हूँ।' इस पर उनने सुनने की स्वीकृति दे दी। मैंने पूछा 'कहाँ से सुनाऊँ।' उनने कहा—'रसप्रकरण ही सुनाइए'। मैंने सुनाना आरंभ किया। लगभग आध घंटे वे सुनते रहे। समाप्ति पर उनने कहा—'सर्वाङ्गीणा संमतिर्मम'। फिर मैंने पद्यों का पद्यानुवाद भी सुनाया। उसे भी सुन कर वे बहुत प्रसन्न हुए। दूसरे वर्ष मैंने प्रस्तावना भी उन्हें सुनाई, प्रथम भाग छपने पर उनको यह सब भेजा गया तो उनने वह संमति, जो द्वितीय संस्करण में सबसे प्रथम छपी है, स्वयं लिख भेजी।

उनका मैं कृतज्ञ हूँ कि उनके उत्साहप्रदान से ही यह कार्य भगवान् की कृपा से आज संपूर्ण हुआ। भगवान् उनकी आत्मा को शांति प्रदान करें। यही प्रार्थना है।

यह तो हुई प्रसंगागत बात। अब प्रकृत कथा सुनिए। प्रथम संस्करण में इस अनुवाद के उत्प्रेक्षांत भाग का मुद्रण हुआ था।

उतना भी दो भागों में निकला था। इसका कारण यह था कि मेयो कालेज जाने से पूर्व मैं इतना ही भाग लिख पाया था। उनमें से भी प्रथमानन और उसकी भूमिका तो सन् १९२८ में ही प्रकाशित हो गए थे। सो उत्प्रेक्षांत भाग तयार हो जाने पर हमने उसे द्वितीय भाग के रूप में प्रकाशित कर दिया, 'क्योंकि गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, काशी' में उत्प्रेक्षांत भाग ही पढ़ाया जाता है। विद्यार्थियों को उस समय उस भाग की अत्यंत आवश्यकता थी।

द्वितीय संस्करण के समय यह विभाग हमें ठीक नहीं जँचा, क्योंकि प्रथमानन बहुत छोटा है और द्वितीयानन अपूर्ण होने पर भी बहुत बड़ा। सो उसमें से प्रथम संस्करण के समय तो उत्प्रेक्षांत भाग ही निकल पाया था। वह भी प्रथम भाग के दुगुने से भी अधिक हो गया था और अब द्वितीय संस्करण में तो रसगंगाधर संपूर्ण निकालना था। इसलिए एक भाग बहुत ही छोटा और दूसरा भाग मात्रा से भी अधिक बड़ा हुआ जा रहा था। अतः प्रथम भाग में अलंकारों से पूर्व वाला समग्र प्रकरण ले लिया गया और केवल अलंकारप्रकरण पृथक् कर दिया गया। वह भी इस समय दो भागों में निकल सका है। विनोक्ति पर्यंत द्वितीय भाग और शेष अलंकारों का यह तृतीय भाग।

अगले संस्करण तक तो मैं शायद ही रह सकूँ, क्योंकि ६० वर्ष पर पहुँच चुका हूँ और शरीरस्थिति भी अच्छी नहीं है, अतः सभा से मेरा यह नम्र निवेदन है कि वे अगले संस्करण में इसके पुनः दो भाग कर दें। प्रथम भाग तो ज्यों का त्यों रहने दें और द्वितीय भाग में समग्र अंश निकाल दें, जिससे खरीदने वालों को भी सुविधा रहेगी। दोनों भाग खरीदने पर समग्र रसगंगाधर उनके हाथों में पहुँच जायगा।

एक बात और है, इस संस्करण के निकलते समय सभा की प्रबंध-

समिति ने यह निश्चय किया था कि रसगंगाधर मूल भी इसके साथ रहे, किंतु मेरी उस समय शारीरिक स्थिति अच्छी नहीं थी, अतः मैंने सोचा कि इतना बड़ा कार्य मुझसे संभाला न जा सकेगा, इस कारण ऐसा करने से मैं असहमत हो गया, पर अब मैं अनुभव करता हूँ कि ऐसा करके मैंने कुछ अच्छा नहीं किया। कारण यह है कि इस ग्रंथ को प्रायः संस्कृत के विद्यार्थी ही खरीदते हैं और उनको परीक्षार्थ मूल संस्कृत की भी आवश्यकता रहती है। इसी का लाभ उठाकर अन्यों ने हमारे अतिप्रयत्नसिद्ध अनुवाद को यत्रतत्र थोड़ा बहुत बदल कर मूल सहित ग्रंथ प्रकाशित भी कर दिया है, पर उत्प्रेक्षांत ही; क्योंकि आगे सीधी सामग्री कहाँ से मिलती। यदि यह ग्रंथ मूल सहित प्रकाशित हो गया होता तो उन लोगों को ऐसा करने का साहस कदाचित् ही होता। दूसरी बात यह है कि मूल का उत्प्रेक्षांत भाग तो इस अनुवाद की सहायता से संशोधित भी कर लिया गया है, पर आगे के भाग में कई स्थल निर्णयसागर के आधुनिक संस्करण में भी कहीं कहीं अशुद्ध रह गये हैं। मैंने अनुवाद करते समय मूल ग्रंथ का भी आवश्यकतानुसार संशोधन पुस्तकों और टीकाओं के आधार पर कर रखा है। यदि मैं अगले संस्करण तक न रहूँ तो मेरी उन पुस्तकों का मूलसंशोधक महानुभाव उपयोग कर सकते हैं। मेरा तो सभा से भी अनुरोध है कि अगले संस्करण में इसे मूल और नागेश के 'गुरुमर्मप्रकाश' सहित प्रकाशित कर दें, जिससे यह झंझट ही मिट जाय। आगे जैसी इच्छा!

वैसे तो संपूर्ण ही रसगंगाधर के अनुवाद में जो कठिनता हमने अनुभव की है, उसे परमात्मा के अतिरिक्त कौन समझ सकता है, क्योंकि हमें तो उन्हीं पुराने संस्करणों की अशुद्ध पुस्तकों से काम पड़ा है। पर आगे का भाग तो और भी कठिन रहा, क्योंकि उधर तो श्री-मथुरानाथ जी भट्ट के अतिरिक्त अन्य किसी ने आज तक भी हाथ नहीं

लगाया है। भवतु, भगवत्कृपा से किसी भी प्रकार यह अनुवाद समाप्त हो गया और हमारे रहते प्रकाशित भी हो गया।

मेरे मेयोकालेज में जाने के बाद तो अनुवाद का कार्य एक प्रकार से बंद ही हो गया था, क्योंकि मूल ग्रंथ को यथावत् लगाकर उसका अनुवाद करने के लिये वहाँ अधिक अवसर न रहता था। छुट्टियाँ भी अन्य कार्यों में समाप्त हो जाती थीं। ऐसी स्थिति में भी थोड़ा बहुत अनुवाद तो कर लिया गया; किंतु समाप्ति की आशा कम ही रही। पर मेयोकालेज छोड़ देने के बाद इसका फिर यथाविधि आरंभ किया गया, किंतु फिर भी जटिल ग्रंथ की कई एक पंक्तियाँ ऐसी आ जाती थीं कि जिन पर न नागेश ने कुछ लिखा है न कोई अन्य साधन था। ऐसी परिस्थिति में कई छोटी-छोटी पंक्तियाँ भी कई कई दिन ले लेती थीं। उदाहरण के लिये निम्नलिखित श्लोक को लीजिए।

संभूत्यर्थं सकलजगतो विष्णुनाभिप्रपन्नं
यन्नालं स त्रिभुवनगुरुर्वेदनाथो विरिञ्चिः।
ध्येयं धन्यालिभिरतितरां स्वप्रकाशस्वरूपं
पद्माख्यं तत् किमपि ललितं वस्तु वस्तुष्टयेस्तु॥

इस पद्य को पूर्णतया न नागेश ने लगाया है न सरला ने। नागेश की टिप्पणी यों है—

"संभूतिरुत्पत्तिः, ऐश्वर्यं च। विष्णुनाभिं प्राप्तम्, विष्णुना अभिप्रपन्नं प्राप्तं च। स तादृशो ब्रह्माऽपि। यस्य कमलस्य नालं नालदण्डः, यस्मादलं समर्थो न च। धन्यै र्भ्रमरैः, धनिकपङ्क्तिभिश्च। पद्माख्यं कमलसंज्ञकं···कमला-

संज्ञकं च। अयं प्रकृतमात्राश्रितः। एवमग्रेपि। आद्यं भगवन्नाभिसम्बन्धि।"

बस। यद्यपि नागेश ने शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ स्पष्ट दिए, तथापि इस श्लोक के पूर्वार्ध में क्रिया क्या है इसका विचार नहीं किया। यदि 'वेद' को क्रिया बनाई जाय तो 'नाथो' का क्या अर्थ हुआ और उसका अन्वय कैसे किया जाय। 'नाथो' का पदच्छेद यदि 'न+अथो' किया जाय तो उसे अन्य पदोंसे कैसे जोड़ा जाय। यह समस्या हमारे सामने खड़ी हुई। इस समस्यामें हमारा कितना ही समय व्यतीत हुआ। अन्त में जब हमने विरिञ्चि शब्द के योगार्थ पर विचार किया तब यह समस्या हल हुई। अब इसका अर्थ अनुवाद में देखा जा सकता है। थोड़ा सा उस अंश में अशुद्ध भी छप गया है। कृपया विद्वान् लोग उसे शुद्धिपत्र से संशोधन करके उस पर विचार करें।

यह तो एक उदाहरणमात्र है, ऐसी अनेक जटिल पंक्तियाँ रसगंगाधर में हैं जिनके सोचने समझने में बड़ा सिर खपाना पड़ा है और कभी कभी तो जब तक समस्या हल नहीं हुई तब तक रुक जाना पड़ा है। कई स्थानों पर सारा का सारा अनुवाद एकबार समाप्त कर लेने पर भी बदलना पड़ा।

इन सब बातों को वही विद्वान् समझ सकते हैं जिनने ऐसे ग्रन्थों में सिर मारा है। जो अनुवाद को चलती कलम की चीज समझते हैं वे इस अनुवाद का महत्त्व नहीं समझ सकते, पर जो विद्वान् इन बातों को समझते हैं वे जानते हैं कि हमने इसमें क्या किया है।

ऐसी स्थिति में चौखम्भा से हमारी हिन्दी को इधर उधर करके अनुवाद प्रकाशित करने वाले पण्डित श्री मदनमोहन झा ने जो इस अनुवाद की प्रशंसा करते हुए भी यह कहा है कि—

"किन्तु संस्कृत के विद्वानों को इस अनुवादमात्र से संतोष नहीं होता, क्योंकि इसके साथ मूल नहीं है, और कहीं कहीं 'अवच्छेदक-तामय भाषा का' बाल की खाल निकालना कहकर अनुवाद करना भी छोड़ दिया गया है।"

यह कथन केवल मत्सरग्रस्तता नहीं तो और क्या है। क्या कृपा करके वे प्रथम संस्करण में भी काव्यलक्षण के अतिरिक्त अन्य कोई स्थल छोड़ दिया गया है यह दिखा सकते हैं, जिसे भी द्वितीय संस्करण में पूर्ण कर दिया गया है। वे मिलाकर देखें कि उनने उस भाग का अनुवाद कैसा किया है और हमारा अनुवाद कैसा है।

संस्कृत के विद्वानों को संतोष नहीं होने की जो बात उनने उठाई है उसे देखकर भी आश्चर्य होता है, जब कि काशी के मान्य विद्वान् इस अनुवाद का उपयोग कर रहे हैं और झा जी स्वयं इसका उपयोग कर चुके हैं, तब ऐसा कहना कहाँ तक उचित है। गवर्नमेण्ट संस्कृत महाविद्यालय काशी के साहित्यप्रधानाध्यापक श्री मुकुन्दशास्त्री खिस्तेजी स्वयं उस दिन कह रहे थे कि 'आपका अनुवाद बाजार में मिल नहीं रहा था, अतः उक्त अनुवादक ने वह पुस्तक मुझसे मंगवाई।' फिर भी इस अनुवाद से 'संस्कृत के विद्वानों को संतोष नहीं है' यह कहना कहाँ तक सच है, इसे वे स्वयं ही अपने हृदय पर हाथ रख कर सोचें। हमें तो ये अक्षर लिखने में भी संकोच हो रहा है, पर जब उनने व्यर्थ व्यङ्ग्योक्ति की तो विवश होकर लिखना ही पड़ा। भवतु।

संस्कृत के मार्मिक विद्वानों ने तो इस विषय में जो कुछ लिखा है वह संमतियों के रूप में द्वितीय संस्करण में उद्धृत कर दिया है। झा जी के माने हुए साहित्यशास्त्र के मार्मिक विद्वान् श्रीमथुरानाथजी शास्त्री ने निर्णयसागर से प्रकाशित अपना संपादित रसगंगाधर मुझे देते हुए पुस्तक पर लिखा है—

"साहित्यमार्मिकश्रीपुरुषोत्तमशर्मपण्डितप्रवरे ।
सप्रेम सबहुमानं सानन्दं चोपदीकुरुते ॥"

इसके अतिरिक्त उनने अपनी भूमिका में भी लिखा है—

"साहित्याचार्येण श्रीमता पुरुषोत्तमशर्ममहाभागेन रसगंगाधरे कियान् परिश्रमः कृत इति त एव तत्त्वतो जानीयुर्यैस्तदनूदितो हिन्दी-रसगंगाधरस्याद्यावधि मुद्रितो भागो मनोयोगेन पौरोभाग्येनापि वा दृष्टः स्यात् । मूलशोधनं कृत्वा एवंविधभाषायां लिखितस्य पुस्तकस्य हिन्दी-भाषायामर्थविशदीकरणं न यस्य कस्यचित्कार्यम् ।"

उसी भूमिका में आगे भी लिखा है—

"परममार्मिकस्य साहित्याचार्यपं० श्रीपुरुषोत्तमशर्ममहाभागस्या-प्युपकारभारमहमनल्पं धारयामि, यतो हिन्दीरसगंगाधरावलोकनमपि मे शोधने सहायकमासीत् ।"

इतने पर भी जिन्हें 'संस्कृत के विद्वानों के संतोष न होने की बात सूझती है उनसे क्या कहा जाय' यदि कवि श्रीहर्ष के शब्दों में कहें तो यों कह सकते हैं कि—

"मदुक्तिश्चेदन्तर्मदयति सुधीभूय सुधियः
किमस्या नाम स्यादरसपुरुषानादरभरैः ॥"

पर ऐसा कहना मेरी प्रकृति के अनुकूल नहीं है । भवतु । यह कथा यहीं समाप्त की जाती है ।

इस भाग में अलंकारों के विषय में अतिविस्तृत भूमिका देने का विचार था और वह प्रायः तयार भी हो गई, किंतु यह भाग बहुमूल्य हो जाता और उस विवेचना का दर्शन भी उन्हीं लोगों को होता जो

इतना बड़ा ग्रंथ खरीदते, अतः यहाँ उसका उचित संक्षेप ही दिया जा रहा है। पाठक इसीसे संतोष करें। वह ग्रंथ 'भारतीय साहित्य-समीक्षा' अथवा ऐसे ही अन्य किसी नाम से पृथक् प्रकाशित किया जाय ऐसा विचार है। आगे जैसी भगवदिच्छा।

अंत में मार्मिक विद्वानों से निवेदन है कि—इस अनुवाद का अधिकांश मेरी रुग्णावस्था में लिखा गया है। उसकी मुद्रणालयोचित प्रतिलिपि भी अन्यों और प्रायः अनभिज्ञों द्वारा ही की गई है। प्रूफ-संशोधन यद्यपि मैंने ही किया है, पर वह भी रुग्णावस्था में ही, अतः यदि शुद्धिपत्र दे देने पर भी कहीं अशुद्धियाँ अथवा भ्रम रह गया हो तो कृपा कर संशोधित कर लें और संभव हो तो मुझे भी सूचित करें, जैसा कि श्रीमथुरानाथजी भट्ट ने 'रोषोदयो व्यंग्यः' के स्थान में अशुद्ध मुद्रित 'रोषादयो व्यंग्याः' के अनुवाद के विषय में लिखा है, जिसे द्वितीय संस्करण में शुद्ध कर दिया गया है।

इस कार्य में अनेक लेखकों ने द्रव्य लेकर तथा कई मेरे शिष्यादि ने बिना द्रव्य भी प्रतिलिपि और श्रुतलेख में सहायता की है उन सबका मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ। उनमें से श्री पं० दामोदर झा साहित्याचार्य, पं० श्री रामावतार पांडेय आयुर्वेदाचार्य और पं० श्री हीरामणि जी व्याकरणाचार्य विशेष स्मरणीय हैं।

ग्रंथ की समाप्ति के समय मेरे प्रिय शिष्य काशीनरेश श्रीविभूति-नारायणसिंह जी को तो कैसे भुलाया जा सकता है, जिनके शुभाश्रय और प्रेमवश ही यह कार्य आज समाप्त हो रहा है। भगवान् श्री कृष्ण उन्हें सर्वदा सुखी रखें।

रामनगर (वाराणसी)
अक्षय तृतीया २०१५ विक्रम संवत्सर } पुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी

विषय-विवेचन

उपक्रम

प्रथम भाग में काव्य-सम्बन्धी विविध विषयों पर विचार किया जा चुका है। द्वितीय और तृतीय भाग में अब केवल अलंकार रक्खे गए हैं। साहित्यशास्त्र में अलंकारों का महत्त्व सदा ही अनुपेक्षणीय रहा है। ध्वनि-विवेचन के पूर्व तो यह शास्त्र, अलंकारशास्त्र के ही नाम से अभिहित होता था। सभी ग्रंथकार अपने ग्रंथों के नाम 'काव्यालंकार' अथवा केवल 'अलंकार' शब्द देकर ही रखते थे, जैसे भामह का काव्यालङ्कार, वामन का काव्यालङ्कारसूत्र, रुय्यक का अलंकारसर्वस्व, वाग्भट का काव्यालङ्कार इत्यादि। यद्यपि अब यह बात नहीं रही, तथापि बिना अलंकारों का ज्ञान प्राप्त किए, कोई साहित्यशास्त्र का पण्डित नहीं हो सकता, इसमें तो सन्देह नहीं। इसीलिए पण्डितराज ने अपने ग्रंथ में अलंकारों का बड़े विस्तार से पाण्डित्य-पूर्ण विवेचन किया है। उस विवेचन में प्रवेशार्थ आवश्यक विवेचन यहाँ दिया जाता है।

अलंकार का सामान्य लक्षण

'अलंक्रियतेनेनेत्यलङ्कारः'[1] इस व्युत्पत्ति के अनुसार शब्द और अर्थ के—फिर वह अर्थ चाहे वाच्य हो, लक्ष्य हो, अथवा व्यङ्ग्य हो—सुशोभित करनेवाले (अर्थात् उत्कृष्ट बनानेवाले) धर्मों को अलंकार कहा जाता

१—"करणव्युत्पत्त्या पुनरलंकारशब्दोऽयमुपमादिषु वर्त्तते" (वामन; वृत्ति)

है। हमने प्रथम भाग की भूमिका में गुणों और अलंकारों का भेद समझाते हुए दण्डी और वामन के मत के अनुसार यह बताया है कि "काव्य में काव्यत्व लानेवाले धर्मों का नाम गुण है और इस काव्यत्व को उत्कृष्ट करनेवाले धर्मों का नाम अलंकार है। 'काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः' "तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः" (वामन) (देखिए प्रथमभाग की भूमिका का विषयविवेचन भाग)।

वामन और दण्डी के बाद अन्य विद्वानों ने अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार अन्यान्यलक्षण भी बनाए हैं। जयदेव ने चन्द्रालोक में लिखा है—

"शब्दार्थयोः प्रसिद्ध्या वा कवेः प्रौढिवशेन वा।
हारादिवदलंकारः सन्निवेशो मनोहरः॥

अर्थात् प्रसिद्धि के अथवा कवि की प्रौढि (अतिशयोक्ति) के अधीन होकर जो शब्द अर्थ का, हार आदि की तरह, मनोहर विन्यास होता है उसे अलंकार कहते हैं।

साहित्यसार में लिखा है—

"रसादिभिन्नत्वे शब्दविशेषश्रवणोत्तरम्।
चमत्कारकरत्वं यदलङ्कारत्वमत्र तत्॥

अर्थात् रसादि से भिन्न होने पर विशेष प्रकार के शब्द सुनने के अनन्तर होनेवाली चमत्कारों की उत्पादकता को अलंकारत्व कहते हैं। तात्पर्य यह कि शब्द सुनने के अनन्तर जो कुछ भी चमत्कारजनक वस्तु प्रतीत होती है, उसे अलंकार कहा जाता है, पर रस आदि को नहीं।"

कुवलयानन्द की टीका में भी नव्यन्याय की शैली से इसी बात को लिखा है—

"अलंकारत्वं च रसादिव्यङ्ग्यभिन्नत्वे सति शब्दार्थान्यतरनिष्ठा या विषयतासम्बन्धावच्छिन्ना चमत्कृतिजनकतावच्छेदकता तदवच्छेदकत्वम्।"

इस लक्षण में साहित्यसार की शैली के अनुसार रसादि से भिन्न तो कहा ही, पर व्यङ्ग्यों से भिन्न होना और समाविष्ट किया गया है, अर्थात् कुवलयानन्द के टीकाकार (अलंकारचन्द्रिकाकार) के हिसाब से कोई भी व्यङ्ग्य कभी अलंकार नहीं हो सकता। पर इस बात का रसगंगाधर में बार बार खंडन किया गया है और कहा गया है कि व्यङ्ग्यों के अलंकार होने में कोई बाधा नहीं, अतः इस अंश को छोड़ने पर साहित्यसार के लक्षण में और इस लक्षण में किञ्चित् भी भेद नहीं रह जाता।

काव्यप्रकाशकार और उनके अनुयायी साहित्यदर्पणकार ने अलंकारों के कुछ अन्य प्रकार के लक्षण बनाए हैं। काव्यप्रकाशकार ने लिखा है—

"उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥

शब्द और अर्थ के द्वारा अर्थात् शब्द और अर्थ में विशेषता उत्पन्न करके जो धर्म यदि रस हो तो उसका भी उपकार करते हैं— अर्थात् उसका भी चमत्कार बढ़ाने में काम देते हैं, वे अलंकार हैं, जैसे कि हारादिक कण्ठ आदि के उत्कर्ष के द्वारा देहधारी का उत्कर्ष करते हैं। सारांश यह कि यदि रस हो तो उसका उत्कर्ष करें, अन्यथा केवल उक्ति की विचित्रता में समाप्त हो जांय ऐसे शब्द और अर्थ के द्वारा रस के उपकारक धर्मों को अलंकार कहते हैं।"

साहित्यदर्पणकार ने इसी का अनुवाद-सा लिखा है। वे कहते हैं कि—

"शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥

शब्द और अर्थ की शोभा बढ़ानेवाले उन अस्थिर धर्मों को, जो रसादिकों का उपकार करते हैं, अंगद आदि की तरह अलंकार कहा जाता है।"

इन दोनों लक्षणों के साररूप में काव्यप्रदीपकार आदि ने—(१) रस के उपकारक होने पर भी रस में न रहने वाले होना, (२) रस के उपकारक होने पर भी रस को छोड़ देने वाले होना (३) अनियत रूप से रसों का उपकारक होना, इस प्रकार तीन लक्षण बनाए हैं।

इस तरह यह बात सिद्ध हुई कि दंडी और वामन का, काव्य प्रकाशकार और साहित्यदर्पण का, कुलयानंद की टीका और साहित्य-सार का इस तरह दो दो लक्षण प्रायः समान हैं और चंद्रालोक का लक्षण सबसे विलक्षण है। इस सबका संक्षेप यह हुआ कि:—

दंडी और वामन 'काव्य का उत्कर्ष बढ़ानेवाले धर्मों' को अलं-कार कहते हैं। काव्यप्रकाशकार और साहित्यदर्पणकार 'रस में न रहनेवाले रस के उपकारक धर्मों' को अलंकार मानते हैं।

कुवलयानंद का टीकाकार और साहित्यसारकार शब्द सुनने के अनंतर जो रसादिव्यंग्यों के अतिरिक्त अन्य चमत्कारजनक वस्तु प्रतीत होती है उसे अलंकार कहते हैं।

पर इन सबसे सरल, संक्षिप्त और सुबोध लक्षण है पंडितराज का। वे कहते हैं "सुन्दरत्वे सत्युपस्कारकत्वमलंकारत्वम् (परिकरालङ्कार के प्रसंग में) अर्थात् चमत्कारजनक होने पर परिष्कृत करनेवाले को अलं-कार कहते हैं" सारांश यह कि जो शब्द, यद्वा वाच्य अथवा व्यंग्य अर्थ सुंदर हो और दूसरे की सुंदरता बढ़ावे वह अलंकार है। यहाँ अर्थ के विषय में यह समझ लेना चाहिए कि जो चमत्कारजनक अर्थ अपने

आप में समाप्त हो जाता है वह अलंकार नहीं है, और जो दूसरे का उपस्कारक अथवा परिष्कारक होता है वह अलंकार है। गुणों में इस लक्षण की अतिव्याप्ति इसलिए नहीं होती कि वे रस के अंग और अतएव उपकारक हैं उपस्कारक नहीं। इस बात को स्पष्ट करने के लिए 'शब्दार्थधर्मत्वेन' शब्द और जोड़ देना चाहिए। अतः 'शब्दार्थ-धर्मत्वेन सुन्दरत्वे सत्युपस्कारकत्वम्' अलंकार का निष्कृष्ट लक्षण हुआ। हिंदी में इसका अर्थ यह हुआ कि जो वस्तु शब्द अथवा अर्थ में रहे, सुंदर हो और अन्य की सुंदरता बढ़ावे वह अलंकार है।

अलंकार के भेद

अलंकार दो प्रकार के हैं—(१) शब्दालंकार और (२) अर्थालंकार। अग्निपुराण और भोजराज ने कुछ उभयालंकार भी माने हैं, पर बाद में वे लुप्त हो गए। शब्दालंकारों का तो काव्य में केवल शाब्दिक शोभा बढ़ाने के अतिरिक्त अन्य कोई उपयोग नहीं। यमक और शब्दालंकार तो यदि प्रयासपूर्वक लाये जाँय तो रसाभिव्यक्ति में बाधक भी हो जाते हैं। ध्वनिकार तो इन यमकादि से इतने चिढ़ गये हैं कि शृंगाररस में तो उनने उनका सर्वथा बहिष्कार करने की ही आज्ञा दे डाली है। उनने लिखा है—

ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादिनिबन्धनम्।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः॥

अर्थात् ध्वनि के आत्मारूप शृंगार में यमक आदि की रचना करना, यदि कवि में रचना करने की शक्ति हो—वे स्वभावतः आ जाते हों, तो भी कहना चाहिए कि, कवि की असावधानता है जो उसने इन्हें आ जाने दिया, और यदि विप्रलंभशृंगार के काव्य में वे आ गए तब तो विशेष रूप से असावधानी समझी जायगी।

ऐसी दशा में यमकादिक शब्दालंकारों को विशेष-रूपेण साधारण

लोगों की प्रसन्नता का साधन ही कहा जा सकता है, मार्मिकों की प्रसन्नता का नहीं। हाँ अनायास आए हुये अनुप्रासादिक शब्दालंकार काव्य के अनुकूल होने से शाब्दिक चमत्कार को अवश्य बढ़ा देते हैं। इसमें कुछ भी संदेह नहीं। संभवतः इसीलिये रसगंगाधरकार ने शब्दालंकारों से पूर्व अर्थालंकारों को स्थान दिया है और दुर्भाग्यवश ग्रंथ के अपूर्ण रह जाने से शब्दालंकारों का रसगंगाधर में समावेश ही नहीं हो पाया। पर अर्थालंकार केवल काव्य की शोभा ही नहीं बढ़ाते, वे विषय को स्पष्ट करने में भी उपयोगी होते हैं। 'मोती-से दाँत' कहने पर जो दाँतों की कांतिमत्ता, उज्ज्वलता आदि स्पष्टतया प्रतीत होती है वह अन्य पाँच सात शब्दों के प्रयोग से भी नहीं हो सकती। यह बात किसी सहृदय से छिपी हुई नहीं है और काव्य की सुंदरता तो अलंकारों से बढ़ती ही है। अतएव अग्निपुराण में लिखा है:—

"अलङ्करणमर्थानामर्थालङ्कार इष्यते।
तं विना शब्दसौन्दर्यमपि नास्ति मनोहरम्।
अर्थालङ्काररहिता विधवेव सरस्वती॥

अर्थात् अर्थों के सुशोभित करने को अर्थालंकार कहते हैं। इसके बिना शब्दों की सुंदरता भी मनोहर नहीं होती। तात्पर्य यह कि अर्थालंकाररहित शब्दालंकार मार्मिकपुरुष का चित्त अपनी तरफ नहीं खींच सकते। अर्थालंकार से रहित वाणी विधवा सी प्रतीत होती है, जैसे स्त्री के सौभाग्यसूचन और सौंदर्य दोनों के लिए बिंदी, चूड़ी आदि शृंगार अपेक्षित हैं, उसी तरह वाणी को अर्थालंकारों की आवश्यक अपेक्षा है।"

पर साथ ही यह भी ध्यान रखिए कि मात्रा से अधिक आभूषणों के कारण जैसे मारवाड़िनों की स्वाभाविक सुंदरता दब सी जाती है वैसे अलंकारों की भरमार के द्वारा वाणी की स्वाभाविक सुन्दरता को दबा

२

देना भी अनुचित है। तात्पर्य यह कि अर्थालंकार वाणी के लिए आवश्यक और अपेक्षित वस्तु हैं, पर उनका उपयोग एक मात्रा में होना चाहिए। मात्रा से अधिक होने पर सभी वस्तुएं भार सी हो जाती हैं।

अलंकारों के विकास का इतिहास

अलंकार प्रारंभ में बहुत ही कम थे। नाट्य-शास्त्र में तो केवल चार अलंकारों का ही वर्णन है। नाट्यशास्त्र के समय में, प्रतीत होता है कि, इनसे अधिक अलंकार प्रसिद्धि में नहीं थे, अन्यथा नाट्य के समस्त अंगों का सविस्तर वर्णन करनेवाले भरतमुनि अलंकारों पर विस्तृत लेख लिखे बिना न रहते।

वे ही अलंकार बढ़ते-बढ़ते आज सौ से भी ऊपर की संख्या पर पहुँचे हैं। आचार्य दंडी तो छठी शताब्दी में ही अलंकारों की बढ़ती हुई बाढ़ को देखकर विकल हो उठे थे। उनने लिखा है—

"काव्यशोभाकरान्धर्मानलङ्कारान्प्रचक्षते।
ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान्कार्त्स्न्येन वक्ष्यति॥

अर्थात् काव्य में शोभा करनेवाले धर्मों को अलंकार कहते हैं। आज भी उनमें विकल्प हो रहे हैं। कोई कितने बताता है तो कोई कितने। कौन उन्हें पूर्णतया कहेगा।"

पर इससे आप यह न समझिए कि जो कोई आचार्य पुस्तक लिखने बैठा, उसने दो-चार अलंकार बढ़ा दिए और इस तरह यह संख्या सौ से ऊपर जा पहुँची। कई लोगों ने पुराने अलंकारों में काँट-छाँट भी की है। कई ने तो कम से कम करने का भरसक प्रयास किया है। पर उनलोगों का प्रयास नक्कारखाने में तूती की आवाज ही रही। अलंकारों की बाढ़ को काव्य-प्रेमी जनता स्वीकार ही करती गई। नीचे दी गई सूची से आप को विदित होगा कि किस आचार्य ने इन्हें कितना माना है—

संख्या	समय	आचार्य	ग्रंथ	शब्दालंकार	अर्था०	उभया०	योग
१—	त्रेतायुग (ग्रंथलेखानुसार)[1]	भरत	नाट्यशास्त्र	१ —	३ —	० =	४
२—	द्वापर का अंत (पुराणों के अनुसार)[2]	वेदव्यास	अग्निपुराण	६ —	८ —	६ =	२३

१—As there is no other extant work on the theory of poetics and allied topics as old as 300 A. D. The नाट्यशास्त्र must be regarded in the present state of our knowledge as the oldest work on the अलंकारशास्त्र (History of Sanskrit Poetics by P. V. kane poge 46)

२—अग्निपुराण के विषय में यद्यपि महामहोपाध्याय काणे महोदय का यह कथन है कि—

The अग्निपुराण is later than भरत, भामह, दंडी, The ध्वन्यालोक and probably भोज and has no claim to be regarded as the original work on the अलंकारशास्त्र, moreover, medieval writers guided by their reverence for puranas in general because they were ascriled to the mythical Vyasa (व्यास) naturally looked upon the अग्निपुराण as the most ancient work on the अलंकारशास्त्र (काणे page 10)

अर्थात् अग्निपुराण; भरत, भामह, दंडी, ध्वन्यालोक और संभवतः भोज से भी बाद का है और अलंकारशास्त्र पर मौलिक कृति के रूप में संमानित करने का हक नहीं रखता, इसके अतिरिक्त कि

संख्या	समय	आचार्य	ग्रंथ	शब्दालंकार	अर्था०	उभया०	योग
३	द्वापर का अंत (संदिग्ध)[3]	वेदव्यास	विष्णुधर्मोत्तर	०	१७	०	१७

मध्यकाल के लेखक साधारणतया पुराणों के प्रति आदर के अभ्यस्त थे, क्योंकि वे पुराणोक्त व्यास द्वारा वर्णित हैं, अतः स्वभावतः अग्निपुराण के प्रति अत्यंत प्राचीनता की दृष्टि से देखते थे।"

तथापि अग्निपुराणोक्त अलंकार प्रकरण का गंभीर अध्ययन करने से यह प्रतीत होता है कि भामहादिक इसके बाद के ही हैं। कम से कम हम इस मत के हैं। काणे ने अपने मत का समर्थन केवल इसी आधार पर किया है कि अग्निपुराण में जो कुछ है वह अन्य पुस्तकों से संगृहीत है। अतः जहाँ अग्निपुराण वाली बात मिल जाय उन सबसे अग्निपुराण नवीन है यह समझना चाहिए। पर यह आधार अत्यंत दुर्बल है। जिस अमरकोश को वे अग्निपुराण के संग्राह्यों में सबसे पुराना मानते हैं वही स्वयं कहता है—'समाहृत्यान्यतन्त्राणि (१-१-२)। अर्थात् दूसरे तन्त्रों (शास्त्रों) से संगृहीत करके यह ग्रंथ लिखा गया है'। ऐसी स्थिति में अग्निपुराण को नवीन मानना जँचता नहीं। पर अब तक कोई प्रबल प्रमाण प्राप्त न हों तब तक नवीनतावादियों को समझाना कठिन ही है। भवतु। जिसे जो जँचे सो माने। हम इस विवाद में पड़ना नहीं चाहते। हमको तो ग्रंथ पढ़ने से उसमें प्राचीनता ही प्रतीत हुई। पाठक अन्यत्र किये गये हमारे अलंकारों के विवेचनों से इस बात का अनुभव कर सकेंगे।

३—अग्निपुराण की सी ही गति इसकी भी है। परन्तु यह तो स्पष्ट कहा जा सकता है कि इसमें भी जो अलंकार आये हैं वे नवीन नहीं हैं।

संख्या	समय	आचार्य	ग्रंथ	शब्दालंकार	अर्थां०	उभया०	योग
४	पाँचवीं शताब्दी[४]	भामह	काव्यालंकार	२	३६	०	३६
५	छठी शताब्दी[५]	दंडी	काव्यादर्श	२	३५	०	३७
६	आठवीं शताब्दी का अंत या नवीं शताब्दी का प्रारंभ[६]	उद्भट	काव्यालंकार-संग्रह	४	३७	०	४१
७	नवम शताब्दी (८२५-८७५)[७]	रुद्रट	काव्यालंकार	५	५७	०	६२

४—"दिङ्मागादर्वाचीनत्वेन बाणभट्टाच्च प्राचीनतया श्रीमान् भामहाचार्यश्चतुर्थपञ्चमशतकयोर्मध्यभागे एव प्रादुर्बभूवेति साधु वक्तुं शक्यते।" श्री बटुकनाथ एम० ए० तथा श्री बलदेव उपाध्याय एम० ए०। भामह के काव्यालंकार की भूमिका।

५—The 6th century had been accepted by many scholars as the date of Dandin. Vide Maxmuller, weber, Prof. Macdonell and Col. Jacob (काणे Page 124)

६—"जयापीडनृपतिराज्यकालस्तु ७७९ वर्षमारभ्य ८१३ वर्षपर्यन्तमासीदिति ज्ञायते। अतस्तत्सभापतेरुद्भटभट्टस्यापि जीवितसमयः स एव" (उद्भटके काव्यालंकारसंग्रह की प्रस्तावना)

७—He is quite unaware of the ध्वनि theory and has great affinity with भामह and उद्भट He was probably contemporary of or a little older

संख्या	समय	आचार्य	ग्रंथ	शब्दालंकार	अर्था०	उभया०	योग
८	नवम शताब्दी का अंत[8]	वामन	अलंकारसूत्रवृत्ति	२	३०	०	=३२
९	ग्यारहवीं शताब्दी[9]	भोजराज	सरस्वती कण्ठाभरण	२४	२४	२४	=७२
१०	ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध[10]	मम्मट	काव्य प्रकाश	६	६१	०	=६७
११	बारहवीं शताब्दी का पूर्व भाग[11]	रुय्यक	अलंकार सर्वस्व	७	७५	०	=८२

than the author of the ध्वनिकारिका and flourished between 825 and 875 A. D. (काणे Page 146)

८—वामन therefore वामन flourished before 900 A. D. (History of Sanskrit poetics by P. V. Kane Page 138.

९—भोजदेव (१०१०–१०५५ A. D.) काव्यमालासंस्करण, भूमिका।

The सरस्वतीकण्ठाभरण and शृंगारप्रकाश must have been composed between 1005—1054 (काणे)

१०—The date of the काव्यप्रकाश lies between 1050 and 1100 A. D. (काणे Page 263)

११—The date of रुय्यक can be easily determined. He quotes from the विक्रमांकदेवचरित (Composed about 1085 according to Buhler) and

criticizes the व्यक्तिविवेक and the काव्यप्रकाश therefore the सर्वस्व is later than 1100 A. D. (काणे Page 273)

अस्य प्रणेता उद्भटविवेकाख्यग्रन्थकर्तृराजानकतिलकसूनू रुचकापरनामा रुय्यकाचार्यः खिस्ताब्दस्य द्वादशशतकपूर्वभाग आसीत् (पं० गिरिजाप्रसाद द्विवेदी अलंकारसर्वस्व की भूमिका द्वि० सं०)

यद्यपि गिरिजाप्रसाद जी ने अलंकार सर्वस्वकार को काव्यप्रकाशकार से पूर्ववर्ती सिद्ध करने का प्रयास किया है। जैसा कि वे कहते हैं—

अनेन च संकरालङ्कारं विचारयता—

राजति तटीयमभिहतदानव-रासातिपातिसाराव-नदा।

गजता च यूथमविरतदानवरा साति पाति सारा वनदा ॥ (हरविजय ५ सर्गः)

इति रत्नाकरश्लोकस्थितः प्राचां शब्दालंकारसंकरो दूषितः। स च मम्मटेन दशमोल्लासे समर्थितः। अपि च रुय्यकेण यद्व्यतिरेकालङ्कारे उपमानादुपमेयस्याधिक्यमित्यपरो लक्षणप्रकारो लक्षितः, सोऽपि 'क्षीणः क्षीणोऽपि शशी' इति तदीयोदाहरणमुपदर्श्य निराकृतः। अन्यच्च 'स्फुटमेकत्र विषये शब्दार्थालंकृतिद्वयम्' इत्यादिकारिकाव्याख्यानेऽलंकारानुद्दिश्य 'कुतः पुनरेष नियमो यदेतेषां तुल्येऽपि काव्यशोभातिशयहेतुत्वे कश्चिदलङ्कार'—इत्यादिना रुय्यक एव प्रत्युक्तः। एतेन नमोल्लासे श्लेषभेदावख्यानावसरे—'ननु वरितादिगुणभेदात्' इत्यारभ्य 'कथमयं शब्दालंङ्कारः' इत्यन्तः पूर्वपक्षग्रन्थोऽपि रुय्यकमतनिरासपरः संगच्छते।"

तथापि यह प्रयत्न व्यर्थ ही है। क्योंकि एक तो जिन बातों को पं० गिरिजाप्रसाद जी ने रुय्यक की समझकर काव्यप्रकाश द्वारा खण्डित मानी हैं, वे वास्तव में रुय्यक की ही हैं—इसमें कोई प्रमाण नहीं।

संख्या	समय	आचार्य	ग्रंथ	शब्दालंकार	अर्था०	उभया०	योग
१२—बारहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध[१२]		वाग्भट	वाग्भटालंकार	४ —	३५ —	० =	३९
१३—बारहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध[१३]		हेमचन्द्र	काव्यानुशासन	६ —	२९ —	० =	३५

कारण, 'राजति तटी०' वाला शब्दालंकारसंकर प्राचीनों का उदाहृत नहीं है, किन्तु मम्मट का ही है और ऐसी स्थिति में मम्मट के उदाहरण से रुय्यक ने मतभेद प्रकट किया है—यह सहज ही कहा जा सकता है, दूसरे 'क्षीणः क्षीणोऽपि शशी' यह उदाहरण भी रुद्रट का है (अ० ७ श्लोक ९०) मम्मट उसी की आलोचना कर रहे हैं, रुय्यक की नहीं। इसी तरह तीसरा प्रमाण भी शिथिल है, क्योंकि 'व्यवस्थितं च' इस मम्मट के शब्द को लेकर 'व्यवस्थितमत्रानुभाषितम्' यह रुय्यक ने लिखा है। चौथे प्रमाण में भी कोई बल नहीं है। क्योंकि यह रुय्यक का ही मत है यह किसी तरह सिद्ध नहीं किया जा सकता। और सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि रुय्यक काव्यप्रकाश की कारिका (४।३८ उद्धृत) कर रहे हैं।

अतः अलंकारसर्वस्व के विषय में महामहोपाध्याय काणे का जो यह कथन है—Therefore the अलं० स० was composed sometimes between 1135-1150 यही सही विदित होता है।

१२—Therefore वाग्भट flourished in the first half of the 12 century and his काव्यालंकार was written between 1125—1143 A. D. (काणे Page 276)

१३—The काव्यानुशासन was composed between 1136—1143 A. D. (काणे Page 279)

संख्या	समय	आचार्य	ग्रंथ	शब्दालंकार	अर्था०	उभया०	योग
१४	तेरहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध[१४]	पीयूषवर्ष जयदेव	चन्द्रालोक	८	९१	०	९९
१५	चौदहवीं शताब्दी (सम्भवतः)[१५]	वाग्भट (२)	काव्यानुशासन	६	६३	०	६९
१६	चौदहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध[१६]	विश्वनाथ	साहित्यदर्पण	९	७९	०	८८
१७	सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध[१७]	केशवमिश्र	अलंकारशेखर	७	१४	०	२१

१४—The चन्द्रालोक is to be placed .between 1200 and 1250 A. D.
(काणे Page 281)

१५—He mentions the काव्यप्रकाश and वाग्भट Therefore he is later than 1150 A. D. He probably flourished in the 14 th Century
(काणे Page 285)

१६—The date above assigned to Viswanath, Viz. between 1300–13E0 A. D. is thus confirmed by unimpleachable and independent testimony.

१७—माणिक्यचन्द्रस्य राज्यारोहणकालस्तु १५६३ मितः खीस्टाब्दः। अतस्तदाश्रितस्य केशवमिश्रस्यापि समयस्तत्कृतग्रन्थनिर्माणकालश्च षोडशशताब्द्या उत्तरार्धस्तृतीयभागो वा निःसंशयं निश्चेतुं शक्यते।
(अलंकारशेखर की प्रस्तावना, चौखम्भा संस्कृत सीरीज)।

संख्या	समय	आचार्य	ग्रंथ	शब्दालंकार अर्था० उभया० योग
१८—सत्रहवीं शताब्दी का प्रथम चरण[18]		अप्पय दीक्षित	कुवलयानन्द	
१९—अठारहवीं शताब्दी[19]		विश्वेश्वर	अलंकार-कौस्तुभ	० —१२१ — ० = १२१ (काव्यप्रकाशानुसार अर्थालंकारमात्र)

उपर्युक्त तालिका से आप समझ सकते हैं कि अलंकारों के विषय में अब तक भारी मतभेद रहा है। जिसने जब चाहा तब जितने उचित समझे उतने मान लिये, जिसका चाहा उसका बहिष्कार कर दिया और जिसका चाहा उसका नवीन निर्माण भी किया। कितनों ने तो यह भी नहीं लिखा कि क्यों हमने नये अलंकार मान लिये और क्यों हम पुराने नहीं मानते, तथापि इनके इस विचित्र इतिहास पर एक साधारण दृष्टि अवश्य डाल लीजिये, जिससे साधारणतया यह ज्ञात हो सके कि इन अलंकारों का विकास किस तरह हुआ।

१८—हिन्दीरसगंगाधर के प्रथम भाग की भूमिका में देखें।

I would stick to the generally accepted dates of 1554 –1624 A. D. (काणे Page 308)

१—भरत

ऊपर लिखा जा चुका है कि सबसे पूर्व लोगों को केवल चार अलंकार विदित हुए। वे हैं—(१) यमक (२) उपमा (३) रूपक और (४) दीपक। भरत के समय में यही चार[1] अलंकार थे। बाद में अनुप्रास भी सम्मिलित हुआ। इस तरह अत्यंत प्राचीन काल में दो शब्दालंकार और तीन अर्थालंकार प्रचलित हुए। उससे पहले क्या होगा सो भगवान् जानें। भामह ने यही पाँच[2] अलंकार प्राचीनों के लिखे हैं।

२—अग्नि-पुराण

अग्निपुराण ने नौ शब्दालंकार[3] आठ अर्थालंकार[4] और छः उभयालंकार इस तरह गिनाए तो सब २३ अलंकार हैं, पर अवांतर भेदों में वहाँ अन्य अलंकार भी आ गए हैं। जैसे अर्थालंकार 'सादृश्य' के अवांतर भेदों में उपमा, रूपक, सहोक्ति और अर्थांतरन्यास

१—उपमा रूपकं चैव दीपकं यमकं तथा।
अलंकारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रयाः॥
(नाट्यशास्त्र अ० १७)

२—अनुप्रासः सयमको रूपकं दीपकोपमे।
इति वाचामलङ्काराः पञ्चैवान्यैरुदाहृताः॥
(भामह २-४)

३—छाया मुद्रा तथोक्तिश्च युक्तिर्गुम्फनया सह।
वाकोवाक्यमनुप्रासश्चित्रं दुष्करमेव च॥
(अग्निपुराण ३४२-१९-२०)

४—स्वरूपमथ सादृश्यमुत्प्रेक्षातिशयावपि।
विभावना विरोधश्च हेतुश्च सममष्टधा॥
(अग्निपुराण ३४४-२-३)

एवं उभयालंकार अभिव्यक्ति के एक भेद आक्षेप के आक्षेप, स्तुति (अप्रस्तुतप्रशंसा), समासोक्ति, अपह्नुति और पर्यायोक्ति इन अवांतर भेदों को, जो बाद में पृथक् अलंकार हो गये, मिलाया जाय तो अग्नि-पुराण में कुल ३२ अलंकार होते हैं। इसी तरह शब्दालंकारों के अवांतर भेदों में भी अन्य अलंकार आ गए हैं।

अग्निपुराण में सब मिलाकर इतने अलंकारों के नाम आए हैं— छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, गुम्फना, वाकोवाक्य, अनुप्रास, चित्र और दुष्कर ये नौ शब्दालंकार; स्वरूप (स्वभावोक्ति), सादृश्य, उपमा, रूपक, सहोक्ति, अर्थांतरन्यास, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, विभावना, विरोध, हेतु, सम (यथासंख्य), आक्षेप, स्तुत (अप्रस्तुतप्रशंसा), समासोक्ति, अपह्नुति और पर्यायोक्त ये सत्रह अर्थालंकार और प्रशस्ति, कांति, औचित्य, संक्षेप, यावदर्थता और अभिव्यक्ति ये छः उभयालंकार।

इनमें से प्रायः अनेक शब्दालंकारों का (और कुछ अन्य का भी) सविस्तर वर्णन सरस्वतीकंठाभरण में मिलता है। अन्य आलंकारिकों ने तो इनमें से केवल अनुप्रास और उसी के भेद यमक तथा वर्णों को और उभयालंकारों में से केवल आक्षेप और उसके भेदों को लिया है। शेष सबको प्रायः छोड़ दिया है। कुछ अलंकार अथवा इनके भेद अर्थालंकारों में भी प्रविष्ट हो गए हैं। हाँ, अर्थालंकार सब के सब बाद में उतर आए हैं।

शब्दालंकारों के पहले इतने विस्तार एवं बाद में उनको छोड़ देने का कारण यह प्रतीत होता है कि एक तो पहले दृश्य काव्य और श्रव्य काव्य दोनों के अनुशासनग्रंथ संमिलित ही रहते थे, अतः अलंकारों में दृश्य काव्य के उपयुक्त भी अनेक बातें लिखी रहती थीं जिन्हें कि 'नाट्यशास्त्र' में 'लक्षण' आदि नामों से पुकारा गया है। दूसरे, उनमें से कुछ अलंकार ऐसे भी थे जो केवल दोषाभावरूप ही थे। जब दोषों

का सविस्तर विवेचन हुआ तब उन अलंकारों का वास्तविक स्वरूप विदित हुआ कि वे दोषों के हट जाने मात्र से अपनेआप आ जाते हैं। बाद के आलंकारिकों ने ऐसे अलंकारों को कोई स्वतंत्र स्थान नहीं दिया। यह है अग्निपुराण के अलंकारों की कथा।

३–विष्णुधर्मोत्तर

विष्णुधर्मोत्तर में केवल १७ अलंकार हैं। यमक, स्वभावोक्ति, रूपक अर्थांतरन्यास, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, विभावना, विरोध, सम, उपन्यास, अपर, व्यतिरेक, श्लेष, विशेषोक्ति, निंदास्तुति (व्याजस्तुति), निदर्शन और अनन्वय। इनमें केवल एक शब्दालंकार है और १६ अर्थालंकार हैं। यद्यपि केवल प्राथमिक संख्या की दृष्टि से इनमें अग्निपुराण की अपेक्षा २ अलंकार अधिक हैं, किंतु अवान्तर विवरण में जाने से विदित होता है कि पिछले आठ अलंकार अधिक हैं। कहा नहीं जा सकता कि ये कहाँ से लिये गये हैं। पिछले आलंकारिकों ने इन पर ध्यान नहीं दिया और ध्यान देने की बात भी नहीं थी, क्योंकि इनमें कोई नवीनता और वैचित्र्य नहीं है।

४–भामह

भामह के समय से केवल श्रव्य-काव्यों को लेकर साहित्य-शास्त्र की एक स्वतंत्र स्थिति होती है। इस शास्त्र की प्रवृत्ति अलंकारों को प्रधान मान कर हुई है, और सबसे पहले अलंकारों का स्वतंत्र वर्णन इन्हीं के ग्रंथ में मिलता है। साथ ही भामह से पूर्व इन अलंकारों का किस तरह क्रमिक विकास हुआ यह बात भी इस ग्रंथ से विदित होती है। भामह ने प्रथमतः अनुप्रास, यमक, रूपक, दीपक और उपमा इस तरह पूर्वोक्त पाँच अलंकार लिखे हैं। साथ ही यह भी लिखा है कि ये पाँच अलंकार दूसरे विद्वानों द्वारा उदाहृत हैं। अर्थात् उनमें से एक भी अलंकार उनकी नई सृष्टि नहीं है। हां, उपमा के प्रसंग में भामह ने प्रतिवस्तूपमा लिखी है और मालोपमा की सूचना मात्र दी है।

ये अलंकार भरत से ही लिये गये हैं—यह नहीं कहा जा सकता। कारण भरत ने एक तो अनुप्रास का नाम भी नहीं लिया दूसरे प्रतिवस्तूपमा और मालोपमा का भी वहाँ वर्णन नहीं है, अतः ये अलंकार किसी श्रव्य काव्य के ही विवेचनग्रंथ से लिये गए हैं। श्रव्य-काव्य के विषय में भी नाट्य शास्त्र के समय कोई ग्रंथ अवश्य था। अतएव उपमा के पाँच भेद लिखने के बाद भरत ने लिखा है—

"उपमाया बुधरैते भेदा ज्ञेयाः समासतः।
शेषा ये लक्षणैर्नोक्तास्ते ग्राह्याः काव्यलोकतः॥

अर्थात् विद्वानों को उपमा के ये भेद संक्षेप में समझने चाहिए। शेष जो लक्षणों द्वारा यहाँ नहीं लिखे गए उन्हें काव्यसंसार से जानना चाहिए।"

इस तरह यद्यपि यह निश्चय नहीं हो सकता कि ये अलंकार किस संदर्भ से लिये गए हैं। तथापि इसमें कोई संदेह नहीं कि ये अलंकार सबसे पहले हैं। भरत और भामह दोनों ही इन्हें सबसे पहले मानते हैं।

इसके बाद भामह ने आक्षेप, अर्थांतरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति और अतिशयोक्ति इस तरह छः और इसी प्रकरण में यथासंख्य, उत्प्रेक्षा और स्वभावोक्ति ये तीन अलंकार भी निरूपण किए हैं। इनमें से व्यतिरेक को छोड़कर अन्य सभी अलंकार अग्निपुराण में मिलते हैं। इस प्रकरण में भामह ने हेतु, सूक्ष्म और लेश इन तीन अलंकारों का निषेध किया है। इनमें से हेतु का वर्णन तो अग्निपुराण में है, पर सूक्ष्म और लेश अलंकार भामह ने कहाँ से लिये हैं और उस समय उनके क्या लक्षण थे सो कहा नहीं जा सकता। भामह ने अतिशयोक्ति की बड़ी प्रशंसा की है। उनने लिखा है—

"सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते[1]।
यत्नोऽस्यां कविभिः कार्यः कोलङ्कारोऽनया विना ॥

अतिशयोक्ति ही 'वक्रोक्ति' है। यह सभी अलंकारों में रहती है। इसी से अर्थ चमत्कारी होता है। कवियों को इस विषय में यत्न करना चाहिए। इसके बिना कौन अलंकार है? तात्पर्य यह कि अलंकारों का अलंकारत्व अतिशयोक्ति से ही है।"

'हेतु' आदि अलंकारों के प्रत्याख्यान में भी उनने यही हेतु दिया है कि उनमें कार्यकारण आदि समुदाय का कथन होता है, अतः इसे वक्रोक्ति का कथन नहीं माना जा सकता और बिना वक्रोक्ति के कोई अलंकार हो नहीं सकता।

तृतीय परिच्छेद में भामह ने प्रेय, रसवान्, ऊर्जस्वी, पर्यायोक्त समाहित, उदात्त (दो प्रकार का), श्लेष (तीन प्रकार का), अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, उपमारूपक, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति, ससंदेह, अनन्वय, उत्प्रेक्षावयव, संसृष्ट, भाविक और आशीः इस तरह २४ अलंकार लिखे हैं। इन २४ में पर्यायोक्त अपह्नुति, विरोध, स्तुत, (अप्रस्तुतप्रशंसा अथवा व्याजस्तुति में से एक) तथा सहोक्ति ये केवल पाँच अलंकार अग्नि पुराण में आए हैं। शेष नए हैं।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि—भामह ने अग्नि-पुराण की अपेक्षा कुल २० अलंकार अधिक लिखे हैं। वे हैं—व्यतिरेक, प्रेय, रसवान्, ऊर्जस्वी, समाहित, उदात्त, श्लेष, विशेषोक्ति, तुल्ययोगिता, व्याजस्तुति निदर्शना, उपमारूपक, उपमेयोपमा, परिवृत्ति, ससन्देह, अनन्वय,

---

१ विभाव्यते इति—विशिष्टो भाव्यते, चमत्कारविशेषविषयः क्रियते इत्यर्थः (काव्यप्रदीप)

उत्प्रेक्षावयव, संसृष्ट, भाविक और आशीः। साथ ही यह संशोधन भी किया कि शब्दालंकारों के नौ भेदों से केवल दो भेद (अनुप्रास और यमक) लिए और उभयालंकारों को तो नाम से ही उड़ा दिया। उनमें से एक अलंकार (आक्षेप) के भेदों को पृथक् पृथक् अलंकारों के रूप में गिन लिया है।

यद्यपि भामह ने सब मिलाकर कुल ४३ अलंकारों के नाम लिखे हैं, तथापि उनमें से उनने केवल ३८ अलंकार ही माने हैं, क्योंकि पूर्वाचार्यों के हेतु, लेश और सूक्ष्म नाम के तीन अलंकारों का निषेध कर दिया है, और आशीः तथा स्वभावोक्ति से मतभेद[1] प्रकट किया है।

५—दण्डी

पीछे के आचार्यों ने प्रायः भामह के ही मत का अनुसरण किया है। दण्डी ने अनुप्रास के अतिरिक्त अन्य सभी भामह के अलंकारों का संग्रह कर लिया है। इतना ही नहीं, भामह ने जिन अलंकारों का निषेध किया है अथवा जिनसे मतभेद प्रकट किया है—जैसे हेतु, सूक्ष्म, लेश, स्वभावोक्ति और आशीः आदि इन्हें भी उन्होंने अलंकारों में संगृहीत कर लिया है। यद्यपि प्रथमतः अलंकारों की नामावली लिखते समय दण्डी ने ३५ अलंकार ही लिखे हैं, अतः किसी को भ्रम हो सकता है कि उनने भामह के अलंकारों में कुछ संशोधन किया हो, पर ऐसी बात नहीं है। गिनते समय उन्होंने भामह के निर्दिष्ट अलंकारों में से जिन अलंकारों को छोड़ दिया है वे ये हैं—प्रतिवस्तूपमा, मालोपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, ससंदेह, उपमारूपक, उत्प्रेक्षावयव और यमक। इनमें से प्रतिवस्तूपमा से ससंदेह तक के भेदों को उनने उपमा के भेदों

---

१ "आशीरपि च केषांचिदलंकारतया मता !" (भामह ३–५५) "स्वभावोक्तिरलंकार इति केचित्प्रचक्षते !" (भामह २–९३)

में मान लिया है, उपमारूपक और उत्प्रेक्षावयव को संकीर्णों के भेदों में और यमक का पृथक् विवेचन कर दिया है। अतः कहना पड़ेगा कि-दंडी ने अनुप्रास के अतिरिक्त अन्य कोई भी भामह के ग्रंथ में नामतः आया हुआ भी अलंकार नहीं छोड़ा। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि दंडी ने भामह के अलंकारों में से कुछ के नाम में भेद अवश्य कर दिया। पर उसका कारण केवल छंद का अनुरोध है अथवा अन्य कुछ यह कहना कठिन है।

६—उद्भट

उद्भट ने दंडी की तरह पूर्वाचार्यों का मूक अनुसरण मात्र नहीं किया। उनने अलंकारों को छः वर्गों में विभक्त किया है। उन वर्गों में क्रमशः ८, ३, ७, ११, ६ और ६ इस तरह कुल ४१ अलंकार लिखे हैं। प्रथम वर्ग में उनने पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, अनुप्रास (वृत्त्या-नुप्रास) और लाटानुप्रास ये चार शब्दालंकार और रूपक, दीपक, उपमा और प्रतिवस्तूपमा ये चार अर्थालंकार दिए हैं, शेष वर्गों में अर्थालंकारमात्र हैं। भामह और दंडी के बताए अलंकारों में से उन्होंने अपने मत से कुछ अनावश्यक अलंकार छोड़ दिए हैं और कुछ आवश्यक अलंकारों का अधिक सन्निवेश भी किया है, दंडी के अलंकार छोड़ने में उद्भट ने प्रायः भामह का अनुसरण किया है। हाँ, उत्प्रेक्षावयव और उपमारूपक को छोड़ने में उनने दंडी की अपेक्षा स्वतंत्रता अवश्य की है और उनकी इस स्वतंत्रता को बाद के प्रायः सभी आचार्यों ने स्वीकार भी किया है। पूर्वाचार्यों द्वारा प्रपंचित यमक के भेद भी संभवतः उद्भट को बहुत अखरे, अतः उनने यमक को मूलतः ही उड़ा दिया। उद्भट ने जो अलंकार बढ़ाए हैं वे ये हैं—पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, लाटानुप्रास, संकर, काव्यहेतु और काव्य-दृष्टान्त। उद्भट की इस स्वतंत्रता को भी बाद के आचार्यों ने सादर स्वी-

कार किया है। किसी ने पुनरुक्तवदाभास आदि अलंकारों का निषेध नहीं किया। लक्षण और भेद लिखने में भी उद्भट ने भामह और दंडी की अपेक्षा स्वतंत्रता की है और उसे भी बाद के आचार्यों ने स्वीकार किया है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि उद्भट ने जो कुछ नवीनता की वह प्रायः अब तक के आचार्यों को स्वीकृत हुई। यदि यह कहा जाय कि आजकल की अलंकारशैली के प्रथम-परिष्कारक उद्भट ही हैं तो इसमें कुछ अत्युक्ति न होगी।

७—रुद्रट

रुद्रट अलंकारों के बड़े मार्मिक विद्वान् हो गये हैं। उनने कुछ सर्वथा नवीन अलंकार लिखे हैं। इनमें से अधिकांश अलंकारों को बाद के सभी आचार्यों ने लिया है। रुद्रट के बढ़ाये अलंकारों के नाम ये हैं—समुच्चय, भाव, पर्य्याय, विषम, अनुमान, परिवृत्ति, परिकर, परिसंख्या, कारणमाला, अन्योन्य, उत्तर (प्रथम), सार, अवसर, मीलित, एकावलि, मत, उत्तर (द्वितीय), अन्योक्ति, प्रतीप, उभयन्यास, भ्रान्तिमान्, प्रत्यनीक, पूर्व, साम्य, स्मरण, तद्गुण, अधिक, असंगति, पिहित, व्याघात, अहेतु, अविशेषश्लेष, उक्तिश्लेष, व्याजश्लेष, असम्भव-श्लेष, तत्त्वश्लेष और वक्रश्लेष। इनमें से अनेक अलंकार अनन्तरभावी आचार्यों ने अन्य अलंकारों द्वारा गतार्थ तथा भेदप्रभेदों में अन्तर्भूत कर लिए हैं। इस पर अधिक विवेचन हमारी अलंकारसमीक्षा में देखिए।

इसके अतिरिक्त रुद्रट ने अलंकारों को प्रथमतः चार वर्गों में विभक्त कर दिया है। उनका कहना है कि सभी अलंकार वास्तव (स्वाभाविकता) औपम्य (सादृश्य) अतिशय (अनहोनी बात) और श्लेष (अनेक अर्थों का एक पद में समावेश) इन चार भागों में विभक्त किए जा सकते हैं। इस विषय-विभाग और नवीन अलंकारों के

आविष्कार एवं लक्षणों के परिष्कार के कारण आलंकारिकजगत् में रुद्रट का विशेष स्थान है और बाद के मम्मट जैसे महान् आचार्यों ने भी उनकी उक्तियों को प्रमाणरूप में उद्धृत किया है। रुद्रट ने जैसे अलंकार बढ़ाए हैं वैसे ही उद्भट के अलंकारों में से १०, १२ अलंकार कम भी किए हैं, पर इस विषय में पीछे के आचार्यों ने उनकी विशेष नहीं सुनी।

८—वामन

वामन का अलंकार-सूत्र यद्यपि आलंकारिकजगत् में अपना विशेष स्थान रखता है तथापि अलंकारों के विषय में उनका विवेचन कोई महत्वपूर्ण नहीं। उनने प्रायः भामह, दण्डी और उद्भट के अलंकारों से अलंकार लिए हैं, पर उन सबको उपमा का भेद बताने में उनका विशेष प्रयास रहा है। उनने ३०—३२ (२ शब्दालंकार और ३० अर्थालंकार) अलंकार लिखे हैं, पर कोई विशेष बात नहीं बताई। हाँ, इतना अवश्य है कि 'व्याजोक्ति' अलंकार का नाम सबसे पहले वामन के अलंकारसूत्र में ही दिखाई देता है, जिसे बाद के आचार्यों ने ग्रहण किया है।

९—भोजराज

संस्कृतसाहित्य के परम प्रेमी धारानरेश महाराज भोजदेव के सरस्वतीकण्ठाभरण में पाँच प्रकरण हैं—१—दोषगुणविवेचन, २—शब्दालंकारनिर्णय, ३—अर्थालंकारनिर्णय, ४—उभयालंकार विवेचन और ५—रसविवेचन। आप देखते हैं कि इन पाँचों में से तीन प्रकरण अलंकारों के विषय में हैं। जिनमें उनने निम्नलिखित २४ शब्दालंकार २४ अर्थालंकार २४ उभयालंकारों का निरूपण किया है।

शब्दालंकार—१—जाति, २—गति, ३—रीति, ४—वृत्ति,

५—छाया, ६—मुद्रा, ७—उक्ति, ८—युक्ति, ९—भणिति, १०—गुम्फना, ११—शय्या, १२—पठिति, १३—यमक, १४—श्लेष, १५—अनुप्रास, १६—चित्र, १७—वाकोवाक्य, १८—प्रहेलिका, १९—गूढ, २०—प्रश्नोत्तर, २१—अध्येय, २२—श्रव्य, २३—प्रेक्ष्य और २४—अभिनय।

अर्थालंकार—१—जाति, २—विभावना, ३—हेतु, ४—अहेतु, ५—सूक्ष्म, ६—उत्तर, ७—विरोध, ८—संभव, ९—अन्योन्य, १०—परिवृत्ति, ११—निदर्शन (दृष्टान्त), १२—भेद (व्यतिरेक), १३—समाहित, १४—भ्रान्ति, १५—वितर्क, १६—मीलित, १७—स्मृति, १८—भाव तथा १९—प्रत्यक्ष, २०—अनुमान, २१—उपमान, २२—शब्द, २३—अर्थापत्ति और २४—अभाव ये छः मीमांसोक्त प्रमाण।

उभयालंकार—१—उपमा, २—रूपक, ३—साम्य, ४—संशयोक्ति, ५—अपन्हुति, ६—समाध्युक्ति, ७—समासोक्ति, ८—उत्प्रेक्षा, ९—अप्रस्तुतस्तुति, १०—तुल्ययोगिता, ११—लेश, १२—सहोक्ति, १३—समुच्चय, १४—आक्षेप, १५—अर्थान्तरन्यास, १६—विशेष, १७—परिष्कृति (परिकर), १८—दीपक, १९—क्रम, २०—पर्याय, २१—अतिशय, २१—श्लेष, २३—भाविक और २४—संसृष्टि।

शब्दालंकारों में से ८ तो वही हैं, जो अग्निपुराण में आये हैं। शेष १६ में से यमक भी परम्परागत है। अतः उसमें भोजराज की कोई नवीन कल्पना नहीं है और जाति, गति, रीति, वृत्ति, शय्या, भणिति, पठिति, अध्येय, श्रव्य, प्रेक्ष्य और अभिनय ये ११ भाषा, उच्चारण तथा शारीरिक अंगों के भिन्न २ ढंग मात्र हैं। आधुनिक परिभाषा के अनुसार उनको अलंकार नहीं कह सकते, क्योंकि वे शब्द-रचना अथवा अर्थ-रचना के अन्दर कविप्रयत्न से सिद्ध नहीं हैं। रहे प्रहेलिका, गूढ और प्रश्नोत्तर वे अग्निपुराणोक्त चित्र और दुष्कर अलंकार के भेदमात्र

हैं। अर्थालंकारों में से और उभयालंकारों में से उभयालंकार नामक वस्तु तो फिर रही ही नहीं, अतः अर्थालंकार और उभयालंकार ४८ के ४८ अर्थालंकारों में प्रविष्ट हो गये हैं। उनमें संभव, वितर्क और छः प्रत्यक्षादि प्रमाणालंकार भोजराज के नवीन हैं। इस तरह ८ अलंकार यद्यपि अपूर्व हैं तथापि छः प्रमाणालंकारों को जिन्हें अप्पयदीक्षित ने ही ग्रहण किया है, छोड़ दें तो दो अलंकार बचते हैं। इन दो अलंकारों को पीछे के आचार्यों ने नहीं माना। अतः कहना होगा कि सरस्वतीकण्ठाभरण भोजदेव के साहित्यप्रेम का और बहुज्ञता का परिचायक होते हुए भी अलंकार-साहित्य में बहुत कम नवीनता उत्पन्न कर सका।

१०—मम्मट

भोजराज के पश्चात् अतिशीघ्र ही साहित्यशास्त्र का एक ऐसा मार्मिक आचार्य आता है जिसका साम्राज्य आज भी ज्यों का त्यों है। संस्कृत-साहित्य का कोई भी पंडित पंडित नहीं समझा जा सकता जब तक वह आचार्य मम्मट के काव्यप्रकाश का मर्मज्ञ न हो। इस आचार्य ने वक्रोक्तिवाद, अनुमानवाद आदि साहित्य के अनिर्णीत पक्षों का निर्णय किया और ध्वनिकार आनंदवर्धनाचार्य के पक्ष का समर्थन किया। इनका ग्रंथ संक्षिप्त और अर्थगंभीर है। काव्यप्रकाशोक्त अन्य विषयों का आवश्यक विवेचन हिंदीरसगंगाधर के पूर्व भाग की भूमिका में किया गया है। अतः इस भाग में केवल अलंकारों का विवेचन किया जायगा। मम्मट ने शब्दालंकार केवल छः माने हैं—वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र और पुनरुक्तवदाभास। सारांश यह है कि जिस तरह प्राचीनों के २० गुणों की छानबीन करके केवल ३ गुण रक्खे गये हैं वैसे ही उनने चौबीस तक बढ़े हुए शब्दालंकारों का समावेश केवल अनुप्रास, यमक और चित्र इन तीन अलंकारों में कर

दिया और वक्रोक्ति, श्लेष और पुनरुक्तवदाभास को मिलाकर शब्दालंकारों की संख्या ६ मानी। इनमें से पुनरुक्तवदाभास तो पहले भी शब्दालंकार ही था किंतु वक्रोक्ति और श्लेष के एक भाग को शास्त्रार्थ करके काव्यप्रकाश में शब्दालंकार सिद्ध किया गया।

अर्थालंकार मम्मट ने ६१ माने हैं। आलंकारिकजगत् में जो धाँधली मची हुई थी उसे भी मम्मट ने स्थिर किया। आपने उद्‌भट के अलंकार प्रायः समग्र ले लिये हैं और रुद्रट के अलंकारों में से भाव, अवसर, मत, उत्तर, उभयन्यास, पूर्व, साम्य, पिहित, अहेतु तथा श्लेष के भेद—अविशेष, उक्ति, व्याज, असंभव, अवयव और तत्त्व नामक पंद्रह अलंकार छोड़ दिये हैं। मम्मट की इस बात को अलंकारों की अधिकता को पसंद करनेवाले अप्पयदीक्षित आदि ने भी प्रायः माना है। इसके अतिरिक्त आपने वृत्त्यनुप्रास, विनोक्ति, सम, सामान्य और अतद्‌गुण ये ५ अलंकार नये लिखे हैं, जिन्हें प्रायः आलंकारिकजगत् में सभी ने स्वीकार किया है। लक्षणों में भी उनने सारगर्भ संक्षेप किया है। वर्गीकरण पर उनने विचार नहीं किया।

११—अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक

आलंकारिक जगत् में अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक का स्थान बहुत ऊँचा है। विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित और जगन्नाथ जैसे अलंकारजगत् के प्रसिद्ध आचार्यों ने प्रायः उनका पदानुसरण किया है। यद्यपि यह कहना कठिन है कि रुय्यक ने काव्यप्रकाशोक्त सब अलंकार मम्मट से ही उद्‌धृत किए हैं अथवा स्वतंत्र रूप से संगृहीत किए हैं, क्योंकि दोनों समसामयिक-से हैं और दोनों ने ही एक दूसरे का नाम नहीं लिया है। तथापि उल्लेख, परिणाम, विकल्प और विचित्र सर्वप्रथम उन्हीं के ग्रंथ में आये हैं, जो काव्यप्रकाश से अतिरिक्त हैं। इन अलंकारों को सभी अनंतरभावी आचार्यों ने स्वीकार किया है।

यदि संक्षेप में कहा जाय तो कह सकते हैं कि आधुनिक आलं-

कारिकों के अलंकारसर्वस्वकार बहुमानास्पद उपजीव्य हैं। सभी ने आपके लक्षणादिकों को, कहीं-कहीं मतभेद होने पर भी, गौरव की दृष्टि से देखा है।

१२—वाग्भट (१)

प्रथम वाग्भट का वाग्भटालंकार नामक ग्रंथ है। उनने चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास और यमक ये चार ही शब्दालंकार माने हैं। अर्थालंकार भी ३५ ही लिखे हैं। पर इसका कारण यह नहीं है कि उनके समय में अन्य अलंकार नहीं थे, किंतु उनने शेष अलंकार जानकर छोड़ दिए हैं। वे स्वयं लिखते हैं—

"अचमत्कारिता वा स्यादुक्तान्तर्भाव एव च।
अलंक्रियाणामन्यासामनिबन्धे निबन्धनम्॥ (४।१४९)

अर्थात् अन्य अलंकारों के न लिखने का कारण यह है कि या तो वे चमत्कारी नहीं हैं अथवा उनका उक्त अलंकारों में अन्तर्भाव हो जाता है।" पर उनने इस पर विचार नहीं किया।

१३-हेमचंद्र

हेमचंद्र ने शब्दालंकार तो काव्यप्रकाशोक्त वही छः रखे हैं। पर अर्थालंकारों में पर्याप्त न्यूनता कर दी है। उनने काव्यप्रकाशोक्त ६१ अलंकारों में से केवल २९ अलंकार माने हैं। उपमेयोपमा और अनन्वय को उनने उपमा में अंतर्भूत कर लिया है। इस तरह आधुनिकों के अनुसार उनके ग्रंथ में ३१ अलंकार होते हैं। उनने काव्यप्रकाश के जो तीस अलंकार कम किए हैं वे ये हैं—प्रतिवस्तूपमा, दृष्टांत, तुल्य-योगिता, विभावना, विशेषोक्ति, यथासंख्य, विनोक्ति, भाविक, काव्य-लिंग, उदात्त, पर्याय, परिकर, व्याजोक्ति, अन्योन्य, उत्तर, सूक्ष्म, सार, असंगति, समाधि, अधिक, प्रत्यनीक, मीलित, एकावली, प्रतीप,

सामान्य, विशेष, तद्गुण, अतद्गुण, व्याघात और संसृष्टि। इनमें से परिकर, यथासंख्य, विनोक्ति, भाविक और उदात्त इन पाँच अलंकारों को यथासंभव दोषाभावमात्र, असुंदर, अभिनेयमात्र और अतिशयोक्ति-रूप बताने का प्रयत्न किया गया है। पर अन्य २५ को भी वे इन्हीं से गतार्थ अथवा अचमत्कारी समझते हैं। यह बात भी प्रतीत नहीं होती कि उनने ये अलंकार रुद्रट अथवा रुय्यक से लिये हैं, क्योंकि तब भी बहुतेरे अलंकार बच रहते हैं। उद्भट से भी ये लिये गये प्रतीत नहीं होते, क्योंकि उनके रसवान् आदिक अलंकारों का इनने स्पर्श भी नहीं किया। सारांश यह कि हेमचंद्र ने यद्यपि संक्षेप किया है, पर उस पर यथेष्ट विचार नहीं किया, अतएव प्रतीत होता है कि भावी आचार्यों ने उनका अनुसरण नहीं किया।

१४—पीयूषवर्ष

पीयूषवर्ष ने शब्दालंकार अनुप्रास, पुनरुक्तवदाभास, यमक और चित्र ये चार माने हैं किंतु अनुप्रास के छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, लाटा-नुप्रास, स्फुटानुप्रास और अर्थानुप्रास ये पाँच भेद कर दिये हैं। इस प्रकार उनके अनुसार आठ शब्दालंकार हो जाते हैं। इनमें स्फुटानुप्रास और अर्थानुप्रास ये दो उनके नये अलंकार हैं।

स्फुटानुप्रास का लक्षण और उदाहरण उनने यह दिया है—

"श्लोकस्यार्धे तदर्धे वा वर्णावृत्तिर्यदि ध्रुवा।
तदा मता मतिमतां स्फुटानुप्रासता सताम्॥

अर्थात् श्लोक के अर्ध अथवा चरण में यदि वर्णों की निश्चित आवृत्ति हो तो उसे स्फुटानुप्रास कहते हैं। प्रतीत होता है कि बाद में यही हिंदीवालों का अन्त्यानुप्रास हो गया है।"

अर्थानुप्रास वे उसे कहते हैं जहाँ उपमान उपमेय आदि में वर्णों की उसी क्रम से आवृत्ति हो, जैसे—

"चन्दनं खलु गोविन्दचरणद्वन्दवन्दनम् ।

इस पद्य के उपमेय 'वन्दनं' और उपमान 'चन्दनं' शब्दों में।"

अर्थालंकारों को बढ़ाकर उनने पूरे १०० कर दिए हैं, पर वास्तव में चंद्रालोक में ८२ ही अलंकार हैं। यह १०० संख्या उपमा, अपह्नुति उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति और आक्षेप आदि के भेदों को भी पृथक् अलंकार मानकर पूरी की गई है। जो ८२ अलंकार हैं उनमें ६७ तो वे ही हैं जो अलंकारसर्वस्व में आए हैं। शेष १५ नये हैं। नये अलंकार ये हैं—उन्मीलित, प्रौढोक्ति, संभावना, प्रहर्षण, विषादन, आवृत्तिदीपक, विकस्वर, असंभव, उल्लास, पूर्वरूप, अनुगुण, अवज्ञा, पिहित, भाविकच्छवि और अत्युक्ति। इनके अतिरिक्त रसवत् आदि ७ अलंकारों से उनने मतभेद प्रकट किया है। वे कहते हैं कि—

"रसवत्प्रेयऊर्जस्विसमाहितमयामिधाः ।
भावानामुदयः सन्धिः शबलत्वमिति त्रयः ।
अलंकारानिमान्सप्त केचिदाहुर्मनीषिणः ॥"

(५-११७-११८)

संसृष्टि और संकर को भी वे पृथक् नहीं मानते। उनका कहना है कि—

"शुद्धिरेकप्रधानत्वं तथा संसृष्टिसंकरौ ।
एतेषामेव विन्यासान्नालङ्कारान्तराण्यमी ॥ (५-११६)

यदि एक अलंकार प्रधान हो तो शुद्ध अलंकार माना जाता है और यदि एक पद्य में एकाधिक अलंकार हों तो उनकी संसृष्टि अथवा संकर हो जाता है। वे इन्हीं अलंकारों के विन्यासमात्र हैं। अतः उन्हें पृथक अलंकार नहीं कहा जा सकता।"

इसमें संदेह नहीं कि पीयूषवर्ष ने अलंकारिकजगत् में एक नया रंग ला दिया। वाग्भट, हेमचद्र आदि जैनाचार्यों ने जो अलंकारों की संख्या में ह्रास करके संक्षेप की प्रवृत्ति की थी उसे इनने उड़ा दिया। चंद्रालोक के अलंकार चले भी खूब। कारण यह था कि उनके लक्षण तथा उदाहरण सरल और संक्षिप्त हैं। वे प्रायः आधे अनुष्टुप् में लक्षण और यथासंभव आधे में उदाहरण दे देते हैं, अतः उनके स्मरण रखने में बड़ी सुविधा होती है। बाद में यह पद्धति खूब चली। हिंदी-वाले तो प्रायः यही पद्धति ले उड़े। उन्हें संस्कृत के आचार्यों के गंभीर विचार और शास्त्रार्थपूर्ण उदाहरण नहीं जँचे, अतः प्रायः सभी ने चंद्रालोक की ही शैली स्वीकार की।

१५—वाग्भट (२)

वाग्भट (२) ने शब्दालंकार तो छः ही माने हैं, किन्तु अर्थालंकार ६३ माने हैं, जिनमें अन्योक्ति, अन्य, अपर, पूर्व, पिहित, मत, उभयन्यास, भाव और आशीः ये नौ अलंकार काव्यप्रकाश से भिन्न हैं। इनमें से पूर्व, मत, उभयन्यास और आशीः ये ५ अलंकार तो रुद्रट के हैं शेष ४ में से अन्योक्ति अप्रस्तुतप्रशंसा ही है और उनकी अप्रस्तुतप्रशंसा एक प्रकार की अतिशयोक्ति है। केवल अन्य, अपर और पिहित रह जाते हैं जिनको अन्य आचार्यों ने कोई महत्व का स्थान नहीं दिया। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि वाग्भट द्वितीय ने भी साहित्य में कोई नवीनता उत्पन्न नहीं की, केवल साधारण अध्येताओं के लिए यथोपलब्ध सामग्री का संकलनमात्र उनने कर दिया है।

१६—विश्वनाथ

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने काव्यप्रकाशकारोक्त शब्दालंकारों के अतिरिक्त भाषासम नामक एक अलंकार और माना है और अनुप्रासों के भेदों में श्रुत्यनुप्रास भी माना है। अर्थालंकारों में निश्चय और

अनुकूल दो अलंकार काव्यप्रकाश और अलंकारसर्वस्व से भिन्न हैं। शेष काव्यप्रकाश अथवा अलंकारसर्वस्व के ही अनुसार हैं। नवीन अलंकारों में से श्रुत्यनुप्रास को हिन्दीवालों ने आश्रय दिया है। मायासम भी कहीं २ देखने में आता है। निश्चय और अनुकूल को तो किसी ने पूछा भी नहीं।

१७—केशवमिश्र

केशवमिश्र ने अलंकारशेखर नामक अपने ग्रन्थ में ८ शब्दालंकारों में काव्यप्रकाशोक्त पुनरुक्तवदाभास को हटाकर, गूढ, प्रहेलिका और प्रश्नोत्तर ये तीन नवीन माने हैं। पर पाठकों को विदित ही हो गया होगा कि इनमें से कोई भी नवीन नहीं हैं। ये सब अग्निपुराणोक्त तथा सरस्वतीकण्ठाभरणोक्त हैं। अर्थालंकारों में केशवमिश्र ने पर्याप्त से भी अधिक कमी की है। केवल निम्नलिखित १४ ही उनने स्वीकार किए हैं—उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, अपह्नुति, समाहित, स्वभाव, विरोध, सार, दीपक, सहोक्ति, अन्यदेशत्व, विशेषोक्ति और विभावना। इनके अतिरिक्त अलंकार वे नहीं मानते। उनने स्पष्ट निषेध किया है। 'न चापरे (११।२)'। इस संक्षेप और अन्य अलंकारों के इन्हीं में समावेश का हेतु उनने अपने 'अलंकारसर्वस्व' नामक ग्रन्थ में दिया बताया, जो अब अप्राप्य है। वे कहते हैं—

"सुखबोधाय बालानामतिकोमलवर्त्मना।
मया संक्षेपणादित्थमलंकाराः प्रदर्शिताः॥
यथैतेषां मिथो भेदः परेषां नातिरेकिता।
तथालंकारसर्वस्वे सप्रपञ्चमदर्शयम्॥

(११वीं मरीचिका अंतिम अंश)

अर्थात् मैंने बालकों के सुखपूर्वक बोध के लिए इस तरह संक्षेप

करके अत्यन्त कोमलमार्ग से अलंकार दिखाए हैं। इनके परस्पर भेद और अन्य अलंकारों का इनसे अतिरिक्त न होना अलंकारसर्वस्व में विस्तारपूर्वक दिखा चुका हूँ।"

सारांश यह कि इस ग्रन्थ में कोई विशेषता नहीं है।

१८—अप्पयदीक्षित

अप्पयदीक्षित के अलंकारविषयक दो ग्रन्थ हैं—चित्रमीमांसा और कुवलयानन्द। इनमें से चित्रमीमांसा तो प्रणेता ने स्वयं ही अधूरी छोड़ दी है। उनने लिखा है—

'अप्यर्धचित्रमीमांसा न मुदे कस्य मांसला।'

पर कुवलयानन्द पूर्ण है। इन दोनों ही ग्रन्थों पर पण्डितराज ने रसगंगाधर में डटकर विचार किया है। अतः उस चर्चा को छोड़कर यहाँ अन्य अपेक्षित बातों पर विचार किया जाता है। चित्रमीमांसा में केवल निम्नलिखित १२ अलंकारों पर विचार है। उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, स्मरण, रूपक, परिणाम, ससन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति। इनमें कोई नवीन नहीं है।

कुवलयानन्द में भी शब्दालंकार नहीं है केवल अर्थालंकार हैं। कुवलयानन्द में मूल अलंकार तो १०० ही हैं। उनकी समाप्ति पर लिखा है—

"इत्थं शतमलंकारा लक्षयित्वा निदर्शिताः।
प्राचामाधुनिकानां च मतान्यालोच्य सर्वतः॥

(कुव० १६१)

अर्थात् प्राचीनों और आधुनिकों के मत की पूर्णतया आलोचना करके इस तरह १०० अलंकारों के लक्षण देकर उदाहरण दिए गए हैं।"

पर इसका अर्थ यह नहीं है कि अप्पयदीक्षित ने पीयूषवर्ष के

अतिरिक्त नये अलंकार लिखे ही नहीं। पीयूषवर्ष ने जो नत्तत् अलंकारों के भेदों को पृथक् गिनकर १०० की संख्या पूरी की थी उस संख्या में से अप्पयदीक्षित ने उन भेदों को पृथक् अलंकार न मानकर तत्तत् अलंकारों में ही समाविष्ट कर दिया है और २० नये अलंकार लिखे हैं। वे ये हैं—

१—प्रस्तुतांकुर, २—व्याजनिन्दा, ३—अल्प, ४—कारकदीपक, ५—मिथ्याध्यवसिति, ६—ललित, ७—अनुज्ञा, ८—लेश, ९—मुद्रा, १०—रत्नावली, ११—सूक्ष्म, १२—गूढोक्ति, १३—विवृतोक्ति, १४—युक्ति, १५—लोकोक्ति, १६—छेकोक्ति, १७—निरुक्ति, १८—प्रतिषेध, १९ विधि और २०—हेतु। इसके अतिरिक्त पीयूषवर्षोक्त उदारसार और भाविकच्छवि नामक दो अलंकार अप्पयदीक्षित ने छोड़ भी दिए हैं, अतः पूरे १०० की संख्या बैठ जाती है। ये २० भी अप्पयदीक्षित के नवीन नहीं हैं, प्रायः प्राचीनों के ही हैं।

इन सौ के अतिरिक्त अप्पयदीक्षित ने २१ अलंकार और लिखे हैं। उनमें से ७ तो वे ही प्राचीनों के रसवदादि हैं, जिनसे पीयूषवर्ष ने मतभेद प्रकट किया है। ८ प्रमाणालंकार १ संसृष्टि और ५ प्रकार के संकरालंकार हैं। प्रमाणालंकारों में, जो भोज से लिए गये हैं, संभव और ऐतिह्यालंकार नवीन हैं। संकरों में समप्राधान्यसंकर और संकर-संकर नवीन हैं।

सारांश यह कि अप्पयदीक्षित प्रवीण विवेचक होने पर भी संग्राहकमात्र हैं। नवीन उद्भावना उनके ग्रंथों में अल्प है। बात यह भी थी कि उनसे पूर्व ही अलंकारों की इतनी भरमार हो गई थी कि उनका संग्रह ही पर्याप्त था। आगे बढ़ाने में न तो सार रह गया था, न यथार्थता ही। हाँ, उनपर यथार्थ विमर्श की आवश्यकता थी, उसे बहुत अंशों में अप्पयदीक्षित ने पूरा किया।

अप्पयदीक्षित से आगे बढ़कर यदि किसी ने कुछ विचार किया है तो पंडितराज ने ही, जिनने अलंकार विषय पर भी कलम तोड़ दी है, पर दुर्भाग्यवश उनका ग्रंथ अपूर्ण ही रहा।

१६—विश्वेश्वर

पंडितराज के बाद भी अलंकारों के विषय में एक ग्रंथ और बना है, जिसमें अलंकारों की बाढ़ को उलटाकर फिर काव्यप्रकाश के अलंकारों पर पहुँच जाने का प्रयत्न किया गया है। वह है विश्वेश्वर का अलंकारकौस्तुभ, जिसकी टीका भी स्वयं ग्रंथनिर्माता ने ही की है, किंतु वह साधारण लोगों के बोध से परे की वस्तु है। केवल न्यायशास्त्र जानने वाले ही इसमें रस ले सकते हैं।

अक्षय तृतीया
संवत् २०१५ विक्रमीय

पुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी

विषय-सूची

विषय | पृष्ठांक

समासोक्ति अलंकार

परिकरालंकार

विषय | पृष्ठांक

श्लेषालंकार

अप्रस्तुतप्रशंसा

पर्यायोक्त अलंकार

विषय | पृष्ठांक

विषय पृष्ठांक

समुच्चयालंकार

समाधि अलंकार

प्रत्यनीक अलंकार

प्रतीप अलंकार

प्रौढोक्ति अलंकार

ललितालंकार

प्रहर्षण अलंकार

विषादन अलंकार

उच्छ्वासालंकार

अवज्ञालंकार

अनुज्ञालंकार

हिंदी-रस-गंगाधर

तृतीय भाग

विशेषणविच्छित्तिमूलक अलंकार

समासोक्ति अलंकार

लक्षण

जहाँ प्रस्तुत धर्मी से सम्बन्ध रखने वाला व्यवहार, केवल सामान्य विशेषणों के द्वारा उपस्थित कराए हुए अप्रस्तुत धर्मी से सम्बन्ध रखनेवाले व्यवहार से अभिन्न प्रतीत होता है वह समासोक्ति है।

लक्षण का विवेचन

इस लक्षण को एक उक्ति में (नैयायिकों की संस्कृत में) यों कह सकते हैं—

साधारणविशेषणमात्रश्रुत्युपस्थापिता प्रकृतधर्मिकव्यवहाराभिन्नत्वेन भासमानाप्रकृतधर्मिकव्यहारत्वम्—अर्थात् केवल साधारण विशेषणों के श्रवण से उठाए गए अप्रस्तुत धर्मी वाले व्यवहार से अभिन्न रूप में प्रतीत होने वाले प्रस्तुतधर्मी वाले व्यवहार को समासोक्ति कहते हैं, बात वही है।

इस लक्षण में विशेषण के साथ 'केवल' पद (मूल में 'मात्र' पद) इसलिए दिया गया है कि 'शब्दशक्तिमूलक ध्वनि' में अतिव्याप्ति न

हो, क्योंकि शब्दशक्तिमूलक ध्वनि में विशेष्य भी श्लिष्ट रहता है। सो वहाँ वही (विशेष्य ही) अप्रस्तुत धर्मी की उपस्थिति करवाने के द्वारा उसके व्यवहार की उपस्थिति करवाता है, अतः वहाँ केवल विशेषण के द्वारा अप्रस्तुत व्यवहार की उपस्थिति नहीं होती।

इतने पर भी—

आबध्नास्यलकान्निरस्यसितमां चोलं रसाकाङ्क्षया-
लङ्कायावशतां तनोषि कुरुषे जङ्घाललाटक्षतम्।
प्रत्यङ्गं परिमर्दनिर्दयमहो चेतः समालम्बसे
वामानां विषये नृपेन्द्र! भवतः प्रागल्भ्यमत्यद्भुतम्॥

हे नृपेन्द्र, 'वामानाम्' (शत्रुओं के + स्त्रियों के)' 'विषय' में (देश में + संबन्ध में) आपकी प्रगल्भता (सूझ बूझ) अत्यन्त अद्भुत है, क्योंकि आप 'रसाकाङ्क्षया' (पृथ्वी की इच्छा से + शृंगार अथवा वीररस की इच्छा से) अलकान् (म्) (अलकापुरी को + अलकों को) बांधते हैं और चोल (दक्षिण प्रान्त का एक देश + कञ्चुक अथवा चोली) को हटाते हैं '(अ) लङ्कायावशताम्' (लंका की अधीनता को + शरीर की पूर्णतया परवशता को) विस्तृत करते हैं, 'जंघाललाट-क्षतम्' (अत्यन्तवेगयुक्त लाट देश की हानि + जंघा और ललाट पर नखों और दातों के निशान) करते हैं और 'प्रत्यङ्गम्' (अङ्ग देश के प्रति + हर एक अङ्ग को) परिमर्द (तहस नहस करने + मर्दन करने) में निर्दय चित्त धारण करते हैं।

ऐसी जगह जहाँ कि प्रकृत धर्मी (जैसे राजा) के प्रकृत (जैसे शत्रुओं के विषय में) और अप्रकृत (जैसे स्त्रियों के विषय में) व्यवहारों का श्लेष हो उसमें अतिव्याप्ति न होने के लिए प्रस्तुतत्व और अप्रस्तुतत्व को धर्मी के विशेषण रूप में दिया गया है। यदि 'प्रस्तुत'

और 'अप्रस्तुत' को व्यवहार का विशेषण माना जाय तो यहाँ प्रकृत 'वीर' का वृत्तान्त साधारण विशेषण मात्र के सुनने से उपस्थित होने वाले अप्रकृत 'शृंगार' के वृत्तान्त के अभिन्न रूप में स्थित ही है, इसलिए उसमें अतिव्याप्ति हो ही जायगी।

आप कहेंगे कि यहाँ राजा का वर्णन प्रस्तुत है, अतः उसमें रहनेवाले दोनों वृत्तान्त भी प्रस्तुत हुए तो प्रस्तुत व्यवहार में अप्रस्तुत व्यवहार की प्रतीति कहाँ है, फिर लक्षण की इस श्लेष में अतिव्याप्ति कैसे होगी? तो हम कहते हैं कि हाँ, अतिव्याप्ति नहीं होगी, पर तब, जब 'केवल वर्णन करना ही' प्रस्तुत हो, किन्तु यदि राजा के संग्राम आदि में केवल वीरता का वर्णन प्रस्तुत हो (और शृंगार का वर्णन अप्रस्तुत हो) तब तो अतिव्याप्ति हो ही जायगी। (एवम् इसी 'केवल' के कारण)

मलिनेऽपि रागपूर्णां विकसितवदनामनल्पजल्पेऽपि।
त्वयि चपलेऽपि च सरसां भ्रमर! कथं वा सरोजिनीं त्यजसि॥

हे भ्रमर, तुम्हारे मलिन (काला + मन का मैला) होने पर भी जो रागपूर्ण (रङ्गभरी + प्रेमपूर्ण) है, तुम्हारे खूब बोलते रहने पर भी जिसका वदन विकसित रहता है एवं तुम्हारे चपल होने पर भी जो सरस है ऐसी सरोजिनी को तुम कैसे छोड़ते हो।

इत्यादिक अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रकृत का व्यवहार साक्षात् गृहीत होने के कारण विशेष्य के द्वारा भी उपस्थित करवाया ही जाता है, इसलिए अतिव्याप्ति नहीं होती।

किन्तु यदि जलक्रीडादिक में भ्रमर का वृत्तान्त ही प्रस्तुत माना जाय (और नायक का वृत्तान्त अप्रस्तुत हो) तब यह समासोक्ति ही है।*

---

* यहाँ नागेश ने अनेक पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष उठाकर यह विचार किया है कि 'समासोक्ति में प्रस्तुत व्यहार में अप्रस्तुत व्यवहार

समासोक्ति का शाब्दबोध

समासोक्ति में प्रथमतः वाक्यार्थ अभिधा से ही प्रतीत होता है; जैसे—

विबोधयन्करस्पर्शैः पद्मिनीं मुद्रिताननाम् ।
परिपूर्णानुरागेण प्रातर्जयति भास्करः ॥

प्रभातकाल में मुद्रितानन (मुकुलित + मुंहबंद करके सोई हुई) पद्मिनी (कमलिनी + उत्तम नायिका) को परिपूर्ण अनुराग से करस्पर्शों (किरणस्पर्शों + हस्तस्पर्शों) द्वारा जगाते हुए भास्कर की विजय है ।

इस पद्य में 'किरणों का स्पर्श जिसका कारण है और मुकुलित पद्मिनी कर्म है उस विकास के अनुकूल व्यापारवान् (प्रयत्नवान्) से अभिन्न भास्कर की जय है' यह अर्थ प्रथमतः अभिधा से ही प्रतीत होता है । अब जो यहाँ दूसरा अर्थ 'हस्तस्पर्श जिसका करण है, नायिकाविशेष जिसका कम है ऐसे अनुनय के अनुकूल व्यापारवान् से अभिन्न' इत्यादिकरूप में प्रतीत होता है इसके विषय में तीन मत हैं (१) कुछ लोगों का कथन है कि यह अर्थ दानों अर्थों से सम्बन्ध रखने वाली उसी शक्ति (अभिधा) के द्वारा प्रतीत होता है (२) जो लोग एक शक्ति से एक ही अर्थ की प्रतीति मानते हैं उनके मत से दूसरी शक्ति से प्रतीत होता है (३) और जो लोग दूसरी शक्ति नहीं

मात्र का आरोप होता है अथवा प्रस्तुत धर्मी में अप्रस्तुत धर्मी का भी और अन्त में 'अप्रस्तुत धर्मी संबंधी व्यवहार समारोप' ही सिद्धान्त रूप में सिद्ध किया है, परन्तु वह बहुत विस्तृत है और सर्वजनबोधगम्य भी नहीं है, अतः उसका पूरा विवरण यहाँ देना उचित नहीं समझा गया । —अनुवादक

मानते उन लोगों के मत में व्यञ्जना से प्रतीत होता है। इस विषय में सहृदय ही प्रमाण हैं—इन तीनों में से जो उन्हें जँचे सो मानें।

प्राचीन आचार्यों का मत

अब यह सोचिए कि ये दोनों वाक्यार्थ यदि, बांए और दाहिने सींगों की तरह अत्यन्त संसर्गरहित हों तो भगवान् भास्कर की 'कामुकता' और 'कमलिनी' का 'नायिकात्व' जो कि सबकी प्रतीति से सिद्ध हैं, विरुद्ध होंगे—पहले अर्थ से दूसरे अर्थ का कोई मेल नहीं बैठेगा और दोनों अर्थों की प्रधानता होने से वाक्यभेद भी होगा।

अब यदि वाक्यभेद को मिटाने के लिए दूसरे अर्थ का प्रस्तुत कर्ता (भास्कर) पर आरोप किया जाय तो सूर्य 'कमलिनी का विकास-कर्त्ता आर नायिका का अनुनयकर्त्ता है' इस प्रकार 'एक सूर्य में दोनों बातें हैं' ऐसा बोध हो सकता है, किन्तु पूर्वोक्त अनुपपत्ति (परस्पर-असंबद्धता) का परिहार तो हुआ नहीं।

अब यदि श्लेषमूलक अभेदाध्यवसान से कमलिनी आदिक में नायिकात्व आदि की प्रतीति सिद्ध की जाय तो भी भगवान् भास्कर तो श्लिष्ट पद से उपस्थापित हैं नहीं, अतः उनसे तो नायकत्व का सम्बन्ध हुआ नहीं। और यदि 'पद्मिनी' के स्थान पर 'नलिनी' शब्द रख दिया जाय तो वह भी नायिका के रूप में कैसे प्रतीत हो सकती है (पर 'समासोक्ति' तो तब भी होगी ही)।

इसलिए यह मानना चाहिए कि विशेषणों की समानता के प्रभाव से प्रतीत होने वाला अप्रकृत वाक्यार्थ, अपने अनुकूल नायिकादिक अर्थ का आक्षेप करके और तब नायिकादिक अर्थों से परिपूर्ण अतएव विशिष्ट रूप में उपस्थित हुआ, अप्रकृत वाक्य के अवयवों से अपने अवयवों का तादात्म्य बनाकर प्रकृत वाक्य के अर्थ में अभेद से स्थित होता है। और वह अप्रकृत वाक्यार्थ परिणामालङ्कार की तरह (जैसे

वहाँ 'दृगब्जेन निरीक्षते' में कमल को दृष्टि रूप में उपस्थित होकर निरीक्षण में अन्वित होना पड़ता है वैसे) कार्य में प्रकृत रूप से ही उपयुक्त होता है और रसादिक के लिए अपने (नायिकादिक के) रूप में उपयुक्त होता है।

वाक्यार्थसम्बन्धी रूपक से इसमें यह भेद है कि समासोक्ति में अप्रकृत अर्थ पृथक् शब्दों से वर्णन नहीं किया जाता और पदार्थरूपक से तो स्पष्ट ही भेद है, क्योंकि यहाँ एक पद के अर्थ के अभेद का प्रश्न ही नहीं, वाक्यार्थों का ही अभेद है। इसी तरह वाक्यार्थश्लेष से भी इसका भेद है, क्योंकि समासोक्ति आक्षिप्त अर्थों से भी होती है और श्लेष में सब अर्थ शब्दप्रतिपादित होते हैं। इस तरह शक्ति और आक्षेप से सब बात का निर्वाह हो जाता है यह है इस विषय में भामह, उद्भट आदि प्राचीन आचार्यों का आशय।

पण्डितराज का मत

(पर इस सिद्धान्त में अरुचि यह है कि कहीं-कहीं श्लेष के तथा विशेषणों की सामनता के अभाव में भी प्रकारान्तर से अप्रकृत अर्थ की प्रतीति होती है, ऐसे स्थलों में अर्थ का आक्षेप नहीं हो सकता, अतः ऐसे स्थलों में पूर्वोक्तरीत्या केवल शक्ति और आक्षेप से निर्वाह कैसे हो सकता है इसलिए आगे अपना सिद्धान्त बताते हैं—)'निशामुखं चुम्बति चन्द्र एषः—अर्थात् यह चन्द्र निशामुख को चुम्बन कर रहा है' इत्यादिक में 'निशा' और 'चन्द्र' दोनों शब्दों में श्लेष नहीं है और केवल 'मुखचुम्बन' पुत्रादिक का भी हो सकता है तो फिर उस 'मुखचुम्बन' के द्वारा नियमतः नायक का ही आक्षेप कैसे हो सकता है। यदि किसी तरह नायक का आक्षेप मान भी लिया जाय तो नायक का 'चन्द्र' के साथ और नायिका का 'निशा' के साथ अभेद से अन्वय कैसे होगा, 'चुम्बन' आदि में ही भेद सम्बन्ध से अन्वय क्यों नहीं

होगा। अब यदि भेदसम्बन्ध से चुम्बन आदि में अन्वय माना जाय तो निशा और चन्द्रमा की नायक-नायिकारूपता से तटस्थता हो जाने पर रस का उद्बोध न हो सकेगा। हम देखते हैं कि 'निशामुखं चुम्बति चन्द्र एषः' के स्थान पर 'निशामुखं चुम्बति चन्द्रिकैषा' यह बना दिया अथवा 'अहर्मुखं चुम्बति चण्डभानुः' कहा जाय तो नायकत्व की प्रतीति नहीं होती, क्योंकि पहले में चुम्बन करने वाली चन्द्रिका स्त्रीलिङ्ग है और दूसरे उदाहरण में दिन रूपा नपुंसक लिङ्ग के मुख का चुम्बन है, अतः यह मानना पड़ता है कि प्रकृत उदाहरण में नायिकात्व और नायकत्व 'टाप्' प्रत्यय के द्वारा प्रतिपादित स्त्रीत्व से रात्रि में, और (पुल्लिंग की) प्रथमा से प्रतिपादित पुरुषत्व से चन्द्रमा में अभिव्यक्त होता है और इस तरह निशा का नायिकात्व और चन्द्रमा का नायकत्व सिद्ध हो जाता है। श्लिष्ट विशेषणों से (भी) व्यञ्जना व्यापार के द्वारा ही अप्रकृत अर्थ का बोध होता है, क्योंकि प्रकरणादि के द्वारा शक्ति का तो नियन्त्रण हो जाता है।

अतः यह सिद्ध हुआ कि समासोक्ति में व्यञ्जना के प्रभाव से अप्रकृत वाक्यार्थ के अभेद से प्रकृतवाक्यार्थ स्थित रहता है और समासोक्ति गुणीभूतव्यङ्ग का भेद है—यही मार्ग सुन्दर है। (केवल शक्ति और आक्षेप से काम नहीं चल सकता)।

अलङ्कारसर्वस्व का खण्डन

अलङ्कारसर्वस्वकार ने लिखा है कि "विशेषणों की समानता से प्रतीत होने वाला अप्रस्तुत प्रस्तुत के अवच्छेदकरूप में प्रतीत होता है—अर्थात् 'अयमैन्द्रीमुखं पश्य रक्तश्चुम्बति चन्द्रमाः' यहाँ नायकत्व से अवच्छिन्न चन्द्र की प्रतीति होती है। और (अप्रस्तुत के) अवच्छेदक होने के कारण व्यवहार का आरोप होता है, रूप का आरोप नहीं होता, क्योंकि रूप का आरोप हो तो (अप्रस्तुत से प्रस्तुत के) अवच्छादित हो जाने

के कारण प्रकृत में (अप्रकृत के) रूप की रूपिता हो जाने के कारण रूपक ही हो जायगा" ।

सो यह कहने मात्र के लिए सुन्दर है। इस विषय में पूछा जा सकता है कि अप्रकृत व्यवहार प्रकृत कर्ता में अपने कर्ता नायकादि से विशिष्ट होकर आरोपित किया जाता है अथवा अविशिष्ट। यदि आप पहला पक्ष लें—अर्थात व्यवहार अपने कर्ता नायिकादिक से विशिष्ट होकर आरोपित किया जाता है तो यह उचित नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर नायक के व्यवहार का ही आश्रय होने से चन्द्रादिक में नायक की समानता सिद्ध हो जायगी, जो श्लेषादि की भित्ति पर अभेद का अध्यवसान करके (केवल) व्यवहार का अभेद प्रतिपादन करना चाहने-वाले कवि को इष्ट नहीं है, क्योंकि कवि को तो चन्द्रमा आदि में (केवल) नायकत्व अभिप्रेत है, न कि नायक की समानता और वह (केवल नायकत्व) नायक (चन्द्रमा आदि) के व्यवहार का विशेषण होने पर सिद्ध होता नहीं। दूसरे, 'निशामुखं चुम्बति चन्द्रः'—इस जगह आपके हिसाब से चन्द्रमा में (केवल) नायक के व्यवहार का आरोप ही है, न कि नायकत्व का आरोप, अन्यथा आपकी दृष्टि में रूपक हो जायगा। इसी तरह निशा में नायिकात्व का आरोप भी नहीं मानना होगा, क्योंकि वहाँ यहाँ भी है। इस दशा में 'नायिका से असंबद्ध 'केवल मुखचुम्बन' के असुन्दर होने से और चंद्रमा में नायक के असाधारण व्यवहार का संबंध भी न होने से आरोप का क्या फल हुआ? अब यदि इसका उत्तर आप यह दें कि निशा में स्त्रीलिङ्ग के द्वारा नायिकात्व व्यङ्ग्य है (अतः सुन्दरता आ जायगी) तो चन्द्रमा में रहने वाले पुल्लिङ्ग द्वारा व्यङ्ग्य नायकत्व का भी विचार कीजिए। तब फिर व्यवहार अपने कर्त्ता से अविशिष्ट कहाँ रहा?

अब दूसरे पक्ष को लीजिये—अर्थात् कर्त्ता (नायकादिक) से अविशिष्ट केवल अप्रकृत व्यवहार का आरोप माना जाय तो वह भी उचित नहीं। क्योंकि नायक के सम्बन्धीरूप में अज्ञात (अर्थात् जिसका नायक से सम्बन्ध विदित नहीं है ऐसे) केवल 'मुखचुम्बन' में सुन्दरता नहीं है। दूसरे, 'तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्' इस निदर्शना से विलक्षणता दिखाने के लिए जो हमने (रूपक और समासोक्ति में) वैधर्म्य बतलाया है उसके माने बिना गति नहीं। शेष शीघ्र ही आगे कहा जा रहा है।

कुवलयानन्द का खण्डन

और जो अलङ्कारसर्वस्वकार की आज्ञा में चलने वाले कुवलयानन्द-कारने पूर्वपक्ष और सिद्धान्त सहित लिखा है कि "समासोक्ति में प्रकृत और अप्रकृत के विशेषणों की साधारणता से अथवा समानरूपता से जो अप्रस्तुत वृत्तान्त की प्रतीति करवाई जाती है वह प्रकृत विशेष्य (चन्द्रा-दिक) में उस वृत्तान्त का आरोप करने के लिए है। कारण, जिसका, प्रस्तुत से सर्वथा ही संबन्ध न हो ऐसी वस्तु कवि के संरम्भ का विषय नहीं हो सकती। इसलिए यह मानना पड़ता है कि—समासोक्ति में (प्रस्तुत में) अप्रस्तुत के व्यवहार का आरोप सुन्दरता का कारण है, न कि रूपक की तरह यहाँ प्रस्तुत में अप्रस्तुत का समारोप है, क्योंकि जैसे—'मुखं चन्द्रः' इत्यादिक में मुख में चन्द्रत्व के आरोप का हेतु मुखशब्द का समीपवर्त्ती होना है वैसे 'रक्तश्चुम्बति चन्द्रमाः'–रक्त (लाल + अनुरक्त) चन्द्रमा चुम्बन करता है' इत्यादिक समासोक्ति के उदाहरण में चन्द्रादिक पर जारत्व आदि के आरोप का हेतु जार आदि का वाचक पद समीपवर्त्ती नहीं है, और न यहाँ 'निरीक्ष्य विद्युन्नयनैः पयोदो मुखं निशायामभिसारिकायाः—अर्थात् बादल ने बिजली रूपी नयनों से अभिसारिका के मुख को देखकर' इत्यादिक एकदेशविवर्ती रूपक में

जैसे देखने के अनुकूल नयन पद का ग्रहण मेत्र के 'द्रष्टा पुरुष होने' की प्रतीति कराने वाला है वैसे काई जारत्व की प्रतीति कराने वाला पद ही है। अथवा जैसे—

त्वय्यागते किमिति वेपत एष सिन्धुस्त्वं
सेतुमन्थकृदतः किमसौ बिभेति—

अर्थात् तुम्हारे आने पर यह समुद्र क्यों काँप उठता है। क्या यह इसलिए डरता है कि तुम (रामावतार में) सेतु और (क्षीर समुद्र-मंथन के समय) मन्थन के कर्त्ता हो'।

इस जगह '(समुद्र पर) सेतु और मन्थन का करना' विष्णु का कार्य है और वह राजा के विष्णुत्व की प्रतीति करा देता है, वैसा ही कुछ है। इसलिए (समासोक्ति में) विशेषण से समर्पित केवल अप्रस्तुत के व्यवहार का आरोप ही सुन्दरता का हेतु है।

यद्यपि 'विशेषणों से समर्पित दोनों अर्थों' की प्रधानता समान होती है तथापि दो में से एक (व्यवहार) के आश्रयरूपी धर्मी पर दूसरे (व्यवहार रूप धर्म) का आरोप मानना आवश्यक है। ऐसी दशा में शब्द से प्रतिपादित 'प्रकृत व्यवहार के धर्मी' पर ही 'अप्रकृत के व्यवहार' का आरोप उचित है और केवल स्वरूप से ज्ञात (नायकादि से असंबद्ध) व्यवहार का आरोप करने में सुन्दरता न होने के कारण, और कामुक आदि अप्रस्तुत धर्मी के सम्बन्धी रूप से अवगत होने पर रस के अनुकूल होने के कारण, कामुकादि से संबद्ध रूप में ही उसका आरोप किया जाता है। रहे कामुकादिक, सो वे वाचक पद से अनुपस्थित होने पर भी 'चुम्बनादिक' से व्यंजित होकर व्यवहार के विशेषण बन जाते हैं। अतः 'अयमैन्द्रीमुखं पश्य रक्तश्चुम्बति चन्द्रमाः—देखिए, यह चन्द्रमा रक्त (लाल + अनुरक्त) होकर प्राची दिशा के मुख को चूम रहा है'

इस जगह 'जारसम्बन्धिताहशचुम्बनरूपव्यवहाराश्रयश्चन्द्रः—जार से सम्बन्ध रखने वाले वैसे चुम्बनरूपी व्यवहार का आश्रय चन्द्रमा' यही बोध होता है।"

सो यह सारा असंगत है। देखिए—सबसे पहले

(१) जो यह कहा जाता है कि "मुखं चन्द्रः इस जगह मुख में चन्द्रत्व का आरोप है" सो उचित नहीं। कारण, दो प्रातिपदिकार्थों का अभेद से ही अन्वय होने के कारण मुख में चन्द्र का आरोप होता है, न कि चन्द्र के विशेषण चन्द्रत्व का।

(२) और जो यह कहा जाता है कि "जार-आदि पद के सपीपवर्ती होने रूपी हेतु के अभाव से चन्द्रादिक में जारत्व का आरोप नहीं है" सो यह भी ठीक नहीं। कारण, श्रौत आरोप में ही वैसे समीपवर्त्ती होने को हेतु माना जाता है, अर्थप्राप्त आरोप में नहीं, अन्यथा रूपकध्वनि का उच्छेद हो जायगा। आप कहेंगे—कि 'रूपकध्वनि में जिस (चन्द्रादि) को आरोपित किया जाता है उसके साधारण धर्म की उक्ति आरोपित किए जाने वाले तादात्म्य को अभिव्यक्त करती है किन्तु यहाँ वैसा कुछ नहीं है' तो इसका उत्तर यह है कि यहाँ भी परनायिका का मुखचुम्बन जो (प्राचीनों के मत से) श्लेष की मर्यादा से अथवा (अपने मत से) व्यंजना की मर्यादा से प्रतीत होता है उसका प्रकृत धर्मी चन्द्रमा में आरोप किये जाने पर उसके जार का असाधारण धर्म' हो जाने से वह स्पष्ट ही जारत्व का अभिव्यंजक है।

(३) इसी से "विद्युन्नयनैः" और 'त्वं सेतुबन्धनकृत्' इन स्थानों पर जैस 'द्रष्टृत्व' और 'विष्णुत्व' की प्रतीति करवाने वाला धर्म विद्यमान है वैसे यहाँ नहीं है यह कहना भी निरस्त हो जाता है, क्योंकि 'मुखचुम्बन रूपी जार का व्यवहार' व्यञ्जक रूप में विद्यमान है। यदि आप कहें

कि 'जारव्यवहार' का आरोप चन्द्रादि में जारत्वादि का आरोप न करने पर भी सिद्ध हो जाता है, अतः अनुपपत्ति के अभाव में जारत्व को अवगत नहीं करवा सकता। तो इसका उत्तर यह है कि—गमक (अवगत करवाने वाला) दो प्रकार का होता है आक्षेपक और व्यंजक, उनमें से आक्षेपक गमक अनुपपन्न होने पर ही किसी बात को प्रतीत करवाता है, किन्तु व्यंजक गमक अनुपपत्ति की अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादिक में वैसा ही देखते हैं, अन्यथा 'अर्थापत्ति' से गतार्थ होने के कारण व्यंजना व्यर्थ हो जायगी। दूसरे, आपको भी जार-आदि अप्रकृत धर्मी की प्रतीति अवश्य ही कहनी पड़ेगी, क्योंकि उसे आरोपित किए जानेवाले व्यवहार का विशेषण बनाना है, अन्यथा (मुखचुम्बन के जारसम्बन्धी न होने पर) केवल स्वरूप से अप्रकृत व्यहार का आरोप करने से सुन्दरता न हो सकेगी। इस तरह जब जार आदि की उपस्थिति आवश्यक है तब वैसा चुम्बन करनेवाले चन्द्रादिक में जारादिक की तादात्म्य सम्बन्ध से विशषणता उचिय है, न कि भेद सम्बन्ध से व्यवहार में। अर्थात् चन्द्र को जाररूप मानना ही उचित है, न कि चन्द्र में जारव्यवहार मानना, क्योंकि चन्द्रमा के जार से भिन्न रूप में प्रतीत होने पर 'परनायिका के वदन-चुम्बन' का वर्णन असुन्दर होगा।

(४) और देखिए 'निशामुखं चुम्बति चन्द्र एषः' इस जगह 'मुखचुम्बन' रूपी अर्थ के सचिव स्त्रीलिंग और पुल्लिङ्ग से नायिकात्व और नायकत्व अभिव्यक्त होते हैं—इस बात में तो कोई विवाद है नहीं, अन्यथा 'निशामुखं चुम्बति चन्द्रिकैषा' 'अहर्मुखं चुम्बति भानु-बिम्ब' इत्यादिक में भी नायक की प्रतीति होने लगेगी। सो इस तरह 'समानाधिकरणता' रूपी संसर्ग से अभिव्यक्त होने वाला नायकत्व चन्द्रमा और निशा पर नायकत्व और नायिकात्व के आरोप में ही

पर्यवसित होता है और ऐसा न मानने से आपके उपजीव्यग्रन्थ (अलंकार-सर्वस्व) का विरोध भी होगा, क्योंकि उसमें लिखा है कि—"अपने रूप को न छोड़कर निशा और शशी नायिकात्व और नायकत्व रूपी धर्म से विशिष्ट प्रतीत होते हैं" इतना ही नहीं, किन्तु उसकी टीका में जो यह लिखा है कि—"अनिवार्य होने के कारण अप्रकृत व्यवहार से आक्षिप्त धर्मी (नायकादि) के द्वारा ही प्रस्तुत धर्मी (चन्द्रादिक) अवच्छिन्न होता है" इसका भी विरोध होगा।

(५) और जो आपने कहा है कि "चुम्बनादिक के व्यवहार से अभिव्यक्त होने वाला नायक व्यवहार का ही विशेषण हो सकता है, अभेद सम्बन्ध द्वारा चन्द्रमादि का विशेषण नहीं, क्योंकि 'चन्द्र'—आदि के समानाधिकरण पद (नायक वाचक शब्द) के द्वारा यह अर्थ उपस्थित नहीं करवाया गया है"। इसके विषय में हमें यह कहना है कि जो बात आपने चंद्र के विषय में कही है वही बात (नायिकावाचक पद की अनुपस्थिति) निशा में भी है, इसलिए वहाँ भी 'नायिकात्व' का आरोप नहीं होगा, किन्तु, नायक की तरह, अभिव्यक्त हुई नायिका की भी 'व्यवहार से संबंध रखने वाली' के रूप में ही अवस्थिति होगी—यह मानना पड़ेगा। पर यह बाधित है; कारण, नायिकात्व से संबंध रखनेवाली 'केवल रात्रि' का 'मुखचुम्बन' रूपी व्यवहार नायक से संबंध नहीं रख सकता, क्योंकि रात्रि से तादात्म्य माने बिना 'नायिका' अलग से मुख (वदन) का विशेषण बनने का सामर्थ्य नहीं रखती—रात्रि और नायिका को अभिन्न मानो तभी मुख का नायिका से संबंध हो सकता है, अन्यथा नहीं। इतना ही नहीं, किन्तु

निर्लक्ष्मीकाभवत्प्राची प्रतीचीं याति भास्करे।
प्रिये विपक्षरमणीरक्ते का मुदमश्नुति ॥

सूर्य के प्रतीची (पश्चिम दिशा) गमन करने पर प्राची (पूर्व दिशा) शोभारहित हो गई। प्रिय के शत्रुरमणी में आसक्त होने पर कौन सुखी रह सक ी है।'

इस जगह पूर्वार्द्ध में जो समासोक्ति है वहाँ यदि भास्कर की नायकत्व के रूप में और प्राची प्रतीची का नायिकात्व के रूप में प्रतीति न हो तो उत्तरार्ध में प्रियत्व आदि से उसका समर्थन करना सर्वथा ही अनुपपन्न हो जाता है। सो यह भी गड़बड़ ही है।

(६) अब एक बात और लीजिए। हम आपसे पूछते हैं कि— 'प्रकृत विशेषण में अप्रकृत व्यवहार' प्रकृत व्यवहार से तटस्थ रखकर आरोपित किया जाता है अथवा उससे अभिन्न मानकर। यदि तटस्थ माना जाय तो उचित नहीं। ऐसा मानने से प्रकृत विशेष्य में प्रकृत और अप्रकृत दो व्यवहारों के होने से 'एक में दो' ऐसा बोध होगा और ऐसा बोध असिद्ध है—यह कहा जा चुका है कि 'तब अप्रकृत व्यवहार प्रकृत से असंबद्ध हो जायगा'।

अब यदि कहा जाय कि 'प्रकृत विशेष्य' पर दोनों व्यवहारों का अभिन्न होकर आरोप होता है' सो वह भी ठीक नहीं। कारण, इसकी अपेक्षा तो 'प्रकृत व्यवहार में ही अप्रकृत व्यवहार का अभेद से आरोप श्रेष्ठ है', न कि (भिन्न-भिन्न दो व्यवहारों को अभिन्न मानकर उनका) भेद संसर्ग से प्रकृत विशेष्य पर आरोप। कारण, इस दशा में अभेदांश में और व्यवहारांश में दो जगह आरोप स्वीकार करना पड़ता है अर्थात् पहले अप्रकृत व्यवहार को प्रकृत व्यवहार के अभेद में विशेषण रूप से जोड़ना पड़ेगा और तब-उन दोनों अभिन्न व्यवहारों को भेद संसर्ग से विशेष्य में। और हमारे मत में तो केवल अभेद अंश में ही आरोप मानना पड़ता है, इसलिए हमारे मत की विशेषता स्पष्ट ही है।

अतः यह मानना चाहिए कि—अप्रकृतव्यवहार से अभिन्न रूप में माना हुआ प्रकृत व्यवहार अप्रकृत व्यवहार के विशेष्य से अभिन्न रूप में स्थित प्रकृत विशेष्य में भासित होता है। यहाँ प्रकृत अर्थ में उपस्कारक होने के कारण अप्रकृत अर्थ गौण है यही प्रकार सुंदर है।

यहाँ यह सूक्ष्म विचार भी कर लेना चाहिए कि—यह आरोप 'स्वपादनखरत्नानाम्' इत्यादि वाक्यार्थरूपक की तरह विशिष्ट अर्थ का विशिष्ट अर्थ में नहीं है, कारण, समासोक्ति में प्रकृतवाक्यार्थ और अप्रकृतवाक्यार्थ पृथक्-पृथक् शब्दों से ज्ञात नहीं होते, किन्तु प्रकृत-वाक्यार्थ के घटक पदार्थ तादात्म्य संबंध के द्वारा अप्रकृतवाक्यार्थ के घटक पदार्थों से उपश्लिष्ट होकर ही विशिष्टता का अनुभव करते हुए यहाँ वाक्यार्थ के रूप में परिणत होते हैं और अतिशयोक्ति की तरह यहाँ अप्रकृत से प्रकृत का निगरण तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि यहाँ प्रकृत विशेष्य शब्दवाच्य है—अतिशयोक्ति में तो वह (प्रकृत) रहता ही नहीं।

समासोक्ति के भेद

अच्छा अब इसके भेद बताए जाते हैं—

विशेषण की समानता दो प्रकार से होती है श्लेष से अथवा शुद्ध साधारणता से। वह प्रत्येक दो दो प्रकार की है—(१) कहीं किसी अन्य धर्म को आगे रख कर और कहीं कार्य को आगे रख कर। इस तरह चार भेद होते हैं।

उनमें से **श्लेष में धर्मान्तर को आगे रखकर विशेषण की समानता का उदाहरण** यद्यपि 'विबोधयन्करस्पर्शैः०' इस पद्य द्वारा पहले दिया जा चुका है, तथापि फिर दिया जाता है—

उत्सङ्गे तव गङ्गे ! पायं पायं पयोऽतिमधुरतरम् ।
शमिताखिलश्रमभरः कथय कदाहं चिराय शयिताहे॥

हे गङ्गे आपकी गोदी में अत्यन्त मधुरतर पयपान करता हुआ सारे श्रम के बोझ को शान्त करके, कहिए, मैं चिरकाल के लिए कब सोऊँगा ?

यहाँ 'माँ-बच्चे के वृत्तान्त' के अभेद से प्रकृत वृत्तान्त स्थित है।

कार्य को आगे रखकर श्लेष से विशेषण की समानता का उदाहरण—"आबध्नास्यलकान्निरस्यसि०' इस पूर्वोक्त पद्य में दिया जा चुका है।

शुद्ध साधारणता से अन्य धर्म को आगे रखकर विशेषण की समानता; जैसे—

अलंकर्तुं कर्णौ भृशमनुभवन्त्या नवरुजां
ससीत्कारं तिर्यग्वलितवदनाया मृगदृशः ।
कराब्जव्यापारानतिसुकृतसारान्रसयतो
जनुः सर्वश्लाघ्यं जयति ललितोत्तंस! भवतः ॥

हे सुंदर, कर्णभूषण, तुम्हारे सर्वश्लाघ्य जन्म की जय है। कानों को अलङ्कृत करने के लिए नवीन पीड़ा का अत्यन्त अनुभव करती और सीत्कार के साथ मुँह को तिरछा झुकाती मृगनयनी के करकमलों की चेष्टाएँ जो अत्यन्त सुकृत का सार हैं उनका रस ले रहे हो।

यहाँ नववधू से क्लेशपूर्वक कान में पहने जाते हुए कर्णभूषण का वृत्तान्त जिसने अभी-अभी अधर खण्डित किए हैं उस कामुक के वृत्तान्त के अभेद से स्थित है।

अथवा जैसे—

अन्धेन पातभीत्या संचरता विषमविषयेषु ।
दृढमिह मया गृहीता हिमगिरिशृङ्गादुपागता गङ्गा ॥

विषम विषयों में (दुखदायी विषयों + ऊबड़-खाबड़ प्रदेशों) में भटकते मुझ अंधे ने, पतन के भय से, हिमालय के शिखर से आई गङ्गा को दृढता से पकड़ लिया है ।

यहाँ 'पहाड़ के शिखर पर उत्पन्न हुई बांस की लकड़ी' के व्यवहार के अभेद से प्रकृत वृत्तान्त स्थित है

कार्य की साधारणता से; जैसे—

देवत्वां परितः स्तुवन्तु कवयो लोभेन किं तावता
स्तव्यस्त्वं भवितासि यस्य तरुणश्चापप्रतापोऽधुना ।
क्रोडान्तः कुरुतेतरां वसुमतीमाशाः समालिङ्गति
द्यां चुम्बत्यमरावतीं च सहसा गच्छत्यगम्यामपि ॥

हे देव, कवि लोग चारों ओर से लोभ के कारण तुम्हारी स्तुति भले ही करें—पर इससे क्या आप स्तुति के योग्य हो जाएँगे ? जिसके धनुष का तरुण प्रताप वसुमती (पृथ्वी) को छाती से लगाता है, दिशाओं को आलिङ्गन करता है, द्यौ (स्वर्ग) को चूमता है और अगम्य (अप्राप्य + गमन के अयोग्य) भी अमरावती से (वस्तुत; में) सहसा (अनायास + बलात्) गमन करता है ।

कार्य और धर्मान्तर के मिश्रण से साधारणता; जैसे—

उत्क्षिप्ताः कबरीभरं, विवलिताः पार्श्वद्वयं, न्यक्कृताः
पादाम्भोजयुगं, रुषा परिहृता दूरेण चेलाञ्चलम् ।

गृह्णन्ति त्वरया भवत्प्रतिभटक्ष्मापालवामभ्रुवां
यान्तीनां गहनेषु कण्टकचिताः के के न भूमीरुहाः॥

हे राजन्, कौन ऐसे पेड़ हैं, जो कण्टकचित (कँटीले + पुलकित) होकर जङ्गल में जाती हुई आपके शत्रु-राजाओं की रमणियों के, ऊँचे उठाने पर केश-पाश को, टेढ़े करने पर दोनों बगलों को, दबाने पर दोनों चरण-कमलों को और रोष से दूर हटा देने पर तत्काल कपड़े का प्रांत न पकड़ लेते हों।

यहाँ 'कंटकचितता' (रोमाञ्चितता) धर्मान्तर (नायक का एक धर्म) है और 'केश पाश पकड़ना' आदि कार्य है—इन दोनों का मिश्रण है।

समासोक्ति में वाच्य अर्थ ही प्रधान होता है

यह कहा जा चुका है कि समासोक्ति में अप्रकृत व्यवहार उपस्कारक मात्र होता है, प्रधान नहीं, प्रधानता तो उससे उपस्कृत वाच्य अर्थ की ही होती है। यदि व्यङ्ग्य की ही प्रधानता हो और वाच्य की नहीं, तब 'देव त्वां परितः स्तुवन्तु०' इस पूर्वोदाहृत पद्य में निंदा के मिष से स्तुति में पर्यवसान न होगा, क्योंकि स्तुति प्रकृत व्यवहार (राजा के प्रतापप्रकर्ष, जो वाच्य है) का आश्रय है और निंदा है अप्रकृत व्यवहार (अनेक-स्त्री-संग, जो व्यङ्ग्य है) का आश्रय। इस बात को ध्यान में रखना चाहिए।

अलङ्कारसर्वस्व का खण्डन

(१)

और जो कि अलङ्कारसर्वस्वकार ने कहा है—

"तन्वी मनोहरा बाला पुष्पाक्षी पुष्पहासिनी।
विकासमेति सुभग ! भवद्दर्शनमात्रतः॥

हे सुभग, आपके केवल दर्शन से ही पुष्पाक्षी, पुष्पहासिनी, वह दुर्बल तथा मनोहर बाला विकसित हो जाती है।

यहाँ दुर्बलता आदि विशेषणों की समानता से चंचलनयनी में लता के व्यवहार की प्रतीति होती है, उस प्रतीति का कारण है केवल लता में रहने वाले 'विकास' नामक धर्म का आरोप। यदि इसे आरोप का कारण न माना जाय तो केवल विशेषणों की समानता से लता में नियत व्यवहारों' की (कामिनी में) प्रतीति नहीं हो सकती। प्रकृत (नायिका के पक्ष) में विकास शब्द प्रसन्नता अर्थ में लाक्षणिक समझना चाहिए।"

इस पर विचार किया जाता है। एक तरफ तो आपही ने कहा है कि "यहाँ केवल विशेषणों की समानता से लता के व्यवहार की प्रतीति नहीं है, किंतु लतारूपी अप्रकृत के असाधारण धर्म 'विकास' के आरोप की महिमा से उसकी प्रतीति होती है।" दूसरी तरफ आप समासोक्ति का लक्षण बता रहे हैं—"विशेषणसाम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वम्—अर्थात् विशेषण की समानता से अप्रस्तुत के प्रतीत होने को समासोक्ति कहते हैं।"

अब आप सोचिए कि इस आपके लिखे समासोक्ति के लक्षण की उक्त उदाहरण में कैसे प्रवृत्ति होगी ? यदि आप कहें कि—लक्षण में 'विशेषणों की समानता मात्र से प्रतीत होना' यह कथन अभीष्ट नहीं है, किन्तु 'विशेषणों की समानता से प्रतीत होना' इतना मात्र ही अभीष्ट है। अतः यदि प्रकृत उदाहरण में विशेषणों की समानता के साथ 'विकासरूपी' धर्म की भी गमकता अधिक हो गई तो इतने से 'विशेषणों की समानता की गमकता' में क्या हानि हो गई ? तो ऐसा कहना उचित नहीं, कारण, ऐसा मानने से श्लेष में अतिव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि वहाँ विशेष्य के श्लिष्ट होने पर भी 'विशेषणों की समानता' में तो कोई त्रुटि है नहीं।

अब यदि आप कहें कि लक्षण में 'विशेषणसाम्य' शब्द से 'विशेषणों की समानता' मात्र कहना अभीष्ट नहीं है, किन्तु 'केवल विशेषणों का समानता' यह कथन अभीष्ट है। सो अब न तो श्लेष में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि वहाँ 'विशेष्य की श्लिष्टता' भी अप्रकृत अर्थ की प्रतीति में सहायक है, अतः विशेषण केवल न रहे और न 'तन्वी मनोहरा' इस उदाहरण में ही लक्षण की अव्याप्ति होती है, क्योंकि यहाँ भी समानता तो विशेषणों के अतिरिक्त किसी की है नहीं, विकास तो असाधारण अर्थ है तो यह भी उचित नहीं। कारण, 'तन्वी मनोहरा०' इस उदाहरण में समासोक्ति है ही नहीं, क्योंकि यह व्यवस्था मानी जाती है कि 'जहाँ साधारण विशेषणों के प्रभाव से अप्रकृत की स्फूर्ति होती है वहाँ समासोक्ति होती है और जहाँ 'किसी असाधारण के प्रभाव' से अप्रकृत की स्फूर्ति होती है वहाँ व्यङ्गय रूपक होता है।' ऐसी स्थिति में प्रकृत उदाहरण में साधारण विशेषण होने पर भी उनके प्रभाव से लता की स्फूर्ति नहीं होती, किंतु 'विकास' के प्रभाव से होती है, इसलिए यहाँ व्यङ्गयरूपक ही उचित है। जैसे कि—

"चकोरनयनानन्दि कह्लाराह्लादकारणम्।
तमसां कदनं भाति वदनं सुन्दरं तव॥

चकोरों के नेत्रों को आनंद देने वाला, कल्हार पुष्प के आल्हाद का कारण तम का नाश करनेवाला तुम्हारा सुन्दर वदन सुशोभित हो रहा है।"

इत्यादिक में 'सुन्दर' इस साधारण विशेषण के होने पर भी रूपक ही है वैसे ही यहाँ भी व्यङ्गय रूपक ही समझना चाहिए। यह दूसरी बात है कि कहीं रूपक गौण होता है, जैसे 'तन्वो मनोहरा०' इस उदाहरण में और कहीं प्रधान, जैसे 'चकोरनयनानंदि०' इस उदाहरण

में कहा जायगा कि तब 'साधारणता से विशेषणसाम्यमूला समासोक्ति' का उदाहरण ही नहीं रहेगा। सो यह भय व्यर्थ है, क्योंकि इसका "अंधेन पातभीत्या०" यह हमारा पहले दिया हुआ उदाहरण विद्यमान है, जहाँ कि असाधारण धर्म के आरोप के विना केवल साधारण विशेषणों के प्रभाव से ही अप्रकृत की प्रतीति हो जाती है। इसी से "तदेवं साधारण्येन समासोक्तेर्विशेषणसाम्येऽप्यप्रकृतसंबन्धिधर्मकार्यसमारोप-मन्तरेण तद्व्यवहारप्रतीतिर्न भवति—अर्थात् सो इस तरह यह सिद्ध है कि समासोक्ति के साधारणतया विशेषणों की समानता होने पर भी अप्रकृतसंबंधी धर्म अथवा कार्य के आरोप के विना समासोक्ति के व्यवहार की प्रतीति नहीं होती" यह जो विमर्शिनीकार ने लिखा है वह निरस्त हो जाता है। अतः उक्त प्रकार से विषयविभाग के सम्भव होने पर 'तन्वी मनोहरा०' इस उदाहरण में समासोक्ति बताना हृदय को जँचता नहीं।

(२)

और जो उन्होंने यह कहा है कि

"*विशेषण की समानता उपमागर्भित भी हो सकती है, जैसे—

दन्तप्रभापुष्पचिता पाणिपल्लवशोभिनी।
केशपाशालिवृन्देन सुवेषा हरिणेक्षणा॥

---

*अलंकारसर्वस्व का मूल ग्रन्थ इस प्रकार है—

"औपम्यगर्भत्वेन यथा—

दन्तप्रभापुष्पचिता पाणिपल्लवशोभिनी।
केशपाशालिवृन्देन सुवेषा हरिणेक्षणा।

अत्र दन्तप्रभाः पुष्पाणीवेति सुवेषत्ववशादुपमागर्भत्वेन च कृते समासे पश्चाद्दन्तप्रभासदृशैः पुष्पैश्चितेति समासान्तराश्रयणेन समानविशेषण-

पुष्पों के समान दन्तप्रभा से युक्त, पल्लवों के समान पाणिसे सुशोभित, मृगनयनी अलिवृन्द (भ्रमरसमूह) के समान केशपाश से सुवेषा (खूब सजी हुई) है ।

"यहाँ केवल मृगनयनी में रहनेवाले 'सुवेषा' इस विशेषण की महिमा से ('उपमानानि सामान्यवचनैः' २।१।५५ इस सूत्र के अनुसार होने वाली) 'दन्तप्रभा के समान पुष्प' इत्यादिक सीधी योजना को छोड़कर 'पुष्पों के समान दन्तप्रभा' इत्यादिक ('उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' २।१।५६ इस सूत्र के अनुसार) उपमितसमास के सहारे योजना करने पर प्रकृत अर्थ की सिद्धि हो जाती है, फिर भी उसी छोड़ी हुई योजना का व्यंजना के द्वारा पुनरुज्जीवन होने पर जो लता की प्रतीति होती है वह पुष्प, पल्लव और अलिवृन्द रूपी उपमेयों से आक्षिप्त है, (न कि विशेषणों की समानता के कारण) अतः मृगनयनी में लता के व्यवहार का आरोप नहीं है (सो समासोक्ति नहीं हो सकती) ।

"और श्लोक के 'सुवेषा' पद को हटाकर इसके स्थान पर 'परीता =व्याप्त अथवा घिरी हुई' यह कर देने पर उपमा के साधक और रूपक

माहात्म्याल्लताव्यवहारप्रतीतिः। अत्रैव 'परीता हरिणेक्षणा' इति पाठे उपमारूपकसाधकबाधकाभावात्संकरसमाश्रयेण कृते योजने पश्चात् पूर्ववत् समासान्तरमहिम्ना लताप्रतीतिर्ज्ञेया। रूपकगर्भत्वेन तु समासान्तराश्रयणात् समानविशेषणत्वं भवदपि न समासोक्तेः प्रयोजकम्।"

(निर्णयसागरीयद्वितीयसंस्करण पृ० ११०)

पण्डितराज ने यहां मूलग्रन्थ को ज्यों का त्यों उद्धृत न करके उसकी व्याख्या करते हुए वक्ताका तात्पर्य उद्धृत किया है ।

अनुवादक—

के बाधक प्रमाणों के अभाव के कारण उपमा और रूपक के संदेह-संकर के सहारे योजना हो जाने के बाद जो पूर्वोक्त रीति से (व्यंजना द्वारा) लता की प्रतीति होगी वह समासोक्ति ही होगी, क्योंकि यहाँ समास के भेद से अर्थ का भेद होने पर भी शब्द की एकता को लेकर 'श्लिष्टविशेषणमूला समासोक्ति' की तरह विशेषणों की समानता हो जाती है—यह समझना चाहिए और आदि में अथवा अंत में रूपक का आश्रय लेकर 'दन्तप्रभा एव पुष्पाणि=दन्तप्रभारूपी पुष्प' यह योजना की जावे तो 'मृगनयनी' इस अंश में आक्षिप्त लता के तादात्म्य वाले एकदेशविवर्ती रूपक से ही अप्रकृत अर्थ की सिद्धि हो जाती है, इसलिए यहाँ समासोक्ति का कोई प्रयोजन नहीं।"

सो यह कथन भी विचार करने पर टिक नहीं सकता। कारण (एकदेशविवर्ती रूपक न मानने पर भी) 'दन्तप्रभाः पुष्पाणीव—पुष्पों के समान दन्त प्रभाएँ' इस तरह प्रथमतः उपमागर्भित योजना कर लेने पर 'मृगनयनी' इस अंश में 'आक्षिप्त लता जिसका उपमान है ऐसी एकदेशविवर्तिनी उपमा' से ही गतार्थता हो जाने के कारण ('परीता' कर देने पर भी) समासोक्ति के निरर्थक हो जाने से उस का यहाँ प्रसङ्ग ही नहीं है। यदि आप कहें कि उद्भट के मत में एकदेश-विवर्ती उपमा-संकरों का स्वीकार न किए जाने के कारण यहाँ समासोक्ति कही गई है तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि अभी-अभी आप ('साधकबाधकप्रमाणाभावात्' कह कर) इसे स्वीकार कर चुके हैं।

इतना ही नहीं, किंतु—

हालाहलसमो मन्युरनुकम्पा सुधोपमा।
कीर्तिस्ते चन्द्रसदृशी भटास्तु मकरोद्भटाः॥

हे राजन्, आपका क्रोध जहर के समान है, कृपा अमृत के समान है, कीर्ति चंद्र के समान है और योद्धा लोग मगरों के समान उद्भट हैं।

इत्यादिक उदाहरणों में अन्य कोई गति न होने के कारण उद्भट को भी एकदेशविवर्ती उपमा ही स्वीकार करनी पड़ेगी, (क्योंकि यहाँ अन्य सब तो है, पर राजा को रत्नाकर के समान नहीं कहा गया है जो एकदेशविवर्त्तिनी उपमा मानने के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से बन नहीं सकता)। अतः अवश्य मानेजानेवाले इस भेद से ही सिद्ध हो जाने पर अन्य भेद की कल्पना अनुचित है। इसलिए सादृश्यगर्भ विशेषणों से उत्थापित समासोक्ति का प्रकार असंगत ही है।

हाँ, जहाँ श्लिष्ट विशेषण के अथवा शुद्ध साधारण विशेषण के उपमागर्भित विशेषण साथ हो गया हो, वहाँ यद्यपि समासोक्ति है तथापि वह समासोक्ति का 'सादृश्यगर्भ विशेषण से उत्थापित' तृतीय भेद नहीं हो सकता, क्योंकि उसका विषय स्वतन्त्र नहीं है।

जैसे कि—

निर्मलाम्बररम्यश्री किंचिद्दर्शिततारका ।
हंसावलीहारयुता शरद्विजयतेतराम् ॥

निर्मल अंबर (आकाश+वस्त्र) से सुंदर शोभावली और किञ्चित् तारा (तारे+आँख का तारा) दिखानेवाली हार के समान हंसावली से युक्त शरद् सर्वोत्कृष्ट है।

यहाँ पूर्वार्द्ध में रहने वाले श्लिष्ट विशेषणों ('निर्मलाम्बररम्यश्री' और 'किञ्चिद्दर्शिततारका') से उठाई हुई समासोक्ति उत्तरार्ध में

रहने वाले उपमागर्भित विशेषण (हंसावलीहारयुता) द्वारा इस तरह अनुमोदित की जाती है; जैसे कि किसी विद्वान् की उठाई हुई युक्ति उसके अनुगामी मूर्ख द्वारा अनुमोदित की जावे। इसी तरह उक्त श्लोक का पूर्वार्द्ध 'दत्तानंदा समस्तानां प्रफुल्लोत्पलमालिनी—अर्थात् सब को आनंद देने वाली और खिले हुए कमलों की माला वाली' इस प्रकार कर दिया जाय तब भी समासोक्ति 'शुद्ध साधारण विशेषणों से उत्थापित' होगी, न कि सादृश्यगर्भ विशेषण से। कारण वही पूर्वोक्त है।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि—

परिफुल्लाब्जनयना चन्द्रिकाचारुहासिनी।
हंसावलीहारयुता शरद्विजयतेतराम्॥

नयनों के समान—अथवा नयन रूपी—खिले कमल वाली, सुंदर हास के समान—अथवा सुंदर हास रूपी—चंद्रिका वाली, और हार के समान—अथवा हार रूपी—हंस पंक्तियों से युक्त शरद् सर्वोत्कृष्ट है।

इस जगह उपमा और रूपक के साधक-बाधक (प्रमाणों) के अभाव के कारण जो उपमा रूपक का संकर स्वीकार करते हैं उनके सिद्धांतों में तो उपमा और रूपक का संदेह ही जिसका स्वरूप है ऐसा 'एकदेशविवर्ती संकरालंकार' ही होगा और जो लोग 'संदेह संकरालंकार' को नहीं मानते उनके हिसाब से जब उपमितसमास की स्फूर्ति होगी तब एकदेशविवर्तिनी उपमा ही होगी और जब विशेषण-समास की स्फूर्ति होगी तब एकदेशविवर्ती रूपक ही होगा। इस तरह प्रथम योजना से ही अप्रकृत अर्थ का बोध हो जाने के कारण 'खिले हुए कमल के समान नयनों वाली' इस उपमागर्भ द्वितीय योजना के व्यर्थ हो जाने के कारण वह उठ ही नहीं पावेगी।

और जब इस पद्य का चौथा चरण 'शरद्वर्षासखी बभौ—अर्थात् वर्षा की सखी शरद् शोभित हुई" यह बना दिया जाय तब तो केवल शरद् में रहने वाले 'वर्षा के सखीत्व' का ग्रहण होने के कारण जिसमें कमल, चंद्रिका और हंस प्रधान होते हैं (विशेष्य से अन्वित होते हैं) ऐसे उपमितसमास के ही आवश्यक हो जाने से, जिसमें नयन, हास और हारों के द्वारा कामिनी रूपी उपमान आक्षिप्त होता है उस एक-देशविवर्तिनी उपमा से निर्वाह हो जाता है, अतः समासोक्ति मानने की आवश्यकता ही नहीं रहती।

यह बात यद्यपि पहले निवेदन की जा चुकी है तथापि सहृदयों की प्रसन्नता के लिए फिर निवेदन कर दी है।

इसी प्रकार—

"अथोपगूढे शरदा शशाङ्के प्रावृड्ययौ शान्ततडित्कटाक्षा।
कासां न सौभाग्यगुणोऽङ्गनानां नष्टः परिभ्रष्टपयोधराणाम्॥

अब शशांक के शरद द्वारा आलिङ्गन कर लिए जाने पर जिसके तड़िद् रूपी कटाक्ष शान्त हो गये हैं ऐसी वर्षा चल दी। जिनके पयोधर (स्तन+मेघ) गिर चुके हैं ऐसी कौन अङ्गनाएं हैं जिनका सुभगता-गुण नष्ट नहीं हुआ।"

इस किसी कवि के पद्य में एकदेशविवर्ती रूपक से वर्षा के स्त्रीत्व की सिद्धि हो जाती है, इसलिए उत्तरार्धगत अर्थान्तरन्यास में अनुपपत्ति नहीं रहती। हाँ, प्रथम चरण में तो 'आलिङ्गन' की समानता के कारण (अप्रकृत व्यवहार की प्रतीति होती है अतः) भले ही समासोक्ति रहे।

कुवलयानन्द का खण्डन

और जो कुवलयानंद में लिखा है कि "सारूप्य के कारण भी समासोक्ति देखी जाती है जैसे—

पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरितां
विपर्यासं यातो घनविरलभावः क्षितिरुहाम् ।
बहोर्दृष्टं कालादपरमिव मन्ये वनमिदं
निवेशः शैलानां तदिदमिति बुद्धिं द्रढयति ॥

रामचंद्र दण्डकारण्य वन में शम्बूक को मारने के लिये दस हजार वर्ष के बाद फिर पहुँचते हैं। वहाँ की स्थिति देखकर वे कहते हैं— जहाँ पहिले नदी का प्रवाह था वहाँ अब पुलिन (बालुकामयतट) हो गया है, पेड़ों की सघनता और विरलता पलट गई है—अर्थात् जहाँ पहले सघन वन था वहाँ अब एक भी पेड़ नहीं और जहाँ पहले खाली बीहड़ था वहाँ आज सघन जंगल है। बहुत समय के बाद देखा हुआ यह वन मानों दूसरा ही प्रतीत होता है। केवल पहाड़ों का सन्निवेश 'यह वही है' इस बुद्धि को दृढ़ करता है।

यहाँ वन का वर्णन प्रस्तुत है उसके सारूप्य से कुटुंबियों में धन-संतान आदि की समृद्धि और असमृद्धि की विपरीतता को प्राप्त उनके निवासभूत ग्राम-नगर-आदि का वृत्तान्त प्रतीत होता है।"

सो यहाँ समासोक्ति बताना ठीक नहीं। कारण, समासोक्ति का जीवन है विशेषणों की समानता, उसके अभाव के कारण यहाँ समासोक्तिता ही असिद्ध है। यदि आप कहें कि समासोक्ति का लक्षण 'विशेषणों की समानता से अथवा सादृश्य से जहाँ अप्रस्तुत का व्यवहार प्रस्तुत द्वारा अभिव्यक्त हो उसे समासोक्ति कहते हैं' यों बना दिया जायगा तो यह भी ठीक नहीं। कारण, 'समासोक्ति में प्रकृत वृत्तान्त अप्रकृत वृत्तांत के अभेद से स्थित रहता है' यह सर्वसम्मत सिद्धांत है और तुमने भी "प्रकृतधर्मिण्यप्रकृतव्यवहार आरोप्यते—प्रकृत धर्मी में अप्रकृत का व्यवहार आरोपित किया जाता है" यह लिखा है।

ऐसी स्थिति में यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि 'प्रवाह और वृक्ष आदि की विपरीतता धन-संतान आदि की विपरीतता के अभेद से प्रतीत होती है। और न वन-आदि में धन-संतान का विपर्यास ही है। इस तरह अन्य समासोक्तियों से भिन्नता होने पर भी यदि आप 'यह समासोक्ति ही है' यह शपथ खा चुके हैं तो अन्य अलंकारों को भी समासोक्ति की कुक्षि में ही डाल दीजिए, क्योंकि यह तो एक जबर्दस्ती ही ठहरी।

अब यदि आप पूछें कि तब 'पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरिताम्' इस पूर्वोक्त पद्य में कौन अलकार है? कारण, यहाँ 'अप्रकृत वाच्य के द्वारा प्रकृत व्यवहार की अभिव्यक्तिरूप अप्रस्तुतप्रशंसा संभव नहीं है, क्योंकि यहाँ प्रकृत ही वाच्य है। तो हम कहते हैं— आपने अच्छा प्रश्न किया, किन्तु इसका समाधान विस्तारसहित अप्रस्तुत प्रशंसा के प्रकरण में ही निवेदन करेंगे।[1]

१—नागेश कहते हैं कि—

"पण्डितराज ने इसका समाधान यह बताया है—

'पुरा यत्र स्रोतः०' इस पद्य में अप्रस्तुतप्रशंसा ही अलंकार है, क्योंकि 'अप्रस्तुतप्रशंसा' का अर्थ 'अप्रस्तुत की प्रशंसा' नहीं है, किन्तु 'अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत की प्रशंसा' यह है। सो इस तरह यह सिद्ध हुआ कि 'जहाँ वाच्य अथवा व्यंग्य अप्रस्तुत के द्वारा वाच्य अथवा व्यंग्य प्रस्तुत की सादृश्यादि पाँच प्रकारों (इनका विवरण अप्रस्तुतप्रशंसा के प्रकरण में देखिए) में से किसी एक प्रकार से 'किया जाय वहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा है, केवल वाच्य से केवल व्यङ्ग्य की ही प्रशंसा नहीं।'

पर यह विचारणीय है, क्योंकि यह कथन युक्ति का सहन नहीं करता।

हाँ, अलङ्कारसर्वस्वकार ने 'सादृश्यगर्भं विशेषणोत्थापिता सादृश्यमूला समासोक्तिः—अर्थात् सादृश्य से गर्भित विशेषणों के द्वारा उठाई गई समासोक्ति सादृश्यमूला समासोक्ति कहलाती है' यह लिखा है,

---

देखिए, 'प्रशंसा' का यहाँ क्या अर्थ है? (प्रस्तुत अर्थ में) 'उत्कर्ष उत्पन्न करना' अथवा 'प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति मात्र'। इनमें से प्रथम तो बन नहीं सकता, क्योंकि अप्रस्तुतप्रशंसा के कई उदाहरण ऐसे हैं जिनमें व्यङ्ग्य का वाच्य पर आरोप नहीं होता, उनमें अव्याप्ति होगी, क्योंकि तटस्थता से स्थित अर्थ को उत्कर्ष करनेवाला कहना उचित नहीं। अब यदि 'प्रशंसा' का अर्थ 'प्रस्तुत की प्रतीति मात्र' मानो तो वह 'पुरा यत्र स्रोतः०' इस उदाहरण में है नहीं, क्योंकि प्रस्तुत के वाच्य होने के कारण अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति नहीं होती।

यदि कहा जाय कि 'प्रशंसा के दोनों अर्थों में से कोई एक' यह कहकर यहाँ दोनों अर्थों का संग्रह कर लिया जायगा तो यह उचित नहीं, क्योंकि वैसा समासोक्ति में भी किया जा सकता है। अतिशयोक्ति आदि में ऐसा किया भी है।"

पर यह नागेश की धांधली ही है, क्योंकि समासोक्ति में 'प्रस्तुत और अप्रस्तुत वृत्तांतों का अभेद मानना सर्वसंमत है' यह मूल में ही लिखा है। उसे उड़ाकर समासोक्ति का नया लक्षण बनाने की अपेक्षा अप्रस्तुतप्रशंसा, (जहाँ आरोप का बखेड़ा नहीं है) मानना ही उत्तम पक्ष है। और प्रशंसा का 'उत्कर्षाधान अर्थ' करने वाला पक्ष तो उठाना ही व्यर्थ है, क्योंकि स्वयम् पण्डितराज ने लिखा है—'प्रशंसनं च वर्णनमात्रम्, न तु स्तुतिः—अर्थात् प्रशंसा का अर्थ यहाँ केवल वर्णन है—स्तुति नहीं।"

—अनुवादक

इसलिए उनका विशेषणों की समानता होने से उक्त पद्य में समासोक्ति का कथन संभव भी है, किन्तु आपकी बताई समासोक्ति में तो इसका किसी तरह प्रवेश नहीं हो सकता। इससे यह सिद्ध होता है कि या तो आप मूल ग्रन्थ (अलंकारसर्वस्व) को समझे नहीं है या उससे आपकी उक्ति का विरोध है—यह स्पष्ट ही है। यह है इस सब का संक्षेप।

समासोक्ति के अन्य भेद

यह पूर्वोक्त चार प्रकार की समासोक्ति पुनः चार प्रकार की है, (१) लौकिक व्यवहार में लौकिक व्यवहार का आरोप। (२) शास्त्रीय व्यवहार में शास्त्रीय व्यवहार का आरोप। और उसके विपरीत अर्थात् (३) लौकिक व्यवहार में शास्त्रीय व्यवहार का आरोप और (४) शास्त्रीय व्यवहार में लौकिक व्यवहार का आरोप। उनमें से पहिली अर्थात् लौकिक व्यवहार में आरोपवाली ऊपर कही जा चुकी है।

दूसरी; अर्थात् शास्त्रीय व्यवहार में शास्त्रीय व्यवहार का आरोप जैसे—

गुणवृद्धी परे यस्मिन्नैव स्तः प्रत्ययात्मके।
बुधेषु सदिति ख्यातं तद् ब्रह्म समुपास्महे॥

इस श्लोक के दो अर्थ हैं। वेदान्त के अनुसार—

(१) जिस 'प्रत्ययात्मक' (ज्ञानस्वरूप) 'पर' (सर्वोत्कृष्ट) में 'गुण' और 'वृद्धि' (बढ़ना) नहीं होते—अर्थात् जो निर्गुण तथा वृद्धिक्षयरहित है और विद्वानों में जो सद्रूप से विख्यात है (ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्राह्मणस्त्रिविधः स्मृतः'—भगवद्गीता) उस ब्रह्म की हम उपासना करते हैं।

और व्याकरणशास्त्र के अनुसार—

(२) जिस 'प्रत्ययात्मक' (शतृ-शानच्रूप) के 'परतः' (आगे) आने पर गुण (इ, उ, ऋ अक्षरों को ए, ओ, अर् हो जाना) और 'वृद्धि' (इ उ ऋ अक्षरों को ऐ औ, आर् हो जाना) नहीं होते और विद्वानों में जो 'सत्' इस नाम से विख्यात है ('तौ सत्' इस व्याकरण सूत्र से शतृ-शानच् प्रत्ययों को 'सत्' कहा जाता है) उस ब्रह्म की उपासना करते हैं।

यहाँ वेदान्तशास्त्र से सिद्ध व्यवहार में व्याकरण से सिद्ध शतृ शानच् के व्यवहार का आरोप किया गया है।

लौकिक व्यवहार में शास्त्रीय व्यवहार का आरोप जैसे—

परार्थव्यासङ्गादुपजहदथ स्वार्थपरता—
ममेदैकत्वं यो वहति गुणभूतेषु सततम् ॥
स्वभावाद्यस्यान्तः स्फुरति ललितोदात्तमहिमा
समर्थो यो नित्यं स जयतितरां कोऽपि पुरुषः ॥

वह कोई पुरुष सबसे उत्कृष्ट है, जो परार्थ (परोपकार+अन्य अर्थ) के प्रसंग से स्वार्थपरता (स्वार्थतत्परता+अपने अर्थ के प्रतिपादन) को छोड़ता हुआ अपने गुणभूतों को (आश्रितों+अप्रधान अर्थों) में सदा अभेद से एकता को धारण करना है, जिसके अन्दर स्वभाव से ही ललित उदात्त महिमा (अत्यन्त महत्त्व+उदात्त स्वर का महत्त्व) स्फुरित होता है और जो नित्य ही समर्थ (शक्तिसम्पन्न+एकार्थीभाव से युक्त) है।

यहाँ 'समर्थ सूत्र' के (महाभाष्य के) अर्थ का लौकिक अर्थ में आरोप किया गया है, क्योंकि वहाँ "अथ ये वृत्तिं वर्तयन्ति किं त आहुः- अर्थात् जो समास करते हैं वे क्या कहते हैं' इत्यादिक ग्रन्थ से

'जहत्स्वार्था' वृत्ति और 'अजहत्स्वार्था' वृत्ति इस तरह दोनों पक्षों का निरूपण किया गया है। वहीं उपसर्जन (गौण) अर्थ में 'अभेदैकत्व' संख्या भी ध्वनित की गई है, जो भर्तृहरि द्वारा इस प्रकार प्रकट की गई है—

"यथौषधिरसाः सर्वे मधुन्याहितशक्तयः।
अविभागेन वर्तन्ते तां संख्यां तादृशीं विदुः॥

जैसे सभी औषधियों के रस शहद में अपनी शक्ति डालते हुए अविभाग से रहते हैं। इस संख्या को वैसी जानना चाहिए।"

वहीं 'सामर्थ्य' का अर्थ 'एकार्थीभाव को प्राप्त अर्थ की बोधकता' के रूप में वर्णन किया गया है।

शास्त्रीय अर्थ में लौकिक अर्थ का आरोप; जैसे—

कृत्वा सूत्रैः सुगूढार्थैः प्रकृतेः प्रत्ययं परम्।
आगमान्भावयन्भाति वैयाकरणपुङ्गवः॥

श्रेष्ठ वैयाकरण 'सुगूढार्थ' (अत्यन्त गुप्त अर्थ वाले + अत्यन्त गुप्त प्रयोजनवाले) 'सूत्रों' (सूत्रों + व्यवस्थाओं) से 'प्रकृति' (प्रातिपदिक + कर्मचारियों) से + (के) 'पर' (आगे + अत्यन्त) 'प्रत्यय' (प्रत्यय + भरोसा) करके आगम (शास्त्रों + आय) की 'भावना करता हुआ' (लगाता हुआ + विचार करता हुआ) शोभित होता है।

यहाँ व्याकरणशास्त्र के व्यवहार में राजा के व्यवहार का आरोप है। इसी तरह अन्य शास्त्रों के व्यवहार में भी समझना चाहिए।

समासोक्ति का अंगीभाव

यह समासोक्ति अन्य बहुतेरे अलंकारों में अनुकूलता से स्थित रहती है; जैसे—

स्थितेऽपि सूर्ये पद्मिन्यो वर्तन्ते मधुपैः सह ।
अस्तं गते तु सुतरां स्त्रीणां कः प्रत्ययो भुवि ॥

सूर्य के स्थित रहने पर (सूर्य की विद्यमानतामें अर्थात् दिन में) भी पद्मिनियों (कमललताएँ+उत्तम स्त्रियाँ) मधुपों (भौंरों+मदिरा पीनेवालों) के साथ रहती हैं और अस्त हो जाने पर तो सुतरा रहती हैं । अतः संसार में स्त्रियों का क्या विश्वास ?

यहाँ समासोक्ति अर्थान्तरन्यास से समर्थनीय होकर अर्थान्तरन्यास की अनुकूलता करती है । यदि यह समासोक्ति नहीं होती तो अर्थान्तरन्यास का आत्मलाभ ही दुर्लभ था ।

उत्तमानामपि स्त्रीणां विश्वासो नैव विद्यते ।
राजप्रियाः कैरविण्यो रमन्ते मधुपैः सह ॥

उत्तम स्त्रियों का भी विश्वास नहीं है । राजप्रिय (चन्द्रमा की प्रिय+राजा की प्यारी) कुमुदिनियाँ मधुपों (भौंरों+मदिरा पायियों) के साथ विहार करती हैं । यहाँ समासोक्ति अर्थान्तरन्यास के समर्थक रूप में स्थित है ।

व्यागुञ्जन्मधुकरपुञ्जमञ्जुगीता-
माकर्ण्य स्तुतिमुदयत्त्रपातिरेकात् ।
आभूमीतलनतकन्धराणि मन्येऽरण्येऽ
स्मिन्नवनिरुहां कुटुम्बकानि ॥

वन का वर्णन है—इस जंगल में वृक्षों के झुंड, मानो गूँजते हुए भ्रमर-समूह से सुन्दर गान की हुई स्तुति को सुनकर उत्पन्न हुई लज्जा की अधिकता से अपनी गर्दनों को पृथ्वीतल तक झुकाए हुए हैं ।

यहाँ अन्य से की हुई अपनी स्तुति के सुनने से गर्दन नीचे करने आदि विशेषणों की समानता से उठाई हुई समासोक्ति के द्वारा, 'सज्जन के व्यवहार' से अभिन्न रूप में स्थित 'वृक्ष के व्यवहार' में पृथ्वी के साथ शाखाओं के सम्बन्ध से अभिन्न रूप में अध्यवसित 'गर्दन झुकाने' रूपी निमित्त से उत्थापित 'लज्जा रूपी हेतु की उत्प्रेक्षा' संभव है, अन्यथा धूर्त के गर्दन झुकाने से भी लज्जा की उत्पत्ति हो सकेगी। इसलिए समासोक्ति उत्प्रेक्षा के अनुकूल है।

इसी तरह—

राज्याभिषेकमाज्ञाय शम्बरासुरवैरिणः।
सुधाभिजगतीमध्यं लिम्पतीव सुधाकरः॥

कामदेव के राज्याभिषेक को जानकर, मानो, चन्द्रमा सुधाओं से पृथ्वी के मध्य को पोत रहा है–सारी पृथ्वी पर सफेदी कर रहा है।

यहाँ भी स्वामि-सेवकव्यवहारमूला 'सुधालेपन' की उत्प्रेक्षा की गई है।

इसी तरह अचेतन का व्यवहार प्रकृत होने पर चेतन के व्यवहार सम्बन्धी स्वरूपोत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा में और चेतन के व्यवहार के प्रकृत होने पर अचेतन के व्यवहार सम्बन्धी स्वरूपोत्प्रेक्षा हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा में समासोक्ति ही मूल होती है।

समासोक्ति समाप्त

परिकरालंकार

लक्षण

विशेषणों की साभिप्रायता को परिकरालङ्कार कहते हैं।

लक्षण का विवेचन

'साभिप्राय' का अर्थ यह है कि 'विशषणों में ऐसा चमत्कारी व्यंग्य होना चाहिए जो प्रकृत अर्थ का उपपादन करे' इसीलिए इस अलङ्कार की 'हेतु अलंकार' से विलक्षणता है, क्योंकि हेतु अलंकार में व्यंग्य आवश्यक नहीं है। 'उपपादन करने' का अर्थ यह है कि चाहे प्रकृत अर्थ को उपस्कृत करे चाहे निष्पन्न करे। व्यंग्य के गुणीभूत होने के कारण यहाँ ध्वनित्व नहीं कहा जा सकता।

उदाहरण—

मन्त्रैर्मीलितमौषधैर्मुकुलितं त्रस्तं सुराणां गणैः
स्रस्तं सान्द्रसुधारसैर्विदलितं गारुत्मतग्रावभिः।
वीचिक्षालितकालियाहितपदे स्वर्लोककल्लोलिनि!
त्वं तापं तिरयाधुना भवभयव्यालावलीढात्मनः॥

मन्त्रों ने आँखे मूँद लीं, औषधें कुम्हला गईं, देवताओं के गण डर गये, सघन सुधा के रस बह गये और गारुड मणियाँ टूट-फूट गई। अब तो हे लहरों से कालिय नाग के शत्रु-भगवान् कृष्ण-के चरण धोने वाली! हे स्वर्ग लोक की नदी! भवभयरूपी सर्प से जिसका अन्तःकरण ग्रस्त हो गया है ऐसे मेरे ताप को आप ही मिटाओ।

यहाँ भागीरथी द्वारा 'संसार सर्प के डसने से उत्पन्न अपने ताप के दूर करने की चाहना' वाक्यार्थ है। उसमें भगवती गङ्गा की भवताप

नाशकता सुप्रसिद्ध है, अतः 'परिणामालङ्कार' द्वारा सर्परूपी 'विषयी'का संसार रूपी 'विषय' से तादूप्य हो जाने के कारण सर्प से उत्पन्न संताप का नाशक होना सहज ही सिद्ध किया जा सकता है। इतना ही नहीं, किन्तु गङ्गाजल के विषय में पुराणों में यह भी लिखा है—

"स्थास्नुजङ्गमसंभूतविषहन्त्र्यै नमो नमः—हे गङ्गे आप स्थावर-जङ्गमों से उत्पन्न जहर को नाश करने वाली हैं, आपको नमस्कार।"

इत्यादि शास्त्र के बल से 'विषय के साथ तादूप्य' न मानने पर भी सर्प से सीधे उत्पन्न संताप का नाशक होना भी स्वभाव सिद्ध है। इस तरह वाच्य अर्थ की सिद्धि हो जाने पर भी अधिक सुन्दरता उत्पन्न करने के लिए 'लहरों से कालियनाग के शत्रु के चरण धोने वाली' यह साभिप्राय विशेषण दिया गया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि—कृष्ण के अन्य नाम होते हुए भी 'कालियनाग के शत्रु' इस शब्द के ग्रहण के सामर्थ्य से फणों पर नृत्य करने से काली को निःसार करने वाले भगवान् के चरण में विष को हरण करने की अलौकिक शक्ति जन्मसिद्ध ही थी और वह शक्ति उन चरणों को लहरों से धोने के कारण गङ्गा में चरणरज के द्वारा संक्रान्त हो गई—यह प्रतीत होता है।

कहा जायगा कि शक्ति के कृष्णावतार से पूर्व ही धुल जाने से, क्योंकि गङ्गावतरण वामनावतार में हुआ, विषहरण की शक्ति से रहित चरण के द्वारा कृष्णावतार में कालिय के विष का हरण कैसे संभव है तो इसका उत्तर यह है कि उक्त अभिप्राय के अन्तर्गत यह बात भी मान ली गई है कि धुल जाने के बाद चरण में जो लेश रूप कुछ शक्ति बची थी उसी ने इस समय काली का विष हरण किया, इसलिए कोई अनुपपत्ति नहीं रहती। इस तरह यह भी सिद्ध है कि यहाँ व्यंग्य का गुणीभूत होना 'वाच्य के उपस्कारक होने के कारण' है, न कि वाच्यसिद्धि का अङ्ग होने के कारण।

अथवा, जैसे—

मदकामविमोहमत्सरा रिपवस्त्वत्पुर एव तावकम्।
धृतशार्ङ्गगदारिनन्दक! प्रतिकर्षन्ति कथं न वीक्षसे॥

हे शार्ङ्ग धनुष, गदा, चक्र और नन्दक खड्ग के धारण करनेवाले, आपके सामने ही मद, काम, मोह और मत्सर नामक शत्रु आपके जन को खींच रहे हैं, आप कैसे नहीं देखते।

यहाँ भी 'आपके जन' इस शब्द से प्रतिपादित 'स्वामि-सेवक भाव' से ही 'उपेक्षा' की अनुचितता का ढाँचा बन जाता है, उसको 'हे शार्ङ्ग आदि के धारण करने वाले' यह विशेषण 'अमोघ शस्त्र से युक्त आपके समक्ष ही आपके दास को शत्रु खींच रहे हैं और आप उपेक्षा कर रहे हैं। आपका अपयश होगा' इस अभिप्राय को गर्भित करके प्रकृष्ट कर देता है।

परिकर को पृथक् अलङ्कार क्यों माना जाता है

आप कहेंगे—प्रयोजनरहित विशेषण के ग्रहण करने में अपुष्टार्थ दोष बताया गया है, अतः प्रयोजनसहित विशेषण होना केवल दोष का अभाव है। सो वह 'कष्टत्व' आदि अन्य दोषों के अभाव की तरह दोष का अभाव मात्र हो सकता है, अलंकार नहीं। इसका उत्तर 'विमर्शिनीकार' आदि ने यह दिया है कि 'विशेषणों का अधिक होना यहाँ अभीष्ट है और अभिप्रायसहित विशेषणों की अनेकता के कारण ही यहाँ विचित्रता की अधिकता भी होती है, अतः दोषाभाव मात्र को तो केवल एक विशेषण होने पर अवकाश मिल जाता है। तात्पर्य यह कि जहाँ एकमात्र विशेषण हो वहाँ दोषाभाव और जहाँ अनेक विशेषण हो वहाँ परिकरालङ्कार मानना चाहिए।' सो यह ठीक

नहीं। विशेषणों की अनेकता व्यंग्य की अधिकता को उत्पन्न करने के कारण विशेष विचित्रता को उत्पन्न करने वाली भले ही रहे, किन्तु वही प्रकृत अलंकार का शरीर है—यह नहीं कहा जा सकता। कारण, पूर्वोक्त उदाहरण में 'लहरों से कालियनाग के शत्रु के चरण धोने वाली' इस एक ही विशेषण का जो चमत्कारित्व है वह छिपाया नहीं जा सकता। इसी प्रकार—

अयि लावण्यजलाशय ! तस्या हा हन्त ! मीननयनायाः।
दूरस्थे त्वयि किं वा कथयामो विस्तरेणालम् ॥

हे सुंदरता के समुद्र, हाय उस मीन-नयना का तुम्हारे दूर रहने पर क्या हाल होता होगा सो क्या कहें। विस्तार व्यर्थ है।

यहाँ केवल एक-एक विशेषण से (नायक के एक मात्र विशेषण 'लावण्यजलाशय' से और नायिका के भी एकमात्र विशेषण 'मीन नयना' से) संपूर्ण वाक्यार्थ का संजीवन होता है।

कुवलयानंद का खंडन

और जो कुवलयानंदकार ने लिखा है कि "श्लेष यमक आदि में 'अपुष्टार्थ' दोष नहीं होता इस कारण ऐसे स्थलों पर एक भी साभिप्राय विशेषण के विन्यास से विशेष चमत्कार उत्पन्न हो जाने से 'परिकरालंकार का होना' सिद्ध हो जाता है। जैसे—

'क्षितिभृतैव सदैवतका वयं वनवतानवता किमहिद्रुहा।—हम लोग वनयुक्त गोवर्धन पर्वत को ही देवता समझते हैं, रक्षा न करनेवाले इन्द्र से क्या प्रयोजन'

इस गोवर्धन पर्वत के विषय में नंदादि के प्रति कहे हुए भगवान् के वाक्य में (यहाँ यमक में आये हुए 'वनवता' इस पहाड़ के एक

मात्र विशेषण ने और 'अनवता' इस इंद्र के एकमात्र विशेषण ने चमत्कार उत्पन्न कर दिया है)

सो यह भी ठीक नहीं। कारण, इस विषय में हम आप से पूछते हैं कि 'जो इस अलंकार को दोषाभाव के अंदर आ जाने के कारण अलंकारों के बीचसे हटाता है वह तुम्हारे बताए हुए 'श्लेष यमक आदि शब्द चित्रों' से अतिरिक्त स्थान में जो साभिप्राय विशेषण आते हैं उनमें किसी प्रकार का चमत्कार मानता है अथवा नहीं? यदि आप कहें कि मानता है तो केवल दोषाभाव मे किसी भी प्रकार का चमत्कार बिना अलंकार के सिद्ध नहीं हो सकता, अतः चाहे यमक श्लेष आदि हों या न हों, परिकर की अलंकारता सिद्ध हो गई। और यदि नहीं मानता है तो वह 'यमक आदि में भी किसी प्रकार का चमत्कार नहीं है' यह सहज ही में कह देगा। उदाहरण के लिए देखिए, धर्मशास्त्र में लिखा है—

> "अनापदि बिना मार्गमनिशायामनातुरः।
> मृत्तिकाशौचहीनस्तु नरो भवति किल्विषी ॥

जो मनुष्य बिना आपत्ति के बिना मार्ग के बिना रात्रि के और बिना रोगी हुए मृत्तिका से शौच नहीं करता वह पापी होता है।"

यहाँ 'आपत्काल आदि में पाप से बचाव' बताया गया है तथापि कोई आपत्ति-काल आदि में भी शौच आदि करे तो जैसे कोई निषेध नहीं करता प्रत्युत वह कार्य-कर्ता के सामर्थ्य का बोधक होता है वैसे ही प्रकृत में भी दोष के निषेध की विधि होने पर भी यमकादिक में भी यदि कोई सत्कवि दोष के अभाव पुष्टता (यमकादि में अपुष्टता के स्थान पर) का संपादन करे तो दोषाधायक नहीं होगा, किंतु रसपोषक ही होगा। और यदि आप यामक के स्थल पर किसी प्रकार के चमत्कार होने में

अनुभव को प्रमाण बताते हैं तो फिर अन्यत्र भी उसी को प्रमाण मानिए, अतः यमक तक दौड़ना व्यर्थ है। इसलिए 'पुष्टार्थता रूपी दोषाभाव से परिकरालंकार के विषय को पृथक् कर देना कठिनता से ही हो सकता है—यह प्राप्त हुआ।

इस स्थिति में हम कहते हैं कि 'सुंदरता होने पर उपस्कारक होना' अलंकार का लक्षण है और 'चमत्कार के अपकर्षक का अभाव' दोषाभाव का लक्षण है। यदि ये दोनों धर्म, जिनके कि विषय पृथक्-पृथक् हैं, सयोग से, किसी एक विषय में समाविष्ट हो जाँय तो क्या हानि होगी, क्योंकि ऐसे स्थल में उपधेय (जिसे उपहित किया जा रहा है उस) में मिश्रण हो जाने पर भी उपाधियों में कोई मिश्रण नहीं है। जैसे ब्राह्मण के लिए मूर्खता दोष है, किंतु विद्या तो उसके लिए दोषाभावरूप भी है और गुण भी है वैसे यहाँ भी बन सकता है।

यदि आप कहें कि दोषाभावरूप में प्राप्त परिकर को अलंकारों में गिनने का गौरव क्यों किया जाता है, तो इसका उत्तर यह है कि—यह अलंकाररूप भी है और दोषभावरूप भी, किंतु सभी दोषाभाव अलंकार नहीं होते, अतः उनसे विलक्षणता जताने के लिए इसका अलंकारों में गिनना सिद्ध हो जाता है; जैसे—समासोक्ति 'गुणीभूत-व्यंग्य' के भेदरूप से संगृहीत हो जाने पर भी पुनः अलंकारों की गणना में भी गिनी जाती है। अथवा जैसे—जो मनुष्य महलों में भी रहता है और नीचे भी रहता है, वह महलों में गिन लिए जाने पर भी नीचे रहनेवालों की गिनती के समय फिर गिना जाता है वैसे ही यहाँ भी इसे अलंकार गिनने में कोई दोष नहीं। अन्यथा प्राचीनों का 'काव्य-लिंग' भी अलंकार नहीं होगा, क्योंकि वह भी निर्हेतुत्व रूप दोष का अभाव ही है (अतः 'परिकर' को अलंकार मानने में कोई गड़बड़ नहीं है)।

हाँ, यह दूसरी बात है कि—

द्विजराज ! कलाधार ! विश्वतापनिवारण ।
कथं मामबलां क्रूरैः करैर्दहसि निर्दय ! ॥

हे द्विजराज, हे कलाओं के आधार, हे संसार के ताप को निवारण करने वाले, हे निर्दय ,मुझ अबला को क्रूर किरणों से कैसे जला रहे हो !

इत्यादिक में विशेषणों की अधिकता से व्यंग्य की अधिकता होने पर चमत्कार की भी अधिकता हो जाती है।

परिकर के भेद

इस परिकरालंकार में कहीं तो व्यंग्य वाच्यसिद्ध्यंग होता है और कहीं उपस्कारक। अतः प्रथमतः दो भेद होते हैं—(१) वाक्यसिद्ध्यंग व्यंग्यगर्भ और (२) उपस्कारकव्यंग्यगर्भ उनमें से प्रत्येक में व्यंग्य के वाच्यायमान होने और न होने से दो-दो भेद हो जाते हैं। इस तरह परिकरालंकार के चार भेद होते हैं।

उनमें से (१) वाच्यसिद्ध्यंग-वाच्यायमान-व्यंग्य गर्भ, जैसे—

विहाय संसारमहामरुस्थलीमलीकदेहादिमिलन्मरीचिकाम् ।
कृपातरङ्गाकुल ! मन्मनोमृगो विगाढुमीश ! त्वयि गाढमीहते ॥

मेरा मन रूपी मृग जिसके अंदर झूठे देहादिरूप मृग-तृष्णा संमिलित हो रही है ऐसी संसाररूपी महा मरुस्थली को छोड़ कर हे कृपारूपी तरङ्गों से आकुल ईश, तुम्हारे अंदर खूब गोते लगाना चाहता है।

यहाँ 'गोते लगाने' (रूपी वाच्य) की सिद्धि का अङ्ग 'कृपारूपी तरङ्गों से आकुल' इस पद का समुद्ररूपी व्यङ्ग्य वाच्य के समान ही हो गया है।

(२) वाच्यसिद्ध्यङ्ग—वाच्यतास्पर्शशून्य—व्यङ्ग्यगर्भ परिकर, जैसे—

खर्वीकृतेन्द्रगर्व ! त्वरया चक्रेण भिन्ननक्रमुख ।
लीलात्तकोलमूर्ते ! मामुद्धर्तुं कथं न शक्तोऽसि ॥

हे इंद्र के गर्व को कम करनेवाले, हे चक्र के द्वारा त्वरा से मगर का मुख काटने वाले और हे लीला से वाराहमूर्ति को धारण करनेवाले, आप मेरा उद्धार करने के लिये कैसे समर्थ नहीं हैं।

यहाँ गोवर्धन, गजेन्द्र और पृथ्वी का उद्धार वाच्यता के स्पर्श से रहित ही उलहनारूपी वाच्य की सिद्धि का अङ्ग है।

(३) उपस्कारक—वाच्यायमानव्यङ्ग्यगर्भ परिकर का उदाहरण है 'धृतशार्ङ्गगदारिनन्दक०' यह पूर्वोक्त श्लोक और (४) उपस्कारक—वाच्यस्पर्शशून्य—व्यङ्ग्य गर्भ परिकर का उदाहरण है पूर्वोक्त 'वीचिक्षालितकालियाहितपदे०' यह श्लोक।

परिकरालङ्कार समाप्त

श्लेषालङ्कार

लक्षण

एक श्रुति से अनेक अर्थों के प्रतिपादन को श्लेष कहते हैं।

लक्षण का विवेचन और भेद

उन अनेक अर्थों का प्रतिपादन दो प्रकार से होता है—अनेक धर्मों के पुरस्कार से और एक धर्म के पुरस्कार से। उनमें से पहला (अनेक धर्मों के पुरस्कार से प्रतिपादन वाला) दो प्रकार का है—अनेक शब्दों के प्रतिभान द्वारा और एक शब्द के प्रतिभान द्वारा इस तरह श्लेष प्रथमतः तीन प्रकार का होता है।[1] उनमें से एक श्रुति से अनेक शब्दों के प्रतिभान वाले श्लेष को सभङ्ग और एक श्रुति से एक शब्द प्रतिभान वाले श्लेष को अभङ्ग कहते हैं। तीसरा शुद्ध श्लेष कहलाता है।

इस तरह तीन प्रकार का यह श्लेष केवल प्रकृत के आश्रित केवल अप्रकृतेक आश्रित और उभयाश्रित (प्रकृताप्रकृत दोनों के आश्रित) इस तरह फिर तीन प्रकार का है। इनमें से प्रथम (प्रकृतमात्राश्रित)

१—यहाँ मूल के "तत्र" शब्द का अर्थ नागेश ने "आद्यभेदयो-र्मध्ये" किया है। जिसका अर्थ है—आद्यस्य=अनेक धर्मपुरस्कारेण श्लेषस्य भेदयोः=अनेकशब्दप्रतिभानद्वारा, एकशब्दप्रतिभानद्वारा चेत्येतयोः। "इसको न समझकर भट्ट जी ने 'सरला' टिप्पणी में "नागेशटीका तु अज्ञानमूलिका" "अहो धन्या टीका" जैसे भद्दे शब्द लिख दिए हैं। एक बड़े विद्वान का इस तरह बिना सोचे-समझे तिर-स्कार करना अच्छा नहीं।

और द्वितीय (अप्रकृतमात्राश्रित) भेदों में विशेष्य का श्लिष्ट होना इच्छा पर अवलम्बित है—चाहे करो—चाहे न करो, किंतु तीसरे (उभयाश्रित) भेद में विशेषणवाचक ही श्लिष्ट होता है, विशेष्य-वाचक नहीं, क्योंकि वैसा मानने से तो शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का उच्छेद ही हो जायगा। केवल विशेषणों के श्लिष्ट होने पर भी प्रकृत और अप्रकृत दोनों धर्मियों के ग्रहण करने पर ही श्लेष होता है, केवल प्रकृतधर्मी का ही ग्रहण करने से तो समासोक्ति का ही विषय होता है।

सो इस तरह यह सिद्ध हुआ कि (१) जिसके विशेषण अनेकार्थ हों ऐसे केवल प्रकृत विशेष्य वाला एक भेद (२) इसी प्रकार केवल अप्रकृत जिसका विशेष्य हो ऐसे अनेकार्थ विशेषण वाला दूसरा भेद और (३) जहाँ विशेषण अनेकार्थक हों और प्रकृत तथा अप्रकृत दोनों विशेष्य पृथक् ग्रहण किये गये हों वह तीसरा भेद; और 'इन तीनों में से कोई एक होना' यह श्लेष का लक्षण पर्यवसित होता है।

क्रम से उदाहरण

(१) अनेकधर्मपुरस्कारेण प्रकृताश्रित सभङ्ग श्लेषः जैसे—

संभूत्यर्थं सकलजगतो विष्णुनाभिप्रपन्नं
यस्मालं स त्रिभुवनगुरुर्वेदनाथो विरिञ्चिः।
ध्येयं धन्यालिभिरतितरां स्वप्रकाशस्वरूपं
पद्माख्यं तत्किमपि ललितं वस्तु वस्तुष्टयेऽस्तु॥

इस पद्य के दो अर्थ हैं—एक पद्म के पक्ष में, दूसरा पद्मा (लक्ष्मी) के पक्ष में। पद्म के पक्ष में यह अर्थ है—

पद्माख्यं तत् किमपि ललितं वस्तु वस्तुष्टयेस्तु—पद्म नामक वह कोई ललित वस्तु आपके लिए संतोषप्रद हो, **सकलजगतः संभूत्यर्थं विष्णुनाभिप्रपन्नं यन्नालं सः त्रिभुवनगुरुः, अथो विरिञ्चिः,**[1] **न वेद**=संपूर्ण जगत् की उत्पत्ति के लिए विष्णु की नाभि में पहुँची हुई जिसकी डंडी को त्रिलोकी के गुरु और जगत् के उत्पन्न करने वाले (ब्रह्मा) (भी) नहीं जानते (उनने भी जिसका[2] अंत नहीं पाया), जो **धन्यालिभिरतितरां ध्येयम्**=धन्य भ्रमरों के अत्यन्त ध्यान का विषय है (भाग्यशाली भ्रमर ही उसके विषय में सोच सकते हैं) और **स्वप्रकाशस्वरूपम्**=जिसका स्वरूप स्वप्रकाश है (क्योंकि विकासक सूर्य तो उस समय उत्पन्न ही नहीं हुआ था)। लक्ष्मी के पक्ष में यह अर्थ है—

पद्माख्यं तत् किमपि ललितं वस्तु वस्तुष्टयेऽस्तु=पद्मा (लक्ष्मी) नामक वह कोई ललित वस्तु आपके लिए संतोषप्रद हो, यत्

१—"विरिङ्क्ते सूते विरिञ्चः-विरिञ्चिरिति प्राञ्च्याः।" क्षीरस्वामी (अमरकोशटीका)। इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'जगत् के उत्पन्न करने वाले' यह अर्थ किया गया है, अन्यथा 'अथो' का अन्वय संभव नहीं है। अनुवादक

२—यहाँ श्रीमद्भागवत के (तृ० स्क०, अध्याय ८, श्लो० १७-१८-१९) के कथा प्रसङ्ग का अनुसंधान करना चाहिए। वे श्लोक ये है—

तस्माद्युगान्तश्वसनावघूर्ण, जलोर्मिचक्रात्सलिलाद्विरूढम्।
उपाश्रितः कञ्जमु लोकतत्त्वं, नात्मानमद्धाविददादिदेवः ॥१७॥
क एष योऽसावहमब्जपृष्ठ, एतत्कुतो वाब्जमनन्यदप्सु।
अस्ति ह्यधस्तादिह किञ्चनैतदधिष्ठितं यत्र सता नु भाव्यम् ॥१८॥
स इत्थमुद्वीक्ष्य तदब्जनाल—नाडीभिरन्तर्जलमाविवेश।
नार्वाग्गतस्तत्खरनालनाल—नाभिं विचिन्वंस्तदविन्दताजः ॥१९॥

(यस्मात्)=क्योंकि, **स त्रिभुवनगुरुः वेदनाथः विरिञ्चिः न अलम्**= वह त्रिलोकी के गुरु और वेदों के स्वामी ब्रह्मा, **सकलजगतः सम्भूत्यर्थं**= संपूर्ण जगत् के सम्यक् ऐश्वर्य के लिए, **न अलम्**=समर्थ नहीं है, (तात्पर्य यह कि ब्रह्मा उत्पन्न कर सकते हैं, वेदों द्वारा ज्ञान भी दे सकते हैं, पर ऐश्वर्य नहीं दे सकते) (अतः) **विष्णुनाऽभिप्रपन्नम्**= विष्णु से स्वीकार की गई है, और जो, **धन्यालिभिरतितरां ध्येयम्**= धनियों की पंक्तियों से अत्यन्त ध्यान करने योग्य है, तथा **स्वप्रकाश-स्वरूपम्**=जिसका स्वरूप स्वप्रकाश है।

यहाँ आशीर्वाद के प्रकरण में 'संतोष उत्पन्न करने में समर्थ होने' के कारण 'लक्ष्मी' और 'भगवान की नाभि का कमल' दोनों ही प्रकृत हैं, अतः यह श्लेष केवल प्रकृताश्रित है और एकश्रुति (पद्माख्यम्) से दो पदों का प्रतिभान होने से भिन्न धर्मों के पुरस्कार से अनेक अर्थों का प्रतिपादन करने के कारण सभंग है।

यह श्लेष विशेष्यों के श्लिष्ट न होने पर भी होता है जैसे यहाँ ही इस पद्य का चौथा चरण **पायादाद्यं कमलमथवा योगमायास्वरूपम्**- अर्थात् 'आद्य कमल' अथवा 'योगमाया का स्वरूप' आप की रक्षा करे यह बना देने पर।

अनेकधर्मपुरस्कारेण प्रकृताश्रित अभङ्गश्लेष; जैसे—

करकलितचक्रघटनो नित्यं पीताम्बरस्तमोरातिः।
निजसेविजाड्यनाशनचतुरो हरिरस्तु भूतये भवताम्॥

वह हरि (विष्णु+सूर्य) आपके ऐश्वर्य के लिए हों। जो नित्य 'करकलितचक्रघटन' (हाथ में सुदर्शन चक्र की चेष्टा रखनेवाला+ किरणों से कालचक्र की घटना करनेवाला) है, जो 'पीताम्बर' (पीत वस्त्रवाला+आकाश को पी जाने वाला अर्थात् पार कर जाने वाला

अथवा आकाश को पीला बनाने वाला) है, जो 'तम' (राहु+ अन्धकार) का शत्रु है और जो अपनी सेवा करनेवालों की 'जड़ता' (मूर्खता+शीत) के नाश करने में चतुर हैं।

यह भेद भी विशेष्यों के श्लिष्ट न होने पर हो सकता है; जैसे पूर्वोक्त श्लोक का उत्तरार्द्ध निजसेविजाड्यहरणो विष्णुः सूर्यश्च वः पातु' यह कर देने पर।

अर्थश्लेष जैसे—

> अर्जुनस्य गुरुर्मायामनुजः परमः पुमान्।
> गुञ्जापुञ्जधरः पायादपायादिह कोऽपि वः॥

अर्जुन के गुरु माया मनुष्य गुञ्जापुञ्ज को धारण करने वाले कोई परम पुरुष आपकी विघ्न से रक्षा करें।

(यहाँ गुरु शब्द के स्थान पर 'उपदेशक' 'शिक्षक' आदि शब्द भी आ सकते हैं, अतः 'गुरु' में अर्थश्लेष है)[1]

१—यह नागेश के अनुरोध से लिखा गया है, पर यहाँ 'गुरु' शब्द के स्थान पर शिक्षकादि पद आ सकते हैं, एतावता अर्थश्लेष कैसे हो गया। यों तो सभी शब्दों में अर्थ श्लेष हो जायगा, क्योंकि पर्यायवाचक शब्द तो प्रायः सभी शब्दों के मिल सकते हैं और नागेश ने जो इसके आगे लिखा है—"एवं च गुरुरुपदेष्टा बृहस्पतिश्च।" इसका क्या अभिप्राय है सो तो कुछ भी समझ में नहीं आता। यदि यहाँ 'गुरु' शब्द का बृहस्पति भी अर्थ है तो 'अर्जुन का बृहस्पति' कहने में क्या विशेषता हो गई, जिससे श्लेष मानना पड़ा। दूसरे उस स्थिति में यह अर्थ श्लेष रहा भी नहीं, क्योंकि तब 'गुरु' पद अपरिवर्त्तनीय हो

इस तरह ये तीनों प्रकृतविषयक ही भेद हैं।

केवल अप्रकृताश्रित; जैसे—

हरिकरसङ्गादधिकं रमणीयाप्यतुलरागसंवलिता।
सुन्दरि! तवाननाग्रे कमलाभा विगलितप्रतिभा॥

हे सुन्दरि, तुम्हारे मुख के सामने 'कमलाभा' (कमल की कान्ति + कमला की कान्ति) 'हरिकर' (सूर्य की किरणों + विष्णु के हाथ) के लगने से 'अधिकम्' (जल में + अधिक) रमणीय और अनुपम 'राग' (रंग + स्नेह) से युक्त होने पर भी 'प्रतिभारहित' हो जाती है कमल और कमला दोनों की सिट्टी गुम होना है।

यह श्लेष केवल अप्रकृत के विषय में है, क्योंकि यहाँ प्रकृत है 'आनन' वह श्लेष का विषय नहीं है। यह श्लेष 'कमलाभा' इस विशेष्य के अंश में और 'अधिकम्' इस विशेषण के अंश में सभंग है और अन्यत्र अभंग है।

गया, क्योंकि 'उपदेष्टा' या 'शिक्षक' का तो बृहस्पति अर्थ होता नहीं।

काव्य प्रकाशकार ने तो अर्थश्लेष का उदाहरण दिया है—

'अहो सुसदृशी वृत्तिस्तुलाकोटेः खलस्य च।
स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम्॥'

अर्थात् आश्चर्य है कि लकड़ी के डंडी और दुष्ट का व्यवहार सर्वथा समान है, थोड़े से में उन्नत हो जाता है और थोड़े से में अवनत।

यहाँ 'उन्नत होना' और 'अवनत होना' ऐसे धर्म हैं जिनका शब्द बदलने पर भी दोनों में अन्वय हो जाता है।

इस पहेली को मार्मिक विद्वान् ही सुलझावें।

प्रकृति विशेष्य के श्लिष्ट न होने पर; जैसे इसी पद्य में उत्तरार्ध 'कमलायाः कमलस्य च शोभा गलिता तवाननस्याग्रे' इस तरह बना देने पर।

प्रकृत और अप्रकृत दोनों के विषय में (उभयाश्रित) श्लेष; जैसे—

अलं हि मानी परिदीर्णगात्रः समापितः फाल्गुनसंगमेन।
अत्यन्तमाकाङ्क्षितकृष्णवर्त्मा भीष्मो महात्माजनि माघतुल्यः॥

महात्मा भीष्म माघमास के समान थे, क्योंकि भीष्म भी 'अलं हि मानी परिदीर्णगात्रः' (अत्यंत मानी और जिनका सब शरीर बाणों से छिद गया ऐसे) थे और माघमास भी 'अलं हिमानीपरिदीर्णगात्र' (पूर्णतया ठंढ की अधिकता से शरीर को फाड़ देने वाला) होता है। भीष्म भी फाल्गुन (अर्जुन) के संग से समाप्त हो गये थे और माघ भी फाल्गुन (फागुन) के प्राप्त होने से समाप्त हो जाता है। भीष्म भी 'अत्यंतमाकाङ्क्षितकृष्णवर्त्मा' (जिनको कृष्ण का मार्ग—भगवद्भक्ति—अत्यंत अभीष्ट थी) थे और माघ मास भी 'अत्यंतमाकांक्षितकृष्णवर्त्मा' (जिसमें अग्नि की बहुत इच्छा रहती है ऐसा) होता है।

यहाँ भीष्म प्रकृत हैं और माघ अप्रकृत। वे दोनों ही श्लिष्ट नहीं हैं, केवल विशेषण ही श्लिष्ट हैं; इस कारण यह भी तृतीय भेद होता है, किंतु यह भेद उपमा से मिश्रित है। और यदि 'माघो महात्माजनि हंत भीष्मः—खेद है कि महात्मा (महा शरीर) माघ भीष्म (भयंकर) हो गया। इस तरह अप्रकृत अंश को भी श्लेष से ग्रस्त करके रूपक किया जावे तथापि प्रकृत विशेष्य के अश्लिष्ट होने से श्लेष अखंडित ही रहता है।

ऐसे स्थल पर समासोक्ति का भ्रम नहीं करना चाहिए, क्योंकि यहाँ अप्रकृत धर्मी भी शब्द से वाच्य है, और समासोक्ति वहीं मानी जाती है

जहाँ अप्रकृत व्यवहार शब्दशक्ति (अभिधा) का सहन कर भी ले, किंतु अप्रकृत धर्मी में अभिधा का स्पर्श भी न हो—अर्थात् वह केवल व्यंग्य हो।

श्लेष के विषय में विचार

यहाँ इस विषय पर विचार किया जाता है कि- यह अलंकार प्रायः अन्य अलंकारों के विषय में प्रविष्ट हो जाता है, ऐसी जगह इसको (उन अलंकारों का) बाधक मानना चाहिए, उनसे संकीर्ण (मिश्रित) मानना चाहिए अथवा उनके द्वारा बाध्य मानना चाहिए। तात्पर्य यह कि वहाँ दूसरा अलंकार गौण होकर श्लेष प्रधान हो जाता है अथवा दोनों समान माने जाते हैं, किंवा श्लेष माना ही नहीं जाता।

इस विषय में उद्भटाचार्य कहते हैं—"येन नाप्राप्ते य आरभ्यते स तस्य बाधकः—अर्थात् जिसकी पूर्णतया प्राप्ति होने पर जो दूसरा आरंभ किया जाता है वह (दूसरा) उस (प्रथम) का बाधक हो जाता है" इस न्याय से श्लेष अन्य अलंकारों को बाधित कर देता है, क्योंकि यह दूसरे अलंकारों के विषय में ही आरंभ किया जाता है—इसका कोई पृथक् विषय नहीं है कि जहाँ यह सावकाश होकर दूसरे अलंकार को बाधित नहीं करे। देखिए केवल अप्रकृत और केवल प्रकृत के श्लेष में तो तुल्ययोगिता जग ही रही है—उसे कोई रोक सकता नहीं, और प्रकृताप्रकृत में हो जायगा दीपक, तथा दीपक से अनुमोदित उपमादिक भी हैं ही।"

अब यदि आप कहें कि 'काव्यप्रकाश' ने इसका उत्तर दे दिया है, क्योंकि—

"देव त्वमेव पातालमाशानां त्वं निबंधनम्।
त्वं चामरमरुद्भूमिरेको लोकत्रयात्मकः॥

हे देव, तुम ही 'पातालम्' (पातालरूप + पूर्णतया रक्षक) हो तुम ही 'आशाओं' (दिशाओं + आशाओं) के आश्रय (पृथ्वी रूप) हो और तुम ही 'चामरमरुद्भूमि' (और देवताओं और मरुद्गणों के स्थान (स्वर्ग) + चामरों के पवन के पात्र-अधिकारी) हो, इस तरह अकेले ही त्रिलोकीरूप हो।

इत्यादिक में श्लेष के लिए पृथक् विषय मिल जाता है।" तो यह उचित नहीं। कारण, यहाँ रूपकालंकार स्पष्ट है, क्योंकि श्लेष से उपस्थापित 'पातालादिक अर्थों के अभेद से आरोप किए बिना राजा को त्रिलोकीरूप कहना सिद्ध नहीं हो सकता (और अभेद से आरोप का नाम ही रूपक है)।

यदि आप यह कहें कि

'नदीनां संपदं बिभ्रद्राजायं सागरो यथा'

अर्थात् 'नदीनाम्' (नदियों की + दीन नहीं – अत्यधिक) सम्पत्ति को धारण करने वाला यह राजा जैसे समुद्र है।'

इत्यादिक में उपमा की प्रतीति कैसे होती है और वहीं 'यथा' शब्द के स्थान में 'किमु' शब्द रखने पर ('सागरः किमु' कर देने पर) उत्प्रेक्षा की प्रतीति क्यों होती है ? इसी तरह 'अपर' शब्द कर देने पर ('सागरोऽपरः' कर देने पर) रूपक की प्रतीति क्यों होती है ? इसका उत्तर वे यह देते हैं कि उपमा—आदि की प्रतीतिमात्र होती है, वस्तुतः वे अलंकार यहां हैं नहीं; जैसे सफेदी के कारण सीप में चांदी प्रतीत होने पर भी वस्तुतः चांदी वहां है थोड़े ही। इसलिये यह मानना चाहिए कि जहां-जहां श्लेष का विषय हो वहाँ सब जगह उपमादिक की प्रतीति का उत्पत्तिहेतु श्लेष

ही अलंकार होता है, अन्य सब अलंकार बाधित हो जाते हैं।' यह है उद्भटाचार्य का पक्ष।

किंतु इस बात को दूसरे लोग सहन नहीं करते। वे कहते हैं। देखिए आप जो यह कह रहे हैं कि 'जहाँ किसी के पूर्णतया प्राप्त होने पर जो नवीन आरम्भ किया जाता है वह अवकाशरहित होने से पहले को बाधित कर देता है' सो ठीक नहीं। कारण, पहले उदाहरण दिए गये 'पद्माख्यं तत्किमपि ललितम्' इस हमारे पद्य में और 'सर्वदोमाधवः[1] पातु यो गङ्गां समदीधरत्' इत्यादि अन्य कवि के पद्य में भी श्लेष के अतिरिक्त कौन-सा अलंकार है? यदि कहो कि तुल्य-योगिता है तो तुल्ययोगिता में सादृश्य की प्रतीति नियत रूप से होती है; अतः वह यहाँ कैसे कही जा सकती है, क्योंकि प्रकृत (उक्त पद्यों) में लक्ष्मी और कमल का अथवा हरि और हर का सादृश्य कहना अभीष्ट नहीं है, एवम् यहां 'एक श्रुति से दो अर्थों के ग्रहण' के अति-रिक्त अन्य कुछ चमत्कारजनक है भी नहीं जिसके कारण दूसरा अलंकार स्वीकार किया जाय, और एक श्रुति से दो अर्थ का ग्रहण तो श्लेष ही है। सो इस तरह श्लेष के सावकाश होने से उसे अन्य अलंकारों का बाधक मानना उचित नहीं।

---

[1] इस पद्य के दो अर्थ हैं-सर्वदः = सब कुछ देने वाले, माधवः=हरि, पातु=रक्षा करें, यः=जिनने (कृष्णावतार में) अगम्=गोवर्धन पर्वत को, (और) (बराह अवतार में) गाम्=पृथ्वी को, समदीधरत्=धारण किया यह हरि के पक्ष में अर्थ है।

शिव के पक्ष में अर्थ है--यः=जिनने, गङ्गाम्=गंगा को, समदी-धरत्=धारण किया, (वह) उमाधवः=पार्वतीपति (शिव) १ सर्वदा=सदा पातु=रक्षा करें।

इसीलिए जो यह लिखा है कि 'उपमादिक केवल प्रतीत होते हैं—उनकी वास्तविक स्थिति नहीं है' सो भी संगत नहीं। कारण, जैसे उपमा में गुण, क्रिया आदि समानधर्मरूप होते हैं वैसे ही केवल 'शब्द' के भी समानधर्म होने में किसी प्रकार की बाधा नहीं है। इसी तरह श्लेष के विषय में अन्य अलंकारों का अस्तित्व भी वास्तविक है प्रतिभासिक नहीं। प्रत्युत यह कहना चाहिए कि वहाँ श्लेष की प्रतीतिमात्र है। कारण, यदि ऐसा न मानों तो पूर्णोपमा का सभी विषय तीनों प्रकार के श्लेष से आक्रान्त होने के कारण उपमा को कहीं अवकाश ही नहीं रहेगा। श्लेष को तो अपने विषय में अवकाश है, अतः श्लेष का ही बाधित होना उचित है, उपमा आदि का नहीं।

इतना ही नहीं, किंतु 'समरार्चितोऽप्यमरार्चितः—अर्थात् समर में पूजित होने पर भी अमरों से पूजित है'— इत्यादिक में श्लेष की तिमिररोगी (मोतियाबिंद वाले) के दो चंद्रमा की तरह केवल प्रतीतिमात्र ही है, न कि अलंकाररूपता। कारण, श्लेष का जीवन-मूल है द्वितीय अर्थ, वह यहाँ स्थिर नहीं होता, क्योंकि 'समरार्चितः' का 'रण में पूजित' यही अर्थ है 'मरण सहित में अथवा मरण सहित से अर्चित' इस अर्थ की तो कोई स्थिति ही नहीं है।

और यह कहा नहीं जा सकता कि जैसे—'विरोध के आभास मात्र को विरोधालंकार माना जाता है वैसे श्लेष के आभास मात्र को भी श्लेष अलंकार मान लिया जाय', क्योंकि ऐसा मानने को कोई तैयार नहीं। यह स्पष्ट ही है।

इसलिए 'समरार्चितोऽप्यमरार्चितः' इत्यादि स्थलों में श्लेष की प्रतिभा (प्रतीति मात्र) से उत्पन्न विरोध ही अलंकार है; न कि विरोध की प्रतिभा से उत्पन्न श्लेष।

इस तरह यहाँ तक यह बताया गया कि श्लेष को स्वतंत्र रूप में अवकाश है, अतः वह अनवकाशता के कारण 'येन नाप्राप्ते०' इस न्याय के आधार पर किसी अलंकार का बाधक नहीं हो सकता। अब यह विचार करिए कि—आप जो 'अवश्यप्राप्ति' की बात करके श्लेष को बाधक बना रहे हैं, सो यह 'अवश्यप्राप्ति' श्लेष के विषय में उपमात्व, रूपकत्व आदि विशेषों के रूप से सोची जा रही है अथवा 'सामान्यतया किसी अलंकार' के रूप में ? यदि पहला पक्ष लिया जाय कि तत्तद् अलंकारों के उपमात्व, रूपकत्वादि विशेषरूप श्लेष के विषय में अवश्य प्राप्त हो जाते हैं, तो यह असंभव है; क्योंकि कोई भी अलंकार विशेष (अर्थात् केवल अकेला रूपक अथवा अकेली उपमा) श्लेष के यावन्मात्र विषय (श्लेषविषयत्वावच्छिन्न) में अवश्य प्राप्त नहीं है—अर्थात् जहाँ कहीं श्लेष हो वहाँ उपमा ही हो अथवा रूपक ही हो ऐसा कोई नियम नहीं है, कहीं कोई अलंकार होता है और कहीं कोई।

अब यदि कहा जाय कि किसी विशेष अलंकार की बात हम नहीं कर रहे हैं, किंतु 'श्लेष से भिन्न कोई-न-कोई अलंकार श्लेष के विषयमें आ ही पड़ता है—अतः किसी-न किसी की वहाँ अवश्य प्राप्ति है' इस कारण 'श्लेष के विषय में जहाँ कहीं भी जो अन्य अलंकार आ जाय उसे बाधित करके श्लेष मान लिया जाना चाहिए'—इस रूपमें बाध्य-सामान्यचिंता कर रहे हैं तो यह बहुत अच्छी रही। श्लेष आया और अन्य अलंकार बाधित हुआ, अतः 'श्लिष्टपरंपरित रूपक' और 'श्लिष्ट समासोक्ति' अलंकार तो समाप्त ही हो जायँगे, क्योंकि बिना श्लेष के तो वे हो नहीं सकते, अतः सिद्ध हुआ कि श्लेष अलंकारांतर का बाधक नहीं हो सकता। हाँ, अलंकारांतर से संकीर्ण (मिश्रित) हो सकता है। सारांश यह कि आपका पहला पक्ष (अर्थात् श्लेष का बाधित हो जाना) निरस्त है और दूसरे पक्ष (संकीर्णता) का संभव हो सकता है।

अब तीसरे अर्थात् श्लेष की बाध्यता वाले-पक्ष पर विचार करिए। इस विषय में अन्य विद्वानों का कहना है कि—

"जो अलंकार प्रधान रूप से चमत्कार उत्पन्न करनेवाले होते हैं वे अपना-अपना नाम पाते हैं। किंतु यदि वे ही अलंकार दूसरों के उपस्कारक रूप में वर्तमान होते हैं तो वे अपने नाम से नहीं पुकारे जाते उपस्कार्य अलंकार का ही नाम वहाँ प्रधान रहता है; जैसे—

'रराज भूमौ वदनं मृगाक्ष्या नभोविभागे हरिणाङ्कबिंबम्'
अर्थात् पृथ्वी पर मृगनयनी का मुख सुशोभित हुआ और आकाश भाग में चंद्रबिंब'।

यहाँ 'प्रकृत और अप्रकृत का एक धर्म के साथ संबंध' दीपक के नाम से पुकारा जाता है, किंतु इसी बात को यदि यों कहा जाय कि।

'राजते वदनं तन्व्या नभसीव निशाकरः

अर्थात् 'तन्वी का मुख आकाश में चंद्रमा की तरह शोभित हो रहा है।'

यहाँ दोनों का एक धर्म में संबंध होने पर भी वह। ('इव' शब्द से वाच्य, अतएव प्रधान) उपमा का उपस्कारक होने के कारण दीपक के नाम से नहीं पुकारा जाता। इसीलिए तो कहा जाता है कि "प्रधान्येन व्यपदेशा भवन्ति—अर्थात् प्रधानता से नाम हुआ करते हैं" इस दशा में अन्य अलंकार के उपस्कारक रूप में रहनेवाला श्लेष, जैसे घर का आदमी मेहमान नहीं कहला सकता वैसे, श्लेषालंकार का नाम कैसे पा सकता है। इसीलिए उसे बाध्य-सा ही समझना चाहिए।"

श्लेष और शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का भेद

इस तरह संक्षेप से श्लेष का थोड़ा सा विवरण दिया गया है। यह कहा जा चुका है कि जहाँ प्रकृत और अप्रकृत दोनों विशेष्यों का भी श्लिष्ट पद से ग्रहण हो वह (शब्दशक्तिमूलक) ध्वनि का विषय है, जैसे—

अविरलविगलद्दानोदकधारासासिक्तधरणितलः।
धनदाग्रमहितमूर्तिर्जयतितरां सार्वभौमोऽयम् ॥

कवि कहता है—जिसने निरंतर गिरते हुए मद-जल की धाराओं की वृष्टि से भूमंडल को सींच दिया है और जिसके स्वरूप की कुबेर के आगे प्रशंसा होती रहती है—कुबेर भी जिसकी शरीर-संपत्ति पर लट्टू है, उस सार्वभौम नामक दिग्गज के समान, जिसने निरंतर गिरते दान-जल (संकल्प के पानी) की धाराओं की वृष्टि से भूमंडल को सींच दिया है और जिसका स्वरूप धन देने वालों में सर्वप्रथम प्रशस्त है ऐसा यह सार्वभौम (सब पृथ्वी का स्वामी) सबसे उत्कृष्ट है।

यहाँ राजा प्रस्तुत है, पर 'सार्वभौम' नामक उत्तर दिशा का हाथी अप्रस्तुत होने पर भी व्यंजना की मर्यादा से प्रतीत होता है। ऐसे स्थल पर अप्रस्तुत का कथन असंबद्ध न हो इसलिए प्रस्तुत और अप्रस्तुत के उपमान—उपमेय भाव में तात्पर्य की कल्पना कर ली जाती है। इसको शब्दशक्तिमूलक अनुरणनरूपध्वनि कहते हैं। ध्वनिकार ने इसका उदाहरण यह दिया है—

"उन्नतः प्रोल्लसद्धारः कालागुरुमलीमसः।
पयोधरमरस्तस्याः कं न चक्रेऽभिलाषिणम् ॥

उसका 'उन्नत' (उभरा हुआ बढ़ा-चढ़ा) 'प्रोल्लसद्धार' (जिसमें हार सुशोभित हो रहा था + जिसकी धाराएँ सुशोभित हो रही थीं) और 'कालागुरुमलीमस' (काले अगर से रँगा हुआ + काले अगर के समान काला) 'पयोधरभर' (स्तनों का भार + मेघसमूह) किसको अभिलषित नहीं बनाता था।—सभी उसे चाहते थे।"

और मम्मट भट्ट ने यह उदाहरण दिया है—

"भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशाल—
वंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य।
यस्यानुपप्लुतगतेः परवारणस्य
दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत् ॥

यहाँ प्रस्तुत अर्थ है—जिसके शरीर पर कष्ट से आक्रमण किया जा सकता था, जिसका विशाल वंश में उन्नति हुई थी, जिसने बाणों का पक्का अभ्यास किया था, जिसका ज्ञान अबाधित था, जो शत्रुओं का निवारण करनेवाला था, ऐसे उस कल्याणरूप राजा का हाथ निरंतर दान के जलों की सिंचाई से सुंदर रहता था।

अप्रस्तुत अर्थ है—जिसके शरीर पर कष्ट से चढ़ा जा सकता था, जिसके मेरुदंड (पीठ) ने बड़ी उन्नति की थी, जिसने भौरों का इकट्ठा कर रक्खा था ऐसे उस 'भद्र' जाति के उत्कृष्ट हाथी की सूँड़ निरंतर मद के जल की सिंचाई से सुंदर रहती थी।

इस पर विचार

पर कुवलयानंदकार तो कहते हैं कि—"यहाँ प्रकृताप्रकृत श्लेष के उदाहरण में जो प्राचीन लोग शब्दशक्तिमूलक ध्वनि चाहते हैं सो वह

प्रकृताप्रकृताभिधानमूलक उपमादिक अलंकार की व्यंग्यता के अभिप्राय से है, न कि अप्रकृत अर्थ की व्यंग्यता के अभिप्राय से। कारण, अप्रकृत अर्थ भी शक्ति से प्रतिपाद्य होने के कारण वाच्य है, अतः वहाँ व्यंजना की अपेक्षा नहीं है। यद्यपि

असावुदयमारूढः कान्तिमान्रक्तमण्डलः।
राजा हरति सर्वस्वं मृदुभिर्नूतनैः करैः॥

सायंकाल का वर्णन है। यह 'उदय' (उदयाचल + अभ्युदय) पर आरूढ़, कांतिमान् और जिसका 'मण्डल' (बिंब + प्रजाजन) 'रक्त' (लाल + अनुरक्त) है ऐसा राजा (चंद्र + राजा) कोमल और नूतन करों (किरणों + टेक्सों) के द्वारा सर्वस्व हरण कर रहा है इत्यादिक में प्रकरणवशात् ('राजा' और 'कर' के) प्रकृत अर्थ (चन्द्रमा और किरण) के तत्काल बुद्धि स्थित हो जाने पर ही बाद में 'राजा' और 'उसके लिए जाने वाले धन (टेक्स)' आदि के वाचक 'राजा' और 'कर' आदि पदों के परस्पर सन्निधान के बल से राजा के विषय में अन्य शक्ति के उन्मेषपूर्वक अप्रकृत अर्थ प्रतीत हो सकता है, तथापि इतने मात्र से उसे व्यग्य नहीं कहा जा सकता। कारण, शक्ति से प्रतिपादन किए जानेवाले अर्थ में व्यक्त होने की बिल्कुल ही अपेक्षा नहीं रहती। प्रकृत अर्थ का कथन समाप्त हो जाने पर यदि वह स्फुटित होता है तो भले ही आप उसे गूढश्लेष कहिए पर व्यंग्य नहीं कह सकते। अन्यत्र भी ऐसा गूढ़श्लेष है; जैसे—

अयमतिजरठाः प्रकामगुर्वीरलघुविलम्बिपयोधरोपरुद्धाः।
सततमसुमतामगम्यरूपाः परिणतदिक्करिकास्तटीर्बिभर्ति॥

माघ काव्य में रैवतक पर्वत का वर्णन है—यह पहाड़ अत्यन्त कठिन, भारी-भारी और बड़े-बड़े लम्बमान मेघों से व्याप्त ऐसी तटियों

(झाँपों) को धारण करता है जिनका रूप सदा प्राणियों के अगम्य है और जिनमें दातों के तिरछे प्रहार करने वाले दिग्गज रहते हैं।' यह तो है इसका प्रकृत अर्थ और इसके बाद स्फुरित होनेवाला अप्रकृत अर्थ यह है—यह राजा अत्यन्त बृद्ध बड़े लम्बे चौडे लटकते स्तनों से युक्त, प्राणियों के सङ्गम करने के सर्वथा अयोग्य और जिनके 'दिक्' (दाँतों के गोल निशान) और 'करिका' (नख के चिह्न) परिणत हो चुके हैं—सूखसाखकर निशानमात्र रह गए हैं ऐसी बृद्ध वेश्याओं का पोषण करता है।

इस समासोक्ति के उदाहरण में बृद्ध वेश्याओं का वृत्तान्त प्रतीत होता है इस स्थान पर अभंग श्लेष है—यह सर्वसम्मत है।

सो इस तरह यह सिद्ध हुआ कि (शब्दशक्तिमूलक ध्वनि में भी) अप्रकृत अर्थ व्यंग्य नहीं होता।"

अब इस पर विचार किया जाता है—

(१) सबसे पहले तो आप जो यह कहते हैं कि 'उपमादिक अलंकारों का ही व्यंग्य होना प्राचीनों का अभीष्ट है, 'अप्रकृतार्थ का व्यंग्य होना नहीं।' सो कैसे ? क्योंकि तब फिर –

"अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम् ॥

(काव्यप्रकाश)

अनेकार्थक शब्द की शक्ति के 'संयोगादिक' के कारण रुक जाने पर वाच्य से भिन्न अर्थ को समझानेवाला व्यापार व्यञ्जना है।" इत्यादिक उनके ग्रंथ का आपने कैसे समर्थन किया, सो समझ में नहीं आता, क्योंकि उपमादिक की व्यंग्यता वाचकता के नियन्त्रण की

अपेक्षा नहीं रखती । कारण, अनेकार्थक शब्द उपमादिक का वाचक नहीं होता जिसके नियन्त्रण के लिए संयोगादिक का अनुसरण सार्थक होता । उपमादिक की व्यंग्यता में तो दूसरे अर्थ की वाचकता का नियन्त्रण न होने पर भी कोई बाधा नहीं आती । इसलिए यह स्पष्ट ही है कि आपने जो प्राचीनों के अभिप्राय का वर्णन किया है वह उनके ग्रन्थ पर विचार न करने के कारण किया है—यदि आपने ग्रन्थ पर विचार कर लिया होता तो ऐसा कदापि नहीं लिखते ।

(२) यह तो हुई एक बात । अब दूसरी बात लीजिए—आप जो 'अप्रकृतार्थ भी शक्ति से प्रतिपाद्य है' इत्यादि कह रहे हैं, इसके विषय में हम आपसे पूछते हैं कि अप्रकृत अर्थ का शक्ति से प्रतिपादन कैसे हो सकता है ? क्योंकि उसके विषय में शक्ति का नियंत्रण उनने (प्राचीनो ने) स्वयं ही लिखा है । अब यदि नियंत्रण का अर्थ 'केवल प्रथम बोध उत्पन्न न होने देना' है न कि 'अंत में भी (बोध न होने देना)' यह करें और कहें कि प्रकृत शक्ति से प्रकृत अर्थ का बोध हो जाने पर द्वितीय शक्ति से, जो अभी उपयोग में नहीं आई है, अप्रकृत अर्थ का बोध होने में कोई बाधक नहीं है तो यह ठीक नहीं । कारण, प्रथम तो हम आपसे यह पूछते हैं कि—अप्रकृत अर्थ का बोध उत्पन्न ही क्यों नहीं होता ? यदि उसका उत्तर यह दिया जाय कि प्रकरणादिक ज्ञान से प्रतिबंध हो जाने के कारण, तो हम आपसे पूछते हैं कि प्रकृतार्थ के बोध के बाद उस 'प्रकरणादिक के ज्ञान द्वारा प्रतिबंधकता' को किसने हरण कर लिया ?—जो प्रतिबंधकता पहले थी वह अब भी है ही । यदि आप कहें कि ज्ञान तो शीघ्रविनाशी (त्रिक्षणावस्थायी) होता है, अतः अप्रकृतार्थ के ज्ञान के समय प्रकरणज्ञान ही नष्ट हो गया । तो यह ठीक नहीं । कारण, वह ज्ञान नष्ट हो गया तो अन्य ज्ञान के उत्पन्न होने में तो कोई बाधा है नहीं । कहा जायगा कि वही ज्ञानव्यक्ति

(पुनः) प्रतिबंधक हो जायगी तो ऐसी हजारों व्यक्तियों और उनमें हजारों प्रतिबंधकतातओं की कल्पना गौरवग्रस्त है। इसकी अपेक्षा तो 'अतोऽस्तमर्कः' इत्यादि में दूसरे विद्वानों ने जो व्यंजना नामक व्यापार की कल्पना की है वही उचित है।

और यदि दूसरी शक्ति से यहाँ अप्रकृतार्थ का बोध मान भी लें तब भी—'जैमिनोयमलं धत्ते रसनायां महामतिः—इत्यादिक में 'जैमिनीयमलम्' का 'जैमिनि का मल (विष्टा)' इत्यादिक बाधित अर्थ का बोध शक्ति से सिद्ध करना कठिन है और यदि किसी तरह शक्ति से प्रतिपादन सिद्ध हो भी जाय तो देवदत्तादिक में अपने पुत्र के वाक्य से ऐसे अर्थ का प्रकट न होना और साले आदि के उपहास वाक्य से अप्रकृत अर्थ का अभिव्यक्त होना नहीं बन सकता। कारण, वक्ता और श्रोता आदि की विशिष्टता केवल व्यंग्य का ही प्रतीति का कारण है, वाच्य अर्थ की प्रतीति का नहीं। यह है प्राचीनों का आशय। ऐसी दशा में अप्रकृतार्थ का शक्ति से प्रतिपादन उनका अभिप्रेत क्यों बताया जाता है।[1]

१—नागेश कहते हैं—यहाँ यह विचारणीय है। कुवलयानंदकार ने "प्रकृतार्थे प्रकरणवशाज्झटिति बुद्धिस्थिते" इस उक्ति द्वारा प्राथमिक बोध को ही प्रतिवध्य बताया है—अर्थात् उनके मत से प्राथमिक बोध का ही प्रतिबंध होता है—यह कहा ही जा चुका है। ऐसी स्थिति में जो आगे उनके "अन्योन्यसंनिधानबलात्" लिखा है और जिसका अर्थ 'शब्दांतरसंनिधि' पहले बताया जा चुका है उससे यह सिद्ध होता है कि प्राथमिक बोध जब रुकता है तब 'प्रकरण' और 'शब्दांतरसंनिधि' इन दो नियमों द्वारा प्रकृतार्थ की प्रथम उपस्थिति होती है और अप्रकृत अर्थ में 'शब्दांतरसंनिधि' रूप केवल एक नियामक है, अतः उसकी भी उपस्थिति होती है, किंतु पश्चात्—यह है उनका तात्पर्य। (अतः आपने

श्रौर जो श्रापने "(प्रकृतार्थ के स्फुरित हो जाने पर द्वितीयार्थ के बोध में) 'श्रयमतिजरठाः' इत्यादि समासोक्ति की तरह गूढश्लेष

जो द्वितीय शक्ति के स्थान पर व्यंजना मानने की बात लिखी है वह निरर्थक है ।)

अब जो आपने लिखा है कि—'सुरभिमांसं भुंक्ते (सुगंधित मांस खाता है + गोमांस खाता है)' इत्यादि में पुत्रादिक द्वारा (सीधी भाषा में) कहने पर अप्रकृत अर्थ 'गोमांस' वाली शक्ति का प्रादुर्भाव नहीं होता, पर साले आदि ने (मजाक में) कहा हो तभी उसका प्रादुर्भाव होता है—'यह न हो सकेगा ।' सो यह व्यवस्था भी 'वक्ता का तात्पर्य न समझने' और 'समझने' द्वारा सरलता से बन सकती है, अथवा 'वक्ता श्रोता आदि की विशिष्टता' को (व्यंजनोल्लास का हेतु न मानकर) नियंत्रित (शक्ति अभिधा) के उल्लास का हेतु मान लिया जाय, क्योंकि उसका फल (अप्रकृतार्थ का बोध) तभी बन सकता है । हाँ, इतनी विशेषता अवश्य है कि जहाँ 'वक्ता की विशिष्टता' आदि का ज्ञान विलंब से होता है और 'प्रकरण' का ज्ञान शीघ्र होता है वहाँ 'वक्ता की विशिष्टता' आदि नियंत्रित शक्ति के उल्लासक होते हैं और जहाँ प्रकरणज्ञान तथा वक्तृवैशिष्ट्यादिज्ञान साथ ही होते हैं वहाँ वे नियंत्रण की प्रतिबंधकता के उत्तेजक मात्र ही रहते हैं—द्वितीय शक्ति के उल्लास तक उन्हें दौड़ नहीं लगानी पड़ती । व्यंजनावादी को भी वक्तृवैशिष्ट्यादि को व्यंग्य के सूझने में हेतु मानना ही पड़ता है । सो अच्छा यही है कि अप्रकृत अर्थ में व्यंजना न मानकर वक्तृवैशिष्ट्यादि को शक्त्युल्लासादि का हेतु ही माना जाय । इसी तरह योगरूढ पदों की जहाँ केवल योगार्थ मात्र से बने अर्थांतर की बोधकता इष्ट हो वहाँ वक्तृवैशिष्ट्यादि की रूढ़िप्रतिबंधकता अथवा रूढ़ि की उत्तेजकता मानी जानी चाहिए । इससे जो आपने लिखा है कि 'योगरूढ़िस्थले तु सापि-

होने दीजिए" यह कहा है। वह भी गर्भस्राव से गिर गया—मूल से ही उड़ गया। कारण, श्लिष्टविशेषणा समासोक्ति में भी व्यञ्जना से ही प्रकृतार्थ की प्रतीति मानी गयी है। इसीलिए ध्वनिकार ने—"गुणीभूतव्यंग्यभेदः समासोक्तिः—अर्थात् समासोक्ति गुणीभूत-

---

दूरापास्ना' वह अपास्त हो जाता है। दूसरे, शब्दशक्तिमूलक-ध्वनि के स्थल में 'एक नवीन संबंध' रूप व्यंजना की बोधजनकता की कल्पना की अपेक्षा पहले से बनी-बनाई शक्ति (अभिधा) को बोधजनक मानना ही उचित है, क्योंकि इसमें लाघव है। सो इस तरह यह सिद्ध हुआ कि अश्लिष्ट साधारण विशेषण वाली समासोक्ति में ही गुणीभूतव्यंग्यता है (क्योंकि जहाँ श्लेष हो वहाँ तो दूसरा अर्थ भी शक्ति से ही अवगत होता है)। अथवा श्लिष्टविशेषणा समासोक्ति में (केवल) आरोपांश को लेकर (व्यंग्य मान कर) गुणीभूतव्यंग्यता है (द्वितीयार्थ को व्यंग्य मानकर नहीं) यह अप्पय दीक्षित का आशय है।

वस्तुतः तो द्वितीयार्थ को व्यंग्य माना जाय तब भी उसे लेकर ध्वनि मानना उचित नहीं, क्योंकि उपमात्वादि की विवक्षा से वह भी प्रकृत का उपस्कारक हो जाने के कारण गौण हो जाता है, अन्यथा समासोक्ति में गुणीभूतव्यंग्यता कहना असंगत हो जायगा। इसलिए अलंकार की व्यंजकता को लेकर ही शब्दशक्तिमूलक ध्वनि को ध्वनि कहा गया है यह समझना चाहिए। अतः 'अयमतिजरठाः०' पद्य में जो आपने गूढ़श्लेष का खंडन किया है वह अपास्त हो जाता है—यह समझना चाहिए।

(यहाँ कहना यह है कि नागेश ने जो समाधान किया है वह पंडित-राज के अभिप्राय को समझे बिना किया है। पंडितराज को विप्रतिपत्ति इस विषय में नहीं है कि 'शक्ति को द्वितीयार्थबोधक क्यों माना गया' किंतु विप्रतिपत्ति यह है कि 'प्राचीनों का ग्रंथ आप कैसे बैठाते हैं!' सो

व्यंग्य का एक भेद है" यह लिखा है और उद्भटादि भी 'समासोक्ति से श्लेष बाधित हो जाता है' यह कहते हैं। यहाँ बाधित होने का अर्थ 'श्लेष की वहाँ प्रवृति न होना' ही है। रहा 'श्लिष्ट' इस शब्द का प्रयोग सो उसकी उपपत्ति केवल द्वयर्थक शब्द होने के कारण करना चाहिए—(सो वहाँ श्लेषालंकार है' यह समझना व्यर्थ है)। इसलिए यह जो कुछ आपने कहा है। वह कुछ भी नहीं है।

और हम तो कहते हैं कि अनेकार्थ स्थल में अप्रकृत के कथन में 'शक्ति' (अभिधा) की उक्ति संभव भी है, पर योगरूढ़ि के स्थल में तो 'शक्ति' की उक्ति भी दूर हट जाती है; जैसे—

चाञ्चल्ययोगिनयनं तव जलजानां श्रियं हरतु।
विपिनेऽतिचञ्चलानामपि च मृगाणां कथं नु तां हरति॥

योगरूढ़ि-शक्ति द्वारा इस पद्य का अर्थ यह है—कमलों में चंचलता-रूपी गुण नहीं है अतः जिसमें उनकी अपेक्षा चंचलता गुण अधिक है वह तेरा नेत्र यदि उनकी शोभा का तिरस्कार कर दे तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। पर आश्चर्य तो इस बात का है कि तेरा नेत्र अत्यन्त चंचल (अर्थात् चंचलता गुण से युक्त) हरिणों की शोभा का भी तिरस्कार कैसे कर देता है।

उसका समाधान तो नागेश ने भी नहीं किया। 'सुरभिमांसं भक्षयति' के विषय में भी आपने 'यदि तु यथा कथंचिदुपपत्तिः स्यात्' इस पंडितराज की उक्ति की ही व्याख्या की है, पर पंडितराज ने 'इति प्राचीनाशयः' जो लिखा है उसे आप भूल ही गये हैं। अतः प्राचीनों के ग्रंथ न बैठने के विषय में जो विप्रतिपत्ति पंडितराज ने उठाई थी उसका समाधान तो हुआ नहीं।)—अनुवादक

दूसरा यह अर्थ होता है कि मूर्खों के पुत्रों और अतएव प्रमादियों के धन का हरण, नयनों=ले जाने वालों अर्थात् चौर आदि—द्वारा हो सकता है पर, जा मृग=गवेषणा करनेवाले—अर्थात् जहाँ जाय वहाँ से खोज निकालने वाले—हैं और अतएव सावधान कहे जा सकते हैं, उनकी 'श्री' (शोभा + धन) का हरण कैसे हो सकता है।

यहाँ 'चंचलता गुण से रहित कमलों की शोभा का चंचलतारूप गुण में अधिक तुम्हारे लोचन से तिरस्कार होना आश्चर्यकारी नहीं है, आश्चर्यकारी तो है चंचलता रूपी गुण से युक्त हरिणों का तिरस्कृत होना।'

इस वाच्य अर्थ के समाप्त हो जाने पर भी रूढ़ि से रहित केवल योगशक्ति की मर्यादा से 'मूर्ख के पुत्रों का धन हरण, 'नयन'=नेता अर्थात् ले जानेवाले (चोरों) द्वारा किया जा सकता है, न कि मृगों= गवेषकों (जहाँ हो वहाँ से ढूँढ़ निकालनेवाले) का। यह जलज, नयन और मृग शब्दों से प्रतीत होनेवाला अर्थ 'व्यञ्जना व्यापार के बिना कैसे सिद्ध किया जा सकता है, क्योंकि रूढ़ि के कारण गहरी बेड़ियों से जकड़ी 'योगशक्ति' को यहाँ स्वतन्त्रता नहीं है। इसी कारण नैयायिकों ने माना है कि 'पङ्कज' आदि पदों से 'कीचड़ से पैदा होनेवाले' के रूप में 'कुमुद' 'शैवाल' आदि का बोध लक्षणा के द्वारा ही होता है, क्योंकि वैसे शक्तिज्ञानों (योगरूढिजन्य ज्ञानों) का बोध 'पद्मत्वादिप्रकारक ही होता है' और इसी कारण 'ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः' इस वेदान्त (उपनिषत्) के वाक्य में 'क्या यहाँ ऐश्वर्य से युक्त किसी जीव का प्रतिपादन है अथवा ईश्वर का' यह संदेह होने पर उत्तरमीमांसा के कर्त्ता श्री व्यासदेव ने 'शब्दा-देव प्रमितः' यह सूत्र बनाया है, जिसका तात्पर्य यह है कि योगरूढ़ि द्वारा यहाँ 'ईश्वर' ही अर्थ होता है, जीव नहीं।

इसलिए पूर्वोक्त पद्य में अप्रकृत चोर का व्यवहार शक्ति से ज्ञात नहीं होता, किन्तु व्यंजना से ही ज्ञात होता है।

इस अर्थ को लक्ष्य (लक्षणाजन्य) भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यहाँ (लक्षणा के हेतु) 'मुख्य अर्थ के बाध' आदि का अभाव है। कहा जायगा कि यहाँ तात्पर्यार्थ का बाध मानकर लक्षणा हो जायगी सो वह भी हो नहीं सकता, क्योंकि तात्पर्यार्थ के बोध के अनन्तर तात्पर्यार्थ का बाध हो सकता है, पर तात्पर्यार्थ ही बिना व्यञ्जना के कैसे ज्ञात होगा। जब अर्थ ही ज्ञात नहीं तो बाध किसका? इसलिए व्यञ्जना ही का शरण लेना चाहिए; क्योंकि श्रोता के यह जानने के लिए कि 'चोर का व्यवहार' यहाँ ('चाञ्चल्ययोगि नयनम् में') वक्ता को कहना अभीष्ट है, सहृदयता द्वारा उन्मिषित इस व्यञ्जना व्यापार के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है।

श्लेषमूलक ध्वनित्व और गुणीभूतव्यंग्यत्व पर विचार

यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि—

रागावृतो वल्गुकराभिमृष्टं श्यामामुखं चुम्बति चारुचन्द्रः

'राग' से (रंग से + प्रेम) से घिरा हुआ चन्द्रमा सुन्दर 'करों' (किरणों + हाथों) से अभिमृष्ट 'श्यामा' (रात्रि + षोडश वर्षा स्त्री) के सुन्दर 'मुख' (मुख + आरम्भ) को चुम्बन कर रहा है' इत्यादिक में तो समासोक्ति है यह निर्विवाद है और यह भी निर्विवाद है कि यहीं यदि चन्द्रमा के स्थान में 'राजा' पद बना दिया जायतो 'राजा' शब्द के राजा और चन्द्र दोनों अर्थ हो जाने के कारण शब्दशक्तिमूलक ध्वनि हो जायगी। अब यह सोचिए कि यहाँ दोनों ही जगह श्लिष्ट विशेषणों के प्रभाव से अप्रकृत व्यवहार की प्रतीति समानरूप में है—प्रतीति

में कोई तारतम्य नहीं। तब फिर इसी व्यवहार को एक जगह गौण मानना और दूसरी जगह प्रधान मानना यह कैसे हो सकता है। उचित तो यह है कि श्लिष्ट विशेषणों से प्रतीत होनेवाले अप्रकृत अर्थ को दोनों ही जगह गौण माना जाय, क्योंकि 'प्रकृत का प्रधान होना और अप्रकृत का उसका उपस्कारक होना' मानी हुई बात है। और यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि विशेष्य के श्लिष्ट होने मात्र के कारण व्यंग्य को प्रधान माना जाय और श्लिष्ट न होने पर व्यंग्य की अप्रधानता मानी जाय। रही चंद्रमा में नायकता की प्रतीति, सो एक जगह (समासोक्ति में) अर्थशक्तिमूलक व्यंजना के द्वारा है और दूसरी जगह (ध्वनि में) शब्दशक्तिमूलक व्यंजना के द्वारा, सो वह भी तुल्य ही है।

अब जो विद्वान् समासोक्ति में प्रकृत धर्मी में नायकत्व आदि की प्रतीति नहीं मानते, किंतु नायक आदि के व्यवहार की ही प्रतीति मानते हैं और जो विद्वान् ध्वनि में नायक की प्रतीति भी मानते हैं, उनके हिसाब से भी उक्त स्थल में एक स्थान पर व्यंग्य का गौणत्व और दूसरे स्थान पर प्रधानत्व किस कारण होगा? ऐसे स्थल पर प्रकृत और अप्रकृत की 'उपमा' अथवा 'अभेद' दोनो में से किसी को भी व्यंग्य कहो, किंतु उस व्यंग्य का प्रकृतोपस्कारक होने से गौणत्व ही उचित है, प्रधानत्व नहीं, अन्यथा समासोक्ति में भी व्यंग्य प्रधान होने लगेगा। अतः यदि प्राचीन आचार्य कुपित न हों तो यह भी कहा जा सकता है कि पूर्वोक्त उदाहरण में प्राचीन विद्वानों ने जहाँ 'शब्दशक्तिमूलक ध्वनि' लिखी है वहाँ श्लिष्ट विशेष्य वाली समासोक्ति ही है जो कि परांगरूप गुणीभूतव्यंग्य का एक भेद है (और साधारण समासोक्ति अश्लिष्ट विशेष्य वाली होती है। इसके अतिरिक्त इनमें कोई भेद नहीं है।)

शब्दालंकारता और अर्थालंकारता पर विचार

आचार्य उद्भट के अनुयायियों का कथन है कि सभंग और अभंग दोनों ही श्लेष अर्थालंकार हैं और आचार्य मम्मटभट्ट का सिद्धांत है कि दोनों ही श्लेष शब्दालंकार हैं, क्योंकि दोनों ही श्लेषा में शब्द नहीं बदला जा सकता, अतः चाहे अन्वय की दृष्टि से देखिए चाहे व्यतिरेक की दृष्टि से दोनों श्लेषों को शब्द के आश्रित ही निश्चित किया जाता है। हाँ, तृतीय भेद अर्थालंकार है, क्योंकि वह केवल अर्थाश्रित है।

किंतु 'अलंकारसर्वस्कार' आदि का सिद्धांत है कि अन्वय व्यतिरेक के द्वारा कारणता का ज्ञान होता है, आश्रयता का ज्ञान नहीं। जैसे घट के प्रति दंडादिक कारण हैं, क्योंकि उनके रहने पर घड़ा बनता है, न रहने पर नहीं, और आश्रयता का ज्ञान तो 'कौन किसमें रहता है' इस ज्ञान के अधीन है। अब सोचिए कि यहाँ सभंग श्लेप तो दो शब्दों में रहता है, (वहाँ शब्द भी दो होते हैं और अर्थ भी दो) जैसे कि लाख (लाही) से दो लकड़ी चिपकाकर एक कर दी गई हो और अभंग श्लेप दो अर्थों में रहता है, जैसे कि एक वृच (डंठल) में दो फल—अर्थात् वहाँ एक शब्द और दो अर्थ स्पष्ट रहते हैं। इस तरह एक (सभंग) का शब्दालंकार होना और दूसरे (अभंग) का अर्था-लंकार होना स्पष्ट ही है। यद्यपि यहाँ दूसरे (अभंग श्लेष) का भी 'प्रतिप्रवृत्तिनिमित्तं शब्दभेदः—अर्थात् हर एक प्रवृत्तिनिमित्त में शब्द का भेद हो जाता है' (अतः जहाँ दो अर्थ हुए वहाँ दो शब्द भी हो गए) इस सिद्धांत के अनुसार अभंगश्लेष की भी दो शब्दों में रहने के कारण शब्दालंकारता उचित है, तथापि एक तो शक्ततावच्छेदक की आनुपूर्वी (अत्तरक्रम) के अभिन्न होने से अभेदाध्यवसान के कारण वहाँ दो अर्थों का दो शब्दों में रहने का ज्ञान कठिन ही है,

अन्यथा 'प्रत्यर्थं शब्दनिवेशः—प्रत्येक अर्थ में (पृथक् पृथक्) शब्द का निवेश होता है' इस सिद्धांत के अनुसार जिसे मम्मटभट्ट 'अर्थ श्लेष' कहते हैं वह भी शब्दालंकार ही हो जायगा। (अतः सभंग श्लेष शब्दालंकार और अभंग श्लेष अर्थालंकार है—यही सिद्धांत उचित है।)

यह श्लेष उपमा की तरह स्वतंत्र होने पर भी स्थान-स्थान पर सब अलंकारों का अनुग्राहक होने के कारण वाणी के नवीन नवीन सौभाग्य को उत्पन्न करता हुआ सहृदयों द्वारा विविध उदाहरणों में विविध भावनाओं का विषय किया जा सकता है।

श्लेषालंकार समाप्त

अप्रस्तुतप्रशंसा

लक्षण

जहाँ अप्रस्तुत व्यंग्य के द्वारा प्रस्तुत वाच्य का उपस्कार हो वहाँ समासोक्ति होती है—यह कहा जा चुका है। अब उसके विपरीत (अर्थात् अप्रस्तुत वाच्य द्वारा व्यंग्य प्रस्तुत का उपस्कार होने पर) अप्रस्तुतप्रशंसा का वर्णन किया जाता है—

जहाँ आगे बताए जाने वाले सादृश्यादि प्रकारों में से किसी एक प्रकार से (वाच्य) अप्रस्तुत व्यवहार के द्वारा (व्यंग्य) प्रस्तुत व्यवहार की प्रशंसा की जाय वह 'अप्रस्तुतप्रशंसा' कहलाती है।

लक्षण का विवेचन —

यहाँ प्रशंसा का अर्थ वर्णनमात्र है, न कि स्तुति। अन्यथा

धिक् तालस्योन्नततां यस्य च्छायापि नोपकाराय

ताल की ऊँचाई को धिक्कार है जिसकी छाया भी उपकारार्थ नहीं। इत्यादिक में अव्याप्ति हो जायगी।

अप्रस्तुतप्रशंसा के भेद

यह पाँच प्रकार की है—

(१) जिसमें अप्रस्तुत के द्वारा अपने सदृश प्रस्तुत की अभिव्यक्ति हो।

(२) जिसमें कार्य से कारण की अभिव्यक्ति हो।

(३) जिसमें कारण से कार्य की अभिव्यक्ति हो ।
(४) जिसमें सामान्य से विशेष की अभिव्यक्ति हो ।
(५) जिसमें विशेष से सामान्य की अभिव्यक्ति हो ।

१—उनमें से प्रथम (अप्रस्तुत सदृश से प्रस्तुत सदृश की अभिव्यक्ति); जैसे—

दिगन्ते श्रूयन्ते मदमलिनगण्डाः करटिनः
करिण्यः कारुण्यास्पदमसमशीलाः खलु मृगाः ।
इदानीं लोकेऽस्मिन्ननुपमशिखानां पुनरयं
नखानां पाण्डित्यं प्रकटयतु कस्मिन्मृगपतिः ॥

जिनके गण्डस्थल मद से मलिन हो रहे हैं ऐसे हाथी दिशाओं के अंत में सुने जाते हैं, हथिनियाँ दया का पात्र हैं और मृग समानशील वाले नहीं हैं—उन पर आक्रमण ही कैसा ? अब इस संसार में यह मृगपति अनुपम नोंकों वाले अपने नखों के पाण्डित्य को किस पर प्रकट करे !

अथवा; जैसे—

यस्मिन्खेलति सर्वतः परिचलत्कल्लोलकोलाहलै-
र्मन्थाद्रिभ्रमणभ्रमं हृदि हरिद्यूथाधिपाः पेदिरे ।
सोऽयं तुङ्गतिमिङ्गिलाङ्गमिलनव्यापारकौतूहलः
क्रोडे क्रीडतु कस्य केलिरभसत्यक्तार्णवो राघवः ॥

जिसके खेलते समय चौतरफ उठती हुई कल्लोलों के कोलाहलों से दिशाओं के पतियों—लोकपालों के हृदय में मन्दराचल के भ्रमण

का भ्रम हो जाता था वह बड़े-बड़े तिमिङ्गलों (मत्स्य विशेषों) के अंगों को - अर्थात् पूरे के पूरे तिमिंगलों को—गिल जाने के व्यापार का कौतूहली राघव (महामत्स्य) खेल के वेग में समुद्र को छोड़ बैठा, अब किसकी गोद में खेले।

अथवा; जैसे—

पुरा सरसि मानसे विकचसारसालिस्खल-
त्परागसुरभीकृते पयसि यस्य यातं वयः।
स पल्वलजलेऽधुना मिलदनेकभेकाकुले
मरालकुलनायकः कथय रे! कथं वर्तताम् ॥'

जिसकी वय (अवस्था जीवन) पहले मानस सरोवर के खिले हुए कमलों की पंक्ति से गिरते हुए पराग से सुगंधित जल में व्यतीत हुई, वह हंसों के कुल का स्वामी अब अनेक (झुंडों के झुंड) मेंढकों से गंदे किए तलैया के पानी में, कहिए, कैसे जिंदगी गुजारे।

यह (सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसा) श्लिष्ट विशेषणों वाली भी देखी जाती है—

नितरां नीचोऽस्मीति त्वं खेदं कूप! मा कदापि कृथाः।
अत्यन्तसरसहृदयो यतः परेषां गुणग्रहीतासि ॥

हे कूप, तुम कभी यह खेद मत करना कि मैं अत्यंत नीचा हूँ (गहरा+नीचे दर्जे का) हूँ, क्योंकि तुम्हारा हृदय अत्यंत सरस (सजल + रसिक) है और तुम दूसरों के गुणों (गुणों + रस्सियों) के ग्रहण करने वाले हो।

(यहाँ अप्रकृत का वर्णन देखकर) यह कहना उचित नहीं कि इस अलङ्कार को समासोक्ति अनुगृहीत करती है। कारण, उसका स्वरूप अप्रस्तुतप्रशंसा के बिलकुल विरुद्ध होता है, अतः उसका इसे अनुगृहीत करना नहीं बनता।

काव्यप्रकाश पर विचार

(ऐसी स्थिति में) जो मम्मट भट्ट ने लिखा है कि—

"येनास्यभ्युदितेन चन्द्र ! गमितः क्लान्तिं रवौ तत्र ते
युज्येत प्रतिकर्तुमेव न पुनस्तस्यैव पादग्रहः।
क्षीणेनैतदनुष्ठितं यदि ततः किं लज्जसे नो मना-
गस्त्वेवं जडधामता तु भवतो यद् व्योम्नि विस्फूर्जसे ॥

हे चंद्र जिसने उदित होने द्वारा तुम्हें क्लांति को प्राप्त किया उस सूर्य के विषय में तुम्हारा प्रतिकार करना (प्रतिद्वंद्विता में खड़े होना) ही योग्य है न कि फिर उसी के पादों (चरणों+किरणों) का ग्रहण। यदि कहा जाय कि 'क्षीण' (धनहीन+कलाहीन) हो जाने से ऐसा किया है तो क्या तुम्हे किञ्चित् भी लज्जा नहीं आती ? (अब यदि मान लिया जाय कि क्षीणों की निर्लज्जता तो चलती ही है तो) ऐसा भले ही रहे, पर (तुम्हारी) 'जडधामता' (मूर्खता+शीतलता) तो यह है कि आकाश में गर्वसहित उदय होते हो।

इस जगह समासोक्ति अप्रस्तुतप्रशंसा की अनुग्राहिका है।"

इस पर विचार किया जाता है कि—यहाँ विशेषणों की समानता के प्रभाव से प्रतीत होनेवाला कापुरुष (अयोग्य पुरुष) का वृत्तांत प्रस्तुत है अथवा अप्रस्तुत ? यदि प्रस्तुत है तब तो समासोक्ति का यहाँ

विषय ही नहीं है, क्योंकि उनने (मम्मट ने) स्वयं ही समासोक्ति का लक्षण—

"परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः—अर्थात् श्लिष्ट विशेषणों से अप्रस्तुत अर्थ की उक्ति को समासोक्ति कहते हैं।"

यह लिखा है और स्वयं उन्होंने ही 'पर' शब्द का अर्थ अप्रस्तुत किया है। अब यदि कापुरुष के वृत्तांत को अप्रस्तुत माना जाय तो अप्रस्तुतप्रशंसा का भी यहाँ विषय नहीं है। कारण, अप्रस्तुतप्रशंसा का उन्होंने यह लक्षण लिखा है—

"अप्रस्तुतप्रशंसा सा या सैव प्रस्तुताश्रया = अर्थात् प्रस्तुत है आश्रय अर्थात् प्रधान जिसमें उस अप्रस्तुत की प्रशंसा को अप्रस्तुतप्रशंसा कहते हैं।" इसलिए यहाँ उनका यह अभिप्राय समझकर कि 'श्लिष्ट विशेषणों से उपक्षिप्त होनेवाले सभी द्वितीय अर्थों को समासोक्ति कहा जाता है।' किसी न किसी प्रकार संगति बैठानी चाहिए। (वास्तव में तो यह कथन ठीक है नहीं।)

अप्रस्तुतप्रशंसा पर विचार

यह (उपर्युक्त उदाहरणों में निर्दिष्ट) अप्रस्तुतप्रशंसा सादृश्यमूला कहलाती है। इसमें वाक्यार्थ कहीं व्यंग्य अर्थ से तटस्थ ही रहता है—जैसे कि उक्त उदाहरणों में और कहीं वाक्यार्थ के अंतर्गत विशेषणों के अन्वय की योग्यता प्राप्त करने के लिए व्यंग्य के साथ अभेद की अपेक्षा करता है। जैसे —

समुपागतवति दैवादवहेलां कुटज मधुकरे मा गाः।
मकरन्दतुन्दिलानामरविन्दानामयं महामान्यः॥

हे कुटज,[1] दैव से तुम्हारे पास आए हुए मधुकर की अवज्ञा न करो। यह मकरंदों से भरे अरविंदों का महामान्य है।

---

[1]—एक जंगली पुष्प —इंद्रजौ का फूल; जैसा कि लिखा है "कुटजः

अथवा, जैसे—

तावत्कोकिल दिवसान्यापय विरसान्वनान्तरे निवसन् ।
यावन्मिलदलिमालः कोऽपि रसालः समुल्लसति ॥

हे कोकिल, तब तक अन्य बन में रहते हुए इन नीरस दिवसों को बिताओ, जब तक जिस पर भौरों के झुंड जुड़ रहे हैं ऐसा कोई रसाल (आम्र) का वृक्ष विकसित नहीं होता ।

यहाँ वृक्ष और पक्षियों को संबोधित करना बन नहीं सकता, इस लिए वाक्यार्थ व्यंग्य अंश के तादात्म्य की अपेक्षा रखता है ।

मलिनेऽपि रागपूर्णां विकसितवदनामनल्पजल्पेऽपि ।
त्वयि चपलेऽपि च सरसां भ्रमर कथं वा सरोजिनीं त्यजसि॥

हे भ्रमर, तुम्हारे 'मलिन' (श्याम + मलिन चित्त=कुटिल) होने पर भी जो 'राग' (रंग + प्रेम) से भरी हुई है और तुम्हारे बहुत बकवादी होने पर जो अपना मुख विकसित रखती हैं एवं तुम्हारे चपल होने पर भी जो सरस है ऐसी कमलिनी को तुम कैसे छोड़ रहे हो !

यहां 'त्याग की अनुचितता' के हेतुरूप में कमलिनी के प्रशंसा-बोधक विशेषण ग्रहण किए गए हैं; किंतु यह संभव नहीं है, कारण भौंरे में 'श्यामता आदिक' दोषरूप नहीं है और कमलिनी का 'लाल होना' आदिक गुण नहीं है, जिससे कि उसकी स्तुति हो । अतः वाच्यार्थ (वृक्ष और पक्षी को संबोधित करना अनुपपन्न होने से) विशेष्य के अंश में और (श्यामतादिक विशेषण बन सकें इसलिए) विशेषण

शक्रो वत्सको गिरिमल्लिका । एतस्यैव कलिंगेन्द्रयवभद्रयवं फले ।"
(अमरकोश ओषधिवर्ग ६७ श्लो०)

के अंश में—दोनों ही अंशों में—व्यंग्य के ताद्रूप्य की अपेक्षा है। पहले उदाहरण में अंशतः (केवल संबोध्य पक्षीमात्र में) ताद्रूप्य की अपेक्षा है और इस उदाहरण में पूर्णतया (क्योंकि श्यामत्वादि दोषादि रूप तभी हो सकते हैं, जब व्यंग्य से तादात्म्य हो) यह (पहले उदाहरण से) विशेषता है।

कहीं-कहीं व्यंग्य अर्थ भी किसी अंश में वाच्य के ताद्रूप्य की और वाच्य अर्थ भी किसी अंश में व्यंग्य अर्थ के ताद्रूप्य की अपेक्षा रखता है, जैसे—

सरजस्कां पाण्डुवर्णां कण्टकप्रकराङ्किताम्।
केतकीं सेवसे हन्त कथं रोलम्ब ! निस्त्रपः ॥

हे भ्रमर, खेद की बात है कि तुम निर्लज्ज होकर सरजस्का (पराग भरी+रजस्वला) पाण्डुवर्ण (श्वेत + चिन्ता से पीली) और कंटकसमूह (कांटों+रोमांच) से युक्त केतकी का सेवन करते हो।

यहाँ जैसे 'सरजस्कात्व' वाच्य (केतकी) और प्रतीयमान (नायिका) दोनों में सेवन की अनुचितता का निमित्त है (क्योंकि केतकी में भी इतनी रज होती है कि उसमें भर जाना अखरता है) वैसे 'पाण्डुवर्ण' और 'कण्टकित' होना नहीं, क्योंकि पाण्डुवर्ण होना केतकी में दोष नहीं हैं, प्रत्युत गुण ही है, इस कारण पाण्डुरता के अंश में (उसे दोषरूप सिद्ध करने के लिये) केतकी पर नायिका के ताद्रूप्य की अपेक्षा है और नायिका में कण्टकितता के अंश में केतकी के तादात्म्य की अपेक्षा है, क्योंकि पुलकित होना कामिनी के त्याग के अनुकूल नहीं है, प्रत्युत (अनुरागसूचक होने से) नायिका के सेवन के अनुकूल है। ये तो हुए सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसा के उदाहरण।

(२) अब कार्य से कारण का गम्य होना; जैसे—

किं ब्रूमस्तव वीरतां वयममी यस्मिन्धराखण्डल-
क्रीडाकुण्डलितभ्रु शोणनयने दोर्मण्डलं पश्यति ।
नानाभूषणरत्नजालजटिलास्तत्कालमेवाभव-
न्विन्ध्यक्ष्माधरगन्धमादनगुहासंबंधिनो भूरुहाः ॥

हे पृथ्वीनाथ, आपकी वीरता का हम क्या वर्णन करें कि जिसके लीला से भौंहों के कुण्डलित (गोल) और आँखें लाल करके भुज-मंडल के देखने पर तत्काल ही विंध्याचल और गंधमादन की गुफाओं के वृक्ष अनेक भूषणों और रत्नजालों से जटिल हो गए।

यहाँ 'विंध्याटवी के वृक्षों के भूषित होने' (रूपी कार्य) से 'शत्रुओं का पलायन' (रूपी कारण) प्रतीत होता है।

किंतु यदि आगे लिखी जाने वाली रीति से इसको पर्यायोक्त-अलङ्कार का विषय कहा जाय तो इसका पृथक् उदाहरण यह है—

नितरां परुषा सरोजमाला न मृणालानि विचारपेशलानि ।
यदि कोमलता तवांगकानामथ का नाम कथापि पल्लवानाम् ॥

नायक नायिका से कहता है—यदि तुम्हारे अंगों की कोमलता है तो कमलों की माला अत्यंत कठोर है, मृणाल विचार करने पर भी कोमल नहीं हो सकते और पल्लवों की तो बात ही क्या है।

यहाँ पल्लवादिक के तिरस्काररूपी कार्य से नायिका के अंगों का सौकुमार्यातिशयरूपी कारण प्रतीत होता है। कहा जायगा कि 'मृणाल की कठोरता' का नायिका के 'अंगों' का 'सौकुमार्यातिशय' कारण कैसे

हुआ—यह उसका जनक तो है नहीं। तो इसका उत्तर यह है कि यहाँ 'कार्यकारणभाव' केवल ज्ञानों का है, इसलिए मृणाल के अन्दर ज्ञात होने वाली कठोरता के अपने रूप में उसके अंग की सुकुमारता से उत्पन्न न होने पर भी कोई क्षति नहीं है, क्योंकि नायिका के अंगों के सौकुमार्यातिशय का ज्ञान पल्लवादि की कठोरता के ज्ञान का कारण तो हुई है।

(३) कारण से कार्य का गम्य होना, जैसे—

सृष्टः सृष्टिकृता पुरा किल परित्रातुं जगन्मण्डलं
त्वं चण्डातप ! निर्दयं दहसि यज्ज्वालाजटालैः करैः।
संरम्भारुणलोचनो रणभुवि प्रस्थातुकामोऽधुना
जानीमो भवता न हन्त ! विदितो दिल्लीधरावल्लभः ॥

हे चण्डातप—सूर्य ! सृष्टिकर्ता ने पहले जगन्मण्डल की रक्षा करने के लिए तुम्हें पैदा किया था। अब तो तुम ज्वाला से जटिल किरणों के द्वारा जगत् को निर्दयतापूर्वक जला रहे हो, हम समझते हैं कि तुम्हें अभी कोप से अरुणनयन रणभूमि में प्रस्थान करना चाहते दिल्लीपति का पता नहीं है।

यहाँ राजवर्णन के अंगरूप में 'सूर्यभयोत्पादन' वर्णन किया गया है, जो प्रस्तुत है। उसमें साक्षात् अनुकूल न होने के कारण 'दिल्ली नरेश का प्रस्थान' अप्रस्तुत है। उस प्रस्थान के द्वारा साक्षात् सूर्य के भय के अनुकूल 'शत्रुओं द्वारा किए जाने वाला सूर्य-मण्डल का भेदन' प्रतीत होता है। और यदि यहाँ किसी तरह (परम्परया अनुकूल होने के कारण) प्रस्थान प्रस्तुत ही है यह कहा जाय तो (कारण से कार्य की गम्यता का) यह उदाहरण है—

आनम्य वल्गुवचनैर्विनिवारितेऽपि
रोषात्प्रयातुमुदिते मयि दूरदेशम्।
बाला करांगुलिनिदेशवशंवदेन
क्रीडाविडालशिशुनाशु रुरोध मार्गम्॥

किसी मित्र के यह पूछने पर कि 'आप तो जा रहे थे कैसे लौट पड़े ?' जाने वाला कहता है कि—नम्र होकर मनोहर वचनों से निवारण करने पर भी जब मैं रोष के कारण दूर देश जाने को निकल पड़ा तो बाला ने अपने अंगुली के इशारे पर चलनेवाले पालतू बिल्ली के बच्चे द्वारा तत्काल मेरा मार्ग रुकवा दिया।

यहाँ 'मैं' प्रवास से लौट पड़ा' यह प्रस्तुत कार्य अप्रस्तुत कारण (बिल्ली के बच्चे द्वारा मार्ग रोकने) से प्रतीत होता है।

(४) सामान्य से विशेष; जैसे—

कृतमपि महोपकारं पय इव पीत्वा निरातङ्कः।
प्रत्युत हन्तुं यतते काकोदरसोदरः खलो जगति॥

जगत् में सांप का सगा भाई खल पुरुष किये हुए महान् उपकार को भी दूध की तरह निःशंक पीकर, उल्टा, मारने को तैयार होता है।

यहाँ (अप्रस्तुत) सामान्य अर्थ (खलमात्र के व्यवहार) से प्रस्तुत विशेष अर्थ (किसी खलविशेष का कार्य) अवगत होता है और उपमा (साँप से तुलना) भी इसकी अनुकूलता से स्थित है।

(५) विशेष से सामान्य; जैसे—

पाण्डित्यं परिहृत्य यस्य हि कृते बन्दित्वमालम्बितं
दुष्प्रापं मनसापि यो गुरुतरैः क्लेशैः पदं प्रापितः।
रूढस्तत्र स चेन्निगीर्य सकलां पूर्वोपकारावलीं
दुष्टः प्रत्यवतिष्ठते तदधुना कस्मै किमाचक्ष्महे॥

जिसके लिए परिडताई को हटाकर (हमने) भाटपन स्वीकार किया और जिसे बड़े क्लेशों के साथ मन से भी दुर्लभ पद पर पहुँचाया वह उस पद पर आरूढ होकर सारी पहिले उपकार की परम्परा को निगल गया और दुष्ट उलटा सामना करता है, तो कहिये अब किससे क्या कहें।

यहाँ 'दुष्टों पर किया हुआ उपकार परिणाम में सुख नहीं देता' यह प्रस्तुत सामान्य, 'विशेष' (किसी दुष्ट के वृत्तान्त) से अवगत होता है।

अथवा, जैसे--

हारं वक्षसि केनापि दत्तमज्ञेन मर्कटः।
लेढि जिघ्रति संक्षिप्य करोत्युन्नतमाननम् ॥

किसी मूर्ख द्वारा वक्षस्थल में पहनाए हुए हार को बंदर चाटता है, सूंघता है और समेट (मरोड़) कर मुँह ऊँचा करता है।

यहां अप्रस्तुत 'मर्कट के वृत्तांत' से 'मूर्खों' को सुंदर वस्तु देना वस्तु का नाश करवाना है' यह प्रस्तुत सामान्य अवगत होता है।

भेदों पर विचार

इस तरह यह पाँच प्रकार की अप्रस्तुतप्रशंसा प्राचीनों के अनुसार निरूपण की गई है। वस्तुतः तो अप्रस्तुतप्रशंसाका प्रथम (सादृश्य-मूलक) भेद अनेक प्रकार से हो सकता है।

दोनों के प्रस्तुत होने पर भी अप्रस्तुतप्रशंसा होती है

उन (संभावित) भेदों में से जहाँ अत्यंत अप्रस्तुत वाच्य के द्वारा प्रस्तुत अवगत होता है वह प्रकार तो ऊपर के उदाहरणों में) कहा

ही जा चुका है। किंतु किसी स्थल पर जहाँ दोनों ही वृत्तांत प्रस्तुत हों वह भी एक भेद हो सकता है; जैसे—भ्रमर और कमलिनी आदि सामने स्थित हों और अपनी नायिका में अनुराग न रखनेवाला नायक भी समीपवर्त्ती हो तो किसी नायिका की किसी सखी की उक्ति में 'मलिनेऽपि रागपूर्णाम्०' इत्यादिक पूर्वोदाहृत पद्य में (यह भेद हो सकता है)।

आप कहेंगे—यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा होगी कैसे ? कारण यह है कि वाच्यार्थ के प्रस्तुत होने से यह उदाहरण अप्रस्तुतप्रशंसा के लक्षण का स्पर्श ही नहीं करता; तो यह ठीक नहीं। कारण, अप्रस्तुतप्रशंसा में 'अप्रस्तुत' शब्द से 'मुख्य तात्पर्य के विषय रूप अर्थ से अतिरिक्त अर्थ' कहना अभीष्ट है। सो वह कहीं अत्यंत अप्रस्तुत होता है और कहीं प्रस्तुत भी हो सकता है। इसलिए कोई दोष नहीं है। यदि आप कहें कि इस तरह तो प्रत्येक ध्वनि अप्रस्तुतप्रशंसा हो जायगी। (क्योंकि सभी ध्वनियों में मुख्य तात्पर्य के अविषय वाच्य के द्वारा मुख्य तात्पर्य का विषय व्यंग्य अर्थ ध्वनित होता है) तो यह ठीक नहीं, क्योंकि इसीलिए तो लक्षण में 'सादृश्य आदि (पाँच प्रकारों) में से किसी एक प्रकार से' यह विशेषण लगाया गया है—यह सोच रखना चाहिए।

इससे कुवलयानन्दादिक ने जो कहा है कि "द्वयोः प्रस्तुतत्वे प्रस्तुतांकुरनामान्योऽलंकारः—अर्थात् वाच्य और व्यंग्य दोनों के प्रस्तुत (प्रकृत) होने पर प्रस्तुताङ्कुर नाम का दूसरा अलंकार होता है। इसकी उपेक्षा[1] करनी चाहिए। अर्थात् प्रस्तुतांकुर कोई भिन्न

---

[1]—नागेश कहते हैं कि—यह विचारणीय है। 'मुख्यतात्पर्यविषय अर्थ से अतिरिक्त' यहाँ 'मुख्य' शब्द का क्या अर्थ है ? यदि 'प्रस्तुतत्व'

अलङ्कार है सो नहीं, किन्तु वह इसी अलङ्कार का भेद है। कारण, यह बार बार लिखा जा चुका है कि किञ्चित् विलक्षणता मात्र से ही भिन्न भिन्न अलंकारोंकी कल्पना करने पर कहने के ढंगों के अनन्त होने के कारण अलंकारों की भी अनन्तता हो जायगी।

हाँ, यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि—अत्यन्त अप्रस्तुत के वाच्य होने पर अभिधा उसमें समाप्त नहीं होती, इस कारण बल से खींचकर लाए हुए प्रतीयमान अर्थ का ध्वनिरूप होना बाधारहित नहीं है

अर्थ हो तब तो यहाँ दोनों प्रस्तुत हैं, अतः दोनों समान हो गए। अब यदि कहा जाय कि 'मुख्य' का अर्थ 'उद्देश्य' है तो प्राचीनों के "अप्रस्तुत से प्रस्तुत की अभिव्यक्ति' इस लक्षण में 'अप्रस्तुत से' यह पद व्यर्थ हो जायगा। दूसरे, इतनी सी विशेषता से यदि भेद न माना जाय तो साधारण विशेषणों के प्रभाव से प्रस्तुत की स्फूर्ति होने पर समासोक्ति और असाधारण विशेषणों के प्रभाव से प्रस्तुत की स्फूर्ति होने पर व्यंग्य रूपक होता है यह आपका बताया विभाग भी उड़ जायगा एवं दीपक और गुम्फ में (?) तथा दृष्टान्त और प्रतिवस्तूपमा में भी भेद न होगा।

पर यह भी धक्का-मुक्की ही है, क्योंकि पण्डितराज ने प्राचीनों के 'अप्रस्तुत' शब्द का अर्थ 'अनुद्दिष्ट' मानकर ही तो यह सब लिखा है। ऐसी स्थिति में यह दीक्षित जी का समर्थन व्यर्थ है और नवीन अलंकार-भेद मानने न मानने का तो उत्तर पहले ही दिया जा चुका है कि "नैव प्रमाणीकुर्महे वयं मृषा मुकुलितविलोचनान्प्राचः..........इति तु प्रभुतैव केवला। न सहृदयत्वम्।" अतः जब प्राचीनों के भेदों से किसी प्रकार काम न चलता हो तभी नवीन अलंकार की कल्पना करना ठीक है।

—अनुवादक।

और दोनों के प्रस्तुत होने पर तो ध्वनि[1] होने में कोई विवाद नहीं है।

नवीन भेद

इस तरह सादृश्यमूलक प्रकार में दो भेद हो जाते हैं—एक गुणीभूतव्यंग्य रूप और दूसरा ध्वनिरूप, किन्तु कार्यकारणभाव और सामान्यविशेषणभाव के कारण होने वाले चारों प्रकार तो गुणीभूत-

---

१—नागेश का कहना है कि—"यह भी विचारणीय है, क्योंकि पूर्वोक्त 'मलिनेऽपि रागपूर्णाम्०' इत्यादि में व्यंग्य अर्थ के आरोप के बिना भ्रमर को संबोधन करना और उसकी श्यामता आदि में दोषारोप करना (इसका विचार पहले मूल में हो चुका है) सिद्ध नहीं होता और व्यंग्य के द्वारा ही यह सिद्ध होता है, अतः गुणीभूतव्यंग्यता ही उचित है।"

यहाँ निवेदन यह है कि उक्त उदाहरण में भ्रमर में श्यामता का दोषत्व अनुपपन्न होने के कारण गुणीभूतव्यंग्यता हो सकती है, किन्तु जहाँ व्यंग्य के अनुसंधान के बिना ही द्वितीय प्रस्तुत अर्थ पूरा पूरा बैठ जाता हो; जैसे—

अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग लोलं विनोदय मनः सुमनोलतासु।
बालामजातरजसं कलिकामकाले व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमल्लिकायाः॥

इस कुवलयानन्द के उदाहरण में। वहाँ भी यदि गुणीभूतव्यङ्ग्यता मानी जाय तो सभी ध्वनियाँ लुप्त हो जांयगी, क्योंकि सर्वथा असंबद्ध अर्थ की प्रतीति तो होती नहीं। यदि कहा जाय कि केवल सादृश्य संबन्ध से प्रतीति होने पर ऐसा माना जाय तो इसे आग्रह के अतिरिक्त क्या कहा जाय।

—अनुवादक

व्यंग्य के ही भेद हैं। कारण, अभिधादि के स्पर्श के लेश से शून्य व्यंग्य में केवल अर्थ का आक्षेप मात्र ध्वनि का निमित्त होता है, जहाँ अभिधा का थोड़ा सा भी स्पर्श हुआ वहाँ ध्वनि-काव्य नहीं कहा जा सकता।

एक शंका और उसका उत्तर

अच्छा अब यह सोचिए कि

आपेदिरेऽम्बरपथं परितः पतङ्गा
भृङ्गा रसालमुकुलानि समाश्रयन्त।
संकोचमञ्चति सरस्त्वयि दीनदीनो
मीनो नु हन्त कतमां गतिमभ्युपैतु॥

हे सरोवर, तुम्हारे संकुचित होने पर—पानी की कमी आने पर—पक्षियों ने चारों ओर आकाश का रास्ता लिया और भौरों ने आमों के मौरों का आश्रय ले लिया, किन्तु खेद है कि यह अत्यन्त दीन मीन, बताइए, किस गति को प्राप्त हो।

इस पद्य में किसी क्षीण राजादिक का और उसी एक के सहारे पलने-वाले पुरुष आदि का वृत्तान्त हो तब तो अप्रस्तुतप्रशंसा ही है इसमें कोई विवाद नहीं, और जब सरोवर का वृत्तान्त और राजा का वृत्तान्त दोनों ही प्रस्तुत हों तब भी पूर्वोक्त रीति से अप्रस्तुतप्रशंसा ही है, किन्तु जब केवल सरोवर का वृत्तान्त ही प्रस्तुत हो और उसमें राजा का वृत्तान्तरूपी व्यंग्य गुणीभूत हो जावे तब इस पद्य में कौन सा अलंकार होगा? कारण, तब अप्रस्तुतप्रशंसा तो होगी नहीं, क्योंकि उस स्थिति में यहाँ प्रस्तुत का ही वर्णन है। समासोक्ति भी नहीं हो सकती, कारण, समासोक्ति का जीवनमूल है विशेषणों की समानता, जो सर्वालङ्कारिक

संमत हैं, वह यहाँ है नहीं। यदि आप कहें कि 'विशेषणों की समानता' वाले प्रकार की तरह समासोक्ति का एक शुद्ध सादृश्यमूलक भी प्रकार मान लेना चाहिए। तो यह ठीक नहीं। कारण, किसी एक धर्म[1] से व्याप्त न होने पर भी यदि एक अलंकार माना जाय तो सभी की एकालंकारता हो जायगी। दूसरे, अलंकारों के व्यवस्थापकों ने ऐसा समासोक्ति का भेद कहा भी नहीं है, अतएव अलंकारसर्वस्वकार आदि ने विशेषणवाची शब्दों की समानता की रक्षा करके ही भिन्न समास का आश्रय लेकर सादृश्यमूलता दिखाई है, विशेषणवाची शब्दों की समानता की उपेक्षा करके नहीं।

१—नागेश कहते हैं कि—"यहाँ यह विचारणीय है कि जिस तरह अतिशयोक्ति आदि में अथवा यहाँ (अप्रस्तुत प्रशंसामें) अन्यतम (भेदों में से कोई एक) का निर्देश करके एकधर्मव्याप्तता बना ली जाती है, उसी तरह समासोक्ति भी 'अन्यतरहेतुक (विशेषणसाम्यमूलक अथवा सादृश्यमूलक) अप्रस्तुत वृत्तान्त के आरोपरूपी एक धर्म से व्याप्त हो सकती है, अतः यहाँ समासोक्ति के अंगीकार में (जैसा कि अप्पय दीक्षित ने 'पुरा यत्र स्रोतः' इस पद्य में माना है) कोई बाधा नहीं है।"

पर इसी के समाधानार्थ तो पण्डितराज ने "व्यवस्थापकैस्तद्भेदानुक्तेश्च—अर्थात् इसको सादृश्यमूलक समासोक्ति का भेद प्राचीनों ने नहीं माना है" यह लिखा है और कुवलयानंद में भी लक्षण का विवेचन करते हुए यही लिखा है कि—"यत्र प्रस्तुतवृत्तान्ते वर्ण्यमाने विशेषण-साम्यबलादप्रस्तुतवृत्तान्तस्यापि परिस्फूर्तिस्तत्र समासोक्तिरलंकारः" ऐसी दशा में यहाँ समासोक्ति मानना अड़गेबाजी ही है। (शेष का विचार पहले किया जा चुका है।)

इसका उत्तर यह है कि यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा ही अलंकार है 'अप्रस्तुतप्रशंसा' शब्द का अर्थ 'अप्रस्तुत की प्रशंसा' यह नहीं है, किन्तु 'अप्रस्तुत के द्वारा प्रशंसा' यह है और वह प्रशंसा किसकी ? तो 'प्रस्तुत की' यह तो अर्थप्राप्त ही है।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि अप्रस्तुत चाहे वाच्य हो चाहे व्यंग्य जहाँ उसके द्वारा वाच्य अथवा व्यंग्य प्रस्तुत की पूर्वोक्त सादृश्यादिक (पाँचों) में से किसी एक प्रकार से प्रशंसा की जाती है वह अप्रस्तुत-प्रशंसा होती है, न कि वाच्य से ही व्यंग्य की प्रशंसा की जाय तभी।

हाँ, यहाँ यह शंका हो सकती है कि—

"कमलमनम्भसि कमले च कुवलये तानि कनकलतिकायाम्।

अर्थात् बिना पानी के कमल हैं, कमल में दो कुवलय हैं, और ये सब कनक की लता में हैं।"

इत्यादिक की तरह यहाँ भी 'निगीर्याध्यवसान' मानने से अति-शयोक्ति की जा सकती है। यह दूसरी बात है कि पदार्थ का पदार्थ के द्वारा निगरण करके अध्यवसान हो या वाक्यार्थ का वाक्यार्थ के द्वारा।

कहा जायगा कि यहाँ अन्वयानुपपत्ति तो है नहीं कि लक्षणा मानी जाय तो इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार अन्वय की अनुपपत्ति लक्षणा का बीज है उसी प्रकार प्रस्ताव (प्रसंग) की अनुपपत्ति भी लक्षणा का बीज है। सो इस तरह अतिशयोक्ति से ही काम चल जाने पर सादृश्यमूलक अप्रस्तुतप्रशंसा की यहाँ क्या आवश्यकता है ?

यदि आप यह कहें कि यहाँ निगरण करके अध्यवसान ही संभव नहीं है। कारण, अध्यवसान में वाच्यतावच्छेदकरूप से लक्ष्य अर्थ की

प्रतीति होती है, किन्तु यहाँ अर्थान्तर की प्रतीति वाच्य से तटस्थ होकर होती है—यह भेद है। हाँ, जहाँ श्लेषादिक के द्वारा विशेषणों की समानता हो वहाँ उसके प्रभाव से अभेद का अध्यवसान भले ही हो (पर यहाँ कैसे हो सकता है ?) तो यह ठीक नहीं। कारण, यहाँ भी वाच्य (अप्रस्तुत) के व्यवहार की अभिन्नता से ही प्रस्तुत के व्यवहार की प्रतीति होती है, इसलिए इसमें उसमें कोई विलक्षणता नहीं है।

तो यह आपका कथन ठीक है, पर 'यस्मिन्खेलति०' और 'दिगन्ते श्रूयन्ते०' इत्यादि पूर्वोक्त उदाहरणों में वाक्यार्थ से तटस्थ होकर ही व्यंग्य अर्थ की प्रतीति सब सहृदयों को संमत है, (अतः आपकी कल्पना उचित नहीं।) हाँ कहीं-कहीं सम्बोधन और उन-उन विशेषणों के उपपन्न न होने से अभेदांश की भी अपेक्षा रहती है इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि सब जगह दोनों अर्थों की अभेद से ही प्रतीति होती है।

दूसरे, इस विषय में कोई विवाद नहीं कि अप्रस्तुतप्रशंसा में प्रस्तुत व्यंग्य होता है, अब यदि (आप के कथनानुसार) यहाँ 'निगरण करके अध्यवसान' माना जाय तो वह अर्थ लक्ष्य होगा (जो सिद्धान्त के विरुद्ध है)। यह हो सकता है कि जहाँ वाच्य अत्यन्त अप्रस्तुत हो वहाँ (अप्रस्तुतार्थ में) अभिधा के समाप्त होने के कारण कहीं लक्षणा को अवकाश हो, किन्तु जब दोनों ही अर्थ पूर्वोक्त रीति से प्रस्तुत हों तब बाधा का लेश भी स्फुरित नहीं होता, अतः लक्षणा का गन्ध भी नहीं है, तब फिर निगरण कहाँ से होगा, क्योंकि निगरण तो लक्षणा का एक भाग मात्र है। सो वहाँ तो अर्थ का आक्षेप ही करना होगा। अतः ऐसे स्थलों में सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसा आवश्यक होने के कारण अन्यत्र भी उसके सजातीयस्थल में अप्रस्तुतप्रशंसा ही उचित है।

हाँ, यदि प्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति को ध्वनिकाव्य का भेद माना जाय और ध्वनि के अलङ्कार्य होने के कारण इस भेद में अलङ्कारता की अनुपपत्ति है यह सूक्ष्म विचार किया जाय तो (सादृश्यमूला से अतिरिक्त) अन्य भेद (कार्यकारणभावादिक) ही अप्रस्तुतप्रशंसा का विषय हो सकते हैं, सादृश्यमूला नहीं—यह भी (विद्वान् लोग) कहते हैं।

अप्रस्तुतप्रशंसा समाप्त

———

गम्यत्वमूलक अलंकार

पर्यायोक्त अलङ्कार

लक्षण

विवक्षित अर्थ का (सीधे-सीधे न कहकर) किसी दूसरे ढङ्ग से प्रतिपादन पर्यायोक्त कहलाता है।

लक्षण का विवेचन

'दूसरे ढंग' का अर्थ यहाँ 'जिस रूप में कहना चाहते हैं- उससे अतिरिक्त प्रकार' अथवा आक्षेप है।

उदाहरण; जैसे—

त्वां सुन्दरीनिवहनिष्ठुरधैर्यगर्व-
निर्वासनैकचतुरं समरे निरीक्ष्य ।
केषामरिक्षितिभृतां नवराज्यलक्ष्मीः
स्वामिव्रतात्वमपरिस्खलितं बभार ॥

हे राजन्, सुन्दरी-समूह की निठुर धीरज के गर्व को हटाने में एक ही चतुर आपको युद्ध में देखकर किन शत्रुराजाओं की नवीन राज्य-लक्ष्मी ने अखण्डित पतिव्रतापन धारण किया है? वह उनको छोड़कर आपको वरण कर ही लेती है।

यहाँ यह कहना अभीष्ट है कि 'सभी शत्रुओं की राज्यसंपत्ति तुमको प्राप्त हो गई' किंतु वह उस रूप में नहीं कहा गया है और 'राज्य लक्ष्मी का पतिव्रतापन खण्डित हो गया' इस रूप में कहा गया है।

अथवा; जैसे—

सूर्याचन्द्रमसौ यस्य वासो रञ्जयतः करैः ।
अङ्गरागं सृजत्यग्निस्तं वन्दे परमेश्वरम् ॥

शिवस्तुति है—जिसके वस्त्र को सूर्य और चन्द्रमा अपनी किरणों से रंगते हैं और जिसके अंगराग को अग्नि उत्पन्न करता है उस परमेश्वर को नमस्कार करता हूँ।

यहाँ दिगम्बर (नग्न) इस अर्थ को 'जिसका वस्त्र सूर्य और चंद्रमा की किरणों से रँगा जाता है' इस रूप में लिखा गया है और 'जिसका अंगराग भस्म है' इस बात को 'जिसके अंगराग को अग्नि उत्पन्न करता है' इस रूप में लिखा गया है।

प्राचीनों के मतभेद और उन पर विचार

(१) मम्मट भट्ट का मत है कि—"इस अलंकार में व्यंग्य की व्यंग्यता जिस आकार से होती है उसके अतिरिक्त आकार से वाच्यता होती है। अर्थात् जो बात व्यंग्य होती है वहीं वाच्य भी होती है—केवल बोलने के प्रकार में भेद होता है। इसी कारण इसका 'पर्यायेण' अर्थात् दूसरे ढंग से 'उक्तम्' अर्थात् कहा गया है व्यंग्य जिसमें, यह लक्षण प्राचीनों ने बनाया है। इस विषय में यह शंका नहीं करनी चाहिए कि व्यंग्य और वाच्य का परस्पर विरोध होने से यह कथन असङ्गत है। कारण एक ही वस्तु का एक प्रकार से वाच्य होना और दूसरे प्रकार से व्यंग्य होना विरुद्ध नहीं है; जैसे—आलता, कुसूंभा, अनार के फूल और गुड़हल के फूल इत्यादि के रूप रक्तत्वादि से वाच्य होने पर भी (सभी के लाल होने पर भी) तत्तद् भिन्नजातीयता के रूप में उनका प्रत्यक्ष ही होता है, वह विजातीयता वाच्य नहीं होती। इसी तरह यहाँ भी (एक रूप में वाच्य होने पर अन्य रूप में उसकी व्यंग्यता) ही है।"

(२) किन्तु अलंकारसर्वस्वकार कहते हैं कि "व्यंग्य का भी दूसरे ढंग से कथन पर्यायोक्त कहलाता है। यदि आप कहें कि व्यंग्य होते हुए उसका अभिधा से प्रतिपादन कैसे हो सकता है तो इसका उत्तर यह है कि कार्य आदि के द्वारा वैसा हो सकता है।"

इस कथन का अभिप्राय यह है कि—

'चक्राभिघातप्रसभाज्ञयैव चकार यो राहुवधूजनस्य।
आलिङ्गनोद्दामविलासवन्ध्यं रतोत्सवं चुम्बनमात्रशेषम्॥

विष्णु का वर्णन है—जिनने चक्र चलाने रूपी बलात्कार की आज्ञा से ही राहु की स्त्रियों का सुरतोत्सव आलिङ्गन के उच्छृंखल विलासों से रहित बना दिया, जिसमें केवल चुम्बन मात्र शेष रह गया।'

इस प्राचीनों के पद्य में 'राहु के शिर को छेदन करनेवाले' इस व्यंग्य अर्थ का 'राहु की स्त्रियों का ऐसा सुरतोत्सव बनानेवाले जिसमें केवल चुम्बन बचा है' इस रूप में दूसरे प्रकार से अभिधा द्वारा वर्णन किया गया है। अब इसका भी विवेचन करने पर पर्यवसित अर्थ यह निकलता है कि 'राहु का शिरश्छेद करना' रूपी धर्म' यहां साक्षात् ग्रहण किए गए अपने साथी 'वैसे रूपांतर (चुम्बनमात्रशेषता करना)' से प्रतीत होता है। इस व्यंग्यांश में विष्णु की तो व्यंग्यता है नहीं; कारण विष्णु पहले से प्रकरणागत भी हैं और 'यत्' शब्द से विष्णु का अभिधान भी हो गया है।

और इसी तरह—

यं प्रेक्ष्य चिररूढापि निवासप्रीतिरुज्झिता।
मदेनैवरावणमुखे मानेन हृदये हरेः॥

जिसे देखकर मद ने ऐरावत के मुख में और मान ने इन्द्र के हृदय में चिरकाल से रूढ हुई निवास की प्रीति को छोड़ दिया।

इस प्राचीनों के पद्य में भी 'इन्द्र और ऐरावत मान और मद से मुक्त हो गए' इस व्यंग्य का पर्यावसान भी 'मद और मान के छूटने मात्र' में है, क्योंकि धर्मी (ऐरावत और इन्द्र) वाला अंश अभिधा से प्रतिपादित है।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि जो व्यंग्यांश है वह रूपान्तर के पुरस्कार से कभी अभिधा द्वारा प्रतिपादित नहीं होता और जो अभिधा से प्रतिपादित होता है वह धर्मी अभिधा का आश्रय होने से व्यंजना व्यापार का आश्रय नहीं हो सकता। ऐसी स्थिसि में 'व्यंग्य का दूसरे प्रकार से वाच्य होना' यह कथन असंगत ही है, अतः 'कार्य आदि के द्वारा जो व्यंग्य उक्त-सा हो उसको पर्यायोक्त कहते हैं।' सो इसका अर्थ

'आक्षिप्त' ही हुआ। तात्पर्य यह कि कार्यादि के वर्णन द्वारा आक्षिप्त कारणादि पर्यायोक्त हैं।

प्राचीनों ने जो इस अलंकार में धर्मी को भी व्यंग्य कहा है उसका अभिप्राय यह है कि व्यंजना के बोध का विषय जो वाक्यार्थ होता है वह सब-का-सब व्यंग्य ही समझा जाता है। हाँ, यदि उसका विवेचन किया जाय तो उस वाक्यार्थ में कुछ पदार्थ केवल अभिधा के गोचर होंगे और कुछ व्यंजना के यह दूसरी बात है।

(३) अभिनवगुप्ताचार्य ने तो पर्यायोक्त का यौगिक अर्थ और लक्षण यों किया है—'पर्यायेण'=वाच्य से अतिरिक्त प्रकार से अर्थात् व्यंग्य से उपलक्षित जो उक्तम्=अभिधा से प्रतिपादित हो उसे पर्यायोक्त कहते हैं।'

उनका अभिप्राय यह है कि—यदि 'पर्याय' शब्द का अर्थ 'प्रकारान्तर' या 'धर्मान्तर' किया जाता है तो 'पर्यायोक्त' का यौगिक अर्थ यह होगा कि 'जिस अर्थ को हम कहना चाहते हैं उस अर्थ के अवच्छेदक धर्म के अतिरिक्त धर्म को पुरस्कृत करके अभिधा से प्रतिपादित' ऐसी दशा में

दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः

अर्थात् रावण को मारनेवाले कमलनयन दशरथ पुत्र' इत्यादिक में भी रामत्व से अतिरिक्त (पुण्डरीकाक्षत्व) धर्म के पुरस्कार द्वारा राम का वर्णन होने के कारण पर्यायोक्त अलंकार होने लगेगा—अर्थात् लक्षण में अतिव्याप्ति हो जायगी। अब यदि इसका अर्थ आप यह करें कि 'जहाँ व्यंग्य का वर्णन उस प्रकार से किया गया हो—अर्थात् व्यंग्यतावच्छेदक धर्म से अतिरिक्त धर्म को पुरस्कृत करके व्यंग्य का निरूपण हो वहाँ पर्यायोक्त होता है'। तो यह ठीक नहीं, क्योंकि 'व्यंग्य'

धर्मान्तरवाले यौगिक अर्थ के अन्दर आता नहीं। यदि आप कहें कि यौगिक अर्थ के अन्दर न आने पर भी वह लक्षण के अन्दर तो आ जायगा—अर्थात् यौगिक अर्थ में न आने पर भी हम लक्षण में उसका समावेश कर लेंगे। तो हम कहेंगे कि आपने मान लिया कि लक्षण में व्यंग्य का प्रवेश आवश्यक है तो फिर 'पर्याय' शब्द से व्यंग्य का ही ग्रहण करना उचित है—प्रकारान्तर या धर्मान्तर का नहीं। क्योंकि व्यंग्य से उपलक्षित को यदि अभिधा से वर्णन किया जाय तो यह प्रकारान्तर से ही होगा, अतः (पर्यायोक्त के लक्षण में) 'प्रकारान्तर' का ग्रहण अत्यावश्यक नहीं रहता। इसी कारण हमने (लक्षण में 'भंग्यन्तर' का अर्थ बताते हुए) 'अथवा आक्षेप' यह भी दूसरा पक्ष वर्णन किया है।

अब यह बात बच रहती है कि 'वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्—अर्थात् तुम यहाँ से बावड़ी नहाने गई थी, न कि उस अधम के पास'। इस सर्वप्रसिद्ध ध्वनि के उदाहरण में 'अधम के पास जाने के निषेध' के रूप में 'अधम के पास जाने से युक्त 'दूती' का अथवा 'अधमत्व' रूप में 'दूती से संभोग करनेवाले' का अभिधान हो जाने से इस (अभिनवगुप्त के) पक्ष में भी मम्मट भट्ट के पक्ष की तरह पर्यायोक्त प्राप्त हो जाता है। उसको इन्हें भी उसी की तरह व्यंग्य विशेष का ग्रहण करके हटाना पड़ेगा—अर्थात् 'अधम' पद से व्यक्त होने वाला व्यंग्य वक्तृवैशिष्ट्यादि कारणों की अपेक्षा रखता है और पर्यायोक्तवाला व्यंग्य उनकी अपेक्षा नहीं रखता। हाँ, अलंकारसर्वस्वकार के पक्ष में तो यह भी दोष नहीं है।

कुवलयानन्द का खण्डन

सो तीनों पक्षों का निष्कर्ष उक्त प्रकार से स्थित होने पर भी जो इस प्रकरण में कुवलयानन्दकार ने लिखा है वह सब न विचारें तब

तक ही सुन्दर है। देखिए, पहले तो जो इन्होंने लिखा है कि 'नमस्तस्मै कृतौ येन मुधा राहुवधूस्तनौ' इस पद्य में 'भगवान् वासुदेव अपने असाधारण रूप से गम्य हैं, उन्हीं का राहु की वधू के कुचों के व्यर्थ करनेवाले होने के रूप में रूपान्तर से अभिधान किया गया है'। सो यह ठीक नहीं। कारण, यहाँ 'जिसने राहु की वधू के कुचों को व्यर्थ किया है' इस रूप में अभिधा द्वारा प्रतिपादित 'राहुवधू-कुचवैयर्थ्य-कारित्व' इस वाच्य अर्थ से 'राहुशिरश्छेदकारित्व' व्यक्त होता है, इसमें तो कोई विवाद है नहीं, किन्तु 'भगवान् वासुदेव' (जिन्हें आपने व्यंग्य बताया है) सो विशेषण की मर्यादा से प्राप्त होते हैं, अतः 'वासुदेवत्व' काव्य के मार्ग में आनेवाले व्यंग्य की कक्षा पर चढ़ने के लिये समर्थ नहीं है, अन्यथा 'नमो राहुशिरश्छेदकारिणे दुःखहारिणे' इस जगह भी 'भगवान् वासुदेव' के अभिव्यक्त होने के कारण पर्यायोक्त अलंकार हो जायगा। यद्यपि विशेषणमर्यादा से प्राप्त होनेवाले धर्म में भी कुछ व्यंग्यता का स्पर्श रहता है, किन्तु वह काव्यमार्ग में गिना नहीं जाता, क्योंकि वह उतना सुन्दर नहीं होता, जैसा कि अन्विता-भिधानवादियों के सिद्धान्त में पदों के सामान्य रूप से अवगत अर्थों के अन्वय में अत्यन्त विशेषाकार में प्रतीत होने वाले अर्थ की गणना नहीं होती। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार अन्विताभिधानवादियों के मत में माना जानेवाला, पदों के सामान्य रूप अर्थों से अन्वय में अति विशेष रूप में प्रतीत होने वाला अर्थ वाच्य न होने पर भी व्यंग्य नहीं माना जाता—उसी प्रकार यहाँ 'वासुदेवत्व' भी व्यंग्य नहीं माना जा सकता। और यदि आप 'नमस्तस्मै कृतौ येन मुधा राहुवधूकुचौ' यहाँ किसी प्रकार वासुदेव को व्यंग्य मान भी लें तथापि 'राहुस्त्रीकुचनैष्फल्य-कारिणे हरये नमः' यहाँ भगवान् अपने वाचक शब्द ('हरि' पद) से अभिधेय हैं, अतः अपने असाधारण रूप में भी व्यंग्य नहीं होते, किन्तु 'राहु के शिर को छेदन करनेवाले' के रूप में ही व्यंग्य मानना पड़ेगा,

न कि अपने असाधारण धर्म के रूप से, और यह किसी को सम्मत नहीं है कि यहाँ पर्यायोक्त नहीं है। (अतः पूर्वोक्त उदाहरण में भी वैसा ही मानना उचित है)।

और उनने जो यह लिखा है कि—"सर्वस्वकारस्य लोचनकर्तुश्च सर्वोऽप्ययं क्लेशः किमिति न विद्मः—सर्वस्वकार और लोचनकार का यह सब क्लेश किस लिए है?" यह तो हमने उन दोनों के मत का निष्कर्ष बताने के अवसर पर ही निरूपण कर दिया है।

और जो उनने लिखा है कि "चक्राभिघातप्रसभाज्ञया० इस प्राचीनों के उदाहरण में जो राहु के शिर के छेद का बोध होता है, वहाँ पूर्वोक्तरीत्या 'प्रस्तुतांकुरालंकार' ही है। किन्तु जो 'राहुके शिर मात्र बच रहने' से आलिंगनशून्यता का प्रतिपादन रूपी वाच्य अर्थ है, उसमें भगवान् का रूपान्तर से प्रतिपादन हो जाने पर जो भगवान् के रूप में बोध होता है यह पर्यायोक्तका विषय है।" सो यह भी ठीक नहीं। यदि 'राहु के शिर के छेदन' का बोध तुम्हारे कल्पित प्रस्तुतांकरालंकार का विषय हो तो फिर पर्यायोक्त की आवश्यकता ही क्या है? रहा भगवान् के रूप में बोध, सो वह विशेषणों की मर्यादा से प्राप्त होने के कारण 'नमो राहुशिरश्छेदकारिणे' इत्यादिक की तरह किसी भी अलंकार का विषय नहीं है—यह कहा ही जा चुका है। दूसरे, प्राचीनों ने प्रस्तुतांकुर को स्वीकार किया भी नहीं है।

और यदि प्रस्तुतांकुर का स्वीकार मान भी लें तब भी जहाँ प्रस्तुत के द्वारा अपने सदृश अन्य प्रस्तुत वाक्यार्थ ही अभिव्यक्त हो वह उसका विषय भले ही रहे, न कि प्रस्तुत कार्य के द्वारा कारण का बोध होना। अन्यथा 'अप्रस्तुत कार्य के द्वारा जहाँ प्रस्तुत कारण का बोध होता है वहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा ही होती है और प्रस्तुत कार्य के द्वारा अप्रस्तुत कारण का बोध तो पर्यायोक्त का विषय है' यह अलंकारसर्वस्वकारादिक

प्राचीनों द्वारा किया हुआ विषयविभाग उच्छिन्न ही हो जायगा। इसके अतिरिक्त आपके (कुवलयानन्दकार के) उपजीव्य ग्रंथ 'अलंकार-सर्वस्व' में जो यह लिखा है कि राहु की वधू में रहनेवाले विशेष प्रकार के सुरतोत्सव से कारण रूप 'शिर का छेदन अवगत होता है। इसी तरह अन्यत्र भी पर्यायोक्त जानना चाहिए।' इस ग्रन्थ का भी आपका सिद्धान्त मानने से विरोध हो जाता है। इसलिए यहाँ 'राहु का शिर छेदन करनेवाले' के रूप में बोध होना ही पर्यायोक्त का विषय है, भगवद्रूप में नहीं। यह बात सहृदयों को समझनी चाहिए।

पर्यायोक्त की गुणीभूतव्यंग्यता

'इस अलंकार में व्यंग्य से वाच्य की प्रतीति होती है और अप्रस्तुत-प्रशंसा में वाच्य द्वारा व्यंग्य की प्रतीति होती है। इस कारण यह अलंकार 'वाच्यसिद्ध्यंग गुणीभूतव्यंग्य' का भेद है यह ध्वनिकार के अनुयायियों का सिद्धान्त है।

विमर्शिनी पर विचार

और जो अपने मूलग्रन्थ का तात्पर्य वर्णन करते हुए विमर्शिनीकार ने लिखा है कि—

"स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा॥

अर्थात् अपनी सिद्धि के लिए अन्य अर्थ का आक्षेप उपादान कहलाता है और दूसरे अर्थ की सिद्धि के लिए अपना अर्पित कर देना लक्षण कहलाता है। इसलिए शुद्ध लक्षणा के दो भेद कहे गये हैं।' इस कथित युक्ति द्वारा दोनों लक्षणाओं के आश्रित होने के कारण इन दोनों का अवान्तरविषयभेद भी है—अर्थात् पर्यायोक्त में उपादान

लक्षणा होती है और अप्रस्तुतप्रशंसा में लक्ष्य लक्षणा।" सो यह नहीं हो सकता। कारण, 'चक्राभिघातप्रसभाज्ञयैव०' इस पद्य में 'जिसका चुम्बनमात्र शेष रह गया है उस सुरतोत्सव' के अंश में कोई बाधा नहीं है कि जिसके कारण लक्षणा करनी पड़े। इसी तरह अप्रस्तुतप्रशंसा में भी प्रस्तुत में अप्रस्तुत की लक्षणा नहीं होती, किन्तु व्यंजना ही होती है यह सर्वसम्मत है। अन्यथा "पर्यायोक्त में वाच्य की प्रधानता होती है और अप्रस्तुतप्रशंसा में गम्य (व्यंग्य) की" इस सिद्धांत का भंग हो जायगा, क्योंकि (पर्यायोक्त में) लक्षणा होने पर लक्ष्य की प्रधानता होगी, न कि वाच्य की। दूसरे "पर्यायोक्त वहाँ हुआ करता है जहाँ वाच्य अर्थ अन्य (व्यंग्य) अर्थ का अपने उपस्कारक के रूप में आगूरण (आक्षेप) करता है और अप्रस्तुतप्रशंसा वहाँ होती है जहाँ वाच्य अर्थ अपने आपको अप्रस्तुत होने के कारण, किसी अन्य प्रस्तुत अर्थ के प्रति समर्पित करता है।" इस उनके मूल ग्रन्थ (अलंकारसर्वस्व) का ही विरोध हो जायगा, क्योंकि लक्षणा 'आगूरणरूप' नहीं होती। इस लिये उनके मूल ग्रन्थ का तात्पर्य यह है कि—'पर्यायोक्त में वाच्य की प्रधानता होती है और अप्रस्तुतप्रशंसा में वाच्य की प्रधानता नहीं होती'। लक्षणा का तो वहाँ कोई प्रसंग ही नहीं।

ध्वनिकार से प्राचीन भी ध्वनि आदि जानते थे

यहाँ यह समझ रखना चाहिए कि 'ध्वनिकार' से प्राचीन भामह, उद्भट आदि आचार्यों ने अपने ग्रंथों में कहीं भी 'ध्वनि' 'गुणीभूत व्यंग्य' इत्यादिक शब्दों का प्रयोग नहीं किया है। इतने ही मात्र से जो आधुनिक विद्वान् यह कहते हैं कि—'वे 'ध्वनि' आदि को स्वीकार नहीं करते' ऐसी बातें बनाना अयुक्त ही है; क्योंकि उनने भी समासोक्ति, व्याजस्तुति, अप्रस्तुतप्रशंसा आदिक अलंकारों के निरूपण द्वारा कितने ही गुणीभूतव्यंग्यों के भेद निरूपण किये हैं और अन्य सभी व्यंग्यों के

विस्तार को पर्यायोक्त की कुक्षि में डाल दिया है, क्योंकि अनुभवसिद्ध अर्थ को बालक भी छिपा नहीं सकता। ऐसी दशा में यदि उनने 'ध्वनि' आदि शब्दों से इनका व्यवहार नहीं किया है, इतने मात्र से ध्वनि आदि का अस्वीकार नहीं हो सकता। यह एक दूसरा विचार है कि ध्वनि अलंकार्य ही है, अतः उसका प्रधान होने के कारण अलंकार-रूप पर्यायोक्त की कुक्षि में निवेश कैसे हो सकता है?

पर्यायोक्त के भेद

इस अलंकार के अनेक विषय हैं—(१) कहीं कारण के वाच्य होने पर और कार्य के गम्य होने पर (२) कहीं कार्य के वाच्य होने पर और कारण के गम्य होने पर और (३) कहीं कार्यकारणभाव से रहित केवल एक संबंधी द्वारा केवल अन्य संबंधी के गम्य होने पर इत्यादि।

उनमें से 'त्वां सुन्दरीनिवह०' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य में 'पतिव्रता-पन से स्खलन' रूपी कारण के द्वारा 'राजा के प्रति राज्यलक्ष्मी की प्राप्ति' रूपी कार्य प्रतीत होता है और इसको उठानेवाली है समासोक्ति।

अतः 'कार्य से कारण की प्रतीति की तरह कारण से कार्य की प्रतीति में विचित्रता का अभाव है' यह टीका(विमर्शिनी)कार का कथन निरस्त हो गया।

अपकुर्वद्भिरनिशं धृतराष्ट्र तवात्मजैः।
उप्यन्ते मृत्युबीजानि पाण्डुपुत्रेषु निश्चितम्॥

हे धृतराष्ट्र, नित्य पाण्डवों का अपकार करते हुए तुम्हारे पुत्र मृत्यु के बीज बो रहे हैं—यह निश्चय है।

यहाँ (मृत्यु के) 'बीज बोने' रूपी कारण के द्वारा कार्य रूप "कुलक्षय' प्रतीत होता है।

कार्य से कारण के गम्य होने पर; जैसे—

त्वद्विपक्षमहीपालाः स्वर्बालाधरपल्लवम् ।
पीडयन्तितरां तीव्रदारुणैर्दशनक्षतैः ॥

तुम्हारे शत्रुराजा स्वर्गीय बालाओं के अधर-पल्लव को तीव्र और दारुण दाँतों के घावों से अत्यन्त पीड़ित कर रहे हैं।

यहाँ शत्रुओं के 'सुरवधू-संभोग' रूपी कार्य द्वारा 'मरण' रूपी कारण अवगत होता है।

कार्य-कारण भाव से रहित केवल सम्बन्धी के द्वारा सम्बन्धी के गम्य होने पर; जैसे—'सूर्याचन्द्रमसौ' इस पहले उदाहृत पद्य में 'सूर्य और चन्द्रमा की किरणों से वस्त्र रँगे जाने' के द्वारा, जो कि न कार्य है और न कारण केवल सहचारी है 'दिगम्बरता' प्रतीत होती है। इसी तरह—

यश्चरणत्राणीकृतकमलासनपन्नगेन्द्रलोकयुगः ।
सर्वाङ्गावरणपटीकृतकनकाण्डः स वामनो जयति ॥

जिसने ब्रह्मा के और सर्पराज के लोक (सत्यलोक और पाताललोक) को चरणत्राण बनाया (नापते समय एक पैर ऊपर और दूसरा पैर नीचे गया) और ब्रह्मांड को सब अंगों को आच्छादित करनेवाला वस्त्र बनाया उस वामन की जय है।

यहाँ (त्राणीकृत' और 'पटीकृत' में) 'च्वि' प्रत्यय के द्वारा 'चरणत्राण' और 'पट' से भिन्नता की प्रतीति होने के कारण रूपक

नहीं हो सकता, अतः पर्यायोक्त होना चाहिए और व्यंग्य है, 'चरण का अन्तर्व्याप्त होना' और 'अंगों का अन्तर्व्याप्त होना'।

सो इस तरह संक्षेप से पर्यायोक्त तीन प्रकार का है। किन्तु बोलने के ढंगों का विचार किया जाय तो एक ही विषय में पर्यायोक्त अनन्त प्रकार का हो सकता है, भिन्न विषयों का तो कहना ही क्या। जैसे—'आप यहाँ आइए' इस विषय में 'इस देश को अलंकृत करिए' 'पवित्र करिए' 'इसका जन्म सफल करिए' 'इस देश को प्रकाशित करिए' 'इस देश के भाग्यों को उज्जीवित करिए' 'यहाँ का अंधेरा निवृत्त करिए' 'हमारी आँखों का सन्ताप हरण करिए' 'हमारा मनोरथ पूरा करिए' इत्यादिक।

रही कार्यादिक की सिद्धि सो उसे आरोप के द्वारा ढूँढ़ना उचित है।

विषयविभाग पर विचार

ऐसी दशा में 'कार्यरूप अप्रस्तुतप्रशंसा' द्वारा पर्यायोक्त के विषय के अपहरण की शंका करके 'कार्य कारण दोनों के प्रस्तुत होने पर पर्यायोक्त होता है और कार्य अप्रस्तुत होने पर और कारण के प्रस्तुत होने पर कार्यरूपा अप्रस्तुतप्रशंसा होती है' इस तरह अलंकारसर्वस्व-कार ने इनके विषयों को पृथक्-पृथक् किया है। इस विषय में हमें यह कहना है कि—कार्यरूपा अप्रस्तुतप्रशंसा का विषय न्यून है, और पर्यायोक्त का विषय बहुत अधिक है, अतः उसके द्वारा इसके विषय का अपहरण संगत नहीं है, किन्तु पर्यायोक्त द्वारा अप्रस्तुतप्रशंसा के विषय के अपहरण की शंका करके विषयविभाग करना उचित है।

पर्यायोक्त समाप्त

व्याजस्तुति

लक्षण

प्रथमतः प्रतीत होनेवाली निन्दा का स्तुति में और स्तुति का निन्दा में पर्यवसान होना व्याजस्तुति है।

लक्षण का विवेचन

व्याजस्तुति शब्द के यौगिक अर्थ दो होते हैं—एक तृतीया तत्पुरुष के द्वारा—व्याज से स्तुति और दूसरा कर्मधारय के द्वारा—व्याजरूपा स्तुति; अतः व्याजस्तुति शब्द के यहाँ दोनों ही अर्थ हैं। 'प्रथमतः प्रतीत होनेवाली' इस विशेषण से उनके पर्यावसान का अभाव बताया गया है, जिससे उनका बाधित होना अभिप्रेत है। इसीलिए इसे 'ध्वनि' नहीं माना जाता। कारण, ध्वनि में वाच्य अर्थ बाधित नहीं होता, किन्तु आक्षेप के प्रभाव से अन्य अर्थ अवगत होता है और प्रकृत में ऐसा नहीं है।

उदाहरण

उनमें से पहली—निन्दा का स्तुति में पर्यवसानरूपी—व्याज-स्तुति; जैसे—

उर्वीं शासति मय्युपद्रवलवः कस्यापि न स्यादिति
प्रौढं व्याहरतो वचस्तव कथं देव! प्रतीमो वयम्।
प्रत्यक्षं भवतो विपक्षनिवहैर्द्यामुत्पतद्भिः क्रुधा
यद्युष्मत्कुलकोटिमूलपुरुषो निर्भिद्यते भास्करः॥

हे देव, 'मेरे पृथ्वी पर शासन करते समय किसी को भी उपद्रव का लेश नहीं होना चाहिए' यह जोरों से पुकारकर कहने पर भी आपके इस वचन पर हम कैसे भरोसा करें। कारण, प्रत्यक्ष है कि क्रोध से उछलकर स्वर्ग में जानेवाले आपके शत्रुसमूह द्वारा आपकी वंशपरंपरा का मूलपुरुष सूर्य निर्भिन्न किया जा रहा है।

यहाँ राजा के वर्णन के प्रस्ताव में निन्दा बाधित है उसका स्तुति में पर्यवसान होता है।

दूसरी अर्थात् स्तुति से निन्दा; जैसे—

किमहं वदामि खल! दिव्यमते! गुणपक्षपातमभितो भवतः।
गुणशालिनो निखिलसाधुजनान्यदहर्निशं न खलु विस्मरसि॥

हे दिव्यमति खल! तुम्हारे सब ओर से गुणों के पक्षपात को मैं क्या कहूँ—उसका क्या वर्णन किया जाय, क्योंकि तुम गुणशाली सभी सत्पुरुषों को दिन रात भूलते नहीं।

यहाँ दुश्चरित्र (खल) के वर्णन के प्रस्ताव में स्तुति बाधित है, अतः उसका निन्दा में पर्यवसान होता है।

इस बात का स्मरण रहे कि व्याजस्तुति में एक ही अर्थ किसी आकार में पहले स्तुति या निन्दा का विषय होकर प्रकरणादिक के प्रभाव से किसी अन्य प्रकार से (लक्षणा अथवा आक्षेप से) निन्दा अथवा स्तुति का विषय होता है। उस अर्थ में से जितना अंश बाधित है उतना ही अन्य प्रकार से पर्यवसित होता हैं, शेष अंश तो अपनी स्थिति में ज्यों का त्यों रहता है। (इससे यह सिद्ध हुआ कि 'उर्वी शासति' इस पद्य में स्तुति लक्ष्यार्थ है, अतः उसे लेकर इस पद्य को अलंकार का उदाहरण कहा जाता है, पर लक्षणा के प्रयोजनरूप 'स्तुत्यतिशय' को लेकर 'ध्वनि' कहना इष्ट है।)

अन्य अलंकार से मिश्रित व्याजस्तुति

जैसे—

देव त्वां परितः स्तुवन्तु कवयो लोभेन किं तावता
स्तव्यस्त्वं भवितासि यस्य तरुणश्चापप्रतापोऽधुना।
क्रोडान्तः कुरुतेतरां वसुमतीमाशाः समालिंगति
द्यां चुम्बत्यमरावतीं च सहसा गच्छत्यगम्यामपि ॥

हे देव, कवि लोग आपकी लोभ के कारण चारों ओर से स्तुति करें, पर क्या इससे आप स्तुतियोग्य हो जायँगे? जिसका तरुण धनुष का प्रताप प्रत्यक्ष में वसुमती को अपनी बाथ में (अकवार में) भर रहा है, दिशाओं का आलिंगन कर रहा है, द्यौ (स्वर्ग) को चूमता है और अगम्या (प्राप्त होने के अयोग्य+संग करने के अयोग्य) भी अमरावती में (के साथ) सहसा गमन करता है।

यहाँ धनुष के प्रताप में, समासोक्ति द्वारा, विट-शिरोमणि (गुण्डों के सरताज) के व्यवहार से युक्त होने की प्रतीति होती है और उसके कारण प्रतीत होने वाली निन्दा अन्त में स्तुति में पर्यवसित हो जाती है। (अतः यहाँ समासोक्ति से अनुप्राणित व्याज-स्तुति है)।

अथवा; जैसे—

अये राजन्नाकर्णय कुतुकमाकर्णनयन!
स्फुरन्ती हस्ताम्भोरुहि तव कृपाणी रणमुखे।
विपक्षाणां वक्षस्यहह! तरुणानां निपतति
प्रगल्भाः श्यामानामनुपरतकामाः प्रकृतयः ॥

हे कर्णपर्यन्त विस्तृत नयन वाले राजन्, एक कौतूहल सुनिए, तुम्हारे हस्तकमल में चमकने वाली कटारी, ओह ! तरुण शत्रुओं के वक्षस्थल पर गिरती है। ठीक ही है, श्यामाओं (नवयौवना स्त्रियों + काले रंगवालियों) की प्रगल्भ प्रकृतियाँ (चंटपन की आदतें) कभी काम से निवृत्त नहीं होतीं—कहीं भी जाओ वे अपनी कामलीला दिखाए बिना मानती नहीं।

यहाँ व्याजस्तुति अर्थान्तरन्यास (और समासोक्ति दोनों) से पोषित है।

प्रथम प्रतीत होने वाले अर्थ का वाच्य होना आवश्यक नहीं

आप कहेंगे—यहाँ व्याजस्तुति कैसे है ? कारण, वाच्य निन्दा से स्तुति और वाच्य स्तुति से निन्दा के व्यंग्य होने पर व्याजस्तुति स्वीकार की जाती है, किन्तु यहाँ केवल धनुष के प्रताप का केवल वसुमती (पृथ्वी) आदि को आलिंगन करना जो वाच्य है, वह निन्दास्पद नहीं है—धनुष के प्रताप ने यदि पृथ्वी को आलिङ्गन किया तो इसमें निन्दा क्या हुई ? और समासोक्ति के द्वारा प्रकट होने वाला विट का व्यवहार निन्दास्पद होने पर भी वाच्य नहीं है, किन्तु गम्य है। (सो उसके कारण व्याजस्तुति मानना उचित नहीं।) तो इसका उत्तर यह है कि 'प्रथमतः प्रतीत होना' इस पद के द्वारा 'प्रतीति में पर्यवसित न होना' इतना ही मात्र अर्थ कहना यहाँ अभीष्ट है, न कि वह वाच्य भी होना चाहिए, क्योंकि ऐसा मानने से गौरव दोष होगा। सो प्रकृत उदाहरण में 'क्या उतने से आप स्तुति करने योग्य हो जाओगे' इत्यादिक के द्वारा निन्दा के ही उपोद्वलित होने से समासोक्ति की सहायता से निन्दा ही पहले रूढ होती है और फिर स्तुति, इसलिए (व्याजस्तुति मानने में) कोई भी दोष नहीं है।

और इस तरह (अर्थात् समासोक्ति आदि से अनुगृहीत मान लेने पर)

'भाग्यं ते शाल्मलितरो ! वद किं परिकथ्यते ।
द्विजैः फलाशया युक्तैः सेव्यसे यदहर्दिवम् ॥'

हे शाल्मली के वृक्ष, कहिए, तुम्हारा भाग्य क्या कहा जाय, क्योंकि तुम प्रतिदिन फल की आशा से युक्त द्विजों (पक्षियों+ब्राह्मणों) से सेवन किए जाते हो—यद्यपि देने के लिए तुम्हारे पास कुछ भी नहीं है तथापि याचकों से हीन नहीं हो । यहाँ यह अप्रस्तुतप्रशंसा से संकीर्ण भी होती है ।

'अलंकारसर्वस्व' और 'विमर्शिनी' का खण्डन

इसी कारण जो अलङ्कारसर्वस्वकारने लिखा है कि—

'किं वृत्तान्तैः परगृहगतैः किं तु नाहं समर्थ-
स्तूष्णीं स्थातुं प्रकृतिमुखरो दाक्षिणात्यस्वभावः ।
देशे देशे विपणिषु तथा चत्वरे पानगोष्ठ्या-
मुन्मत्तेव भ्रमति भवतो वल्लभा हन्त ! कीर्तिः ॥'

दूसरों के घरों की बातों से मुझे क्या ! किन्तु प्रकृतिमुखरता (स्वभावतः अधिक बोलना) दाक्षिणात्यों का स्वभाव है । अतः मैं चुप नहीं रह सकता । खेद है कि आपकी प्यारी कीर्ति देश-देश में, बाजारों में, चौहटों में और पानगोष्ठियों में उन्मत्ता की तरह भटकती है ।'

इस प्राचीनों के पद्य में "प्रक्रान्ताऽपि स्तुतिपर्यवसायिनी निन्दा 'हन्त कीर्ति[1]' रिति भणित्योन्मूलिता, न तु प्ररोहं गमिता—अर्थात्

1—'हन्तकीर्त्ति' यही पाठ सर्वस्वकार का है और काशी-पुस्तक में वही उद्धृत भी किया है । नवीन संस्करण में 'देवकीर्त्तिः' पाठ प्रमाद-पतित है ।

स्तुति में पर्यवसित होनेवाली निंदा आरंभ कर देने पर भी 'हन्तकीर्त्तिः' इस कथन के द्वारा उन्मूलित कर दी गई है—उसे प्ररूढ़ नहीं होने दिया" और इसकी व्याख्या विमर्शिनी ने ध्वन्यालोचनकार की उक्ति को कटाक्ष का लक्ष्य बनाकर यह लिखा है, कि "अनुदाहरणमेवैतत्पद्यं व्याजस्तुतेः—यह पद्य व्याजस्तुति का उदाहरण नहीं हो सकता" सो यह सब उड़ जाता है। कारण, 'वृत्तान्तैः—दूसरों के घरों की बातों से मुझे क्या।' इत्यादिक के द्वारा पहले निंदा के अनुसार ही समासोक्ति उठती है, जिसकी वाच्यता यहाँ विवक्षित है नहीं। पहले अन्वय के क्रम से निंदा का 'वल्लभा' के साथ अन्वय होता है और फिर उसका कीर्ति से अभिन्न होकर स्थित होने पर प्रकरणादिक पर्यालोचन के कारण व्युत्क्रम से अन्वय का बोध होता है। इसका अभिप्राय यह है कि पद्य में 'वल्लभा' शब्द प्रथमोपस्थित होने के कारण 'भवतो वल्लभा उन्मत्तेव भ्रमति' यह सीधासादा निंदासूचक अन्वय पहले होता है और बाद में प्रकरणादिक ज्ञान के अनंतर 'वल्लभाऽभिन्ना भवतः कीर्तिं भ्रमति' यह पदों के हेरफेर (व्युत्क्रम) से अन्वय प्रतीत होता है। इसलिये ध्वन्यालोचनकार द्वारा उक्त उदाहरण ठीक ही है।

व्याजस्तुति पर विचार

यह व्याजस्तुति जिसकी स्तुति और निंदा पहले से प्रारंभ की जाय यदि उसी की निंदा और स्तुति में पर्यवसान हो तब होती है और यदि निंदा और स्तुति पृथक्-पृथक् आधारों में रहे—अर्थात् स्तुति किसी की की जाय और निंदा किसी की अभिव्यक्त हो तब नहीं होती—यह प्राचीन अलंकारशास्त्र के प्रवर्तकों की मर्यादा है। अतएव उनने अपने ग्रंथों में स्थान-स्थान पर लिखा है कि "जहाँ शब्द से अभिधान की जानेवाली स्तुति अथवा निंदा का स्वरूप बाधित होकर निंदा और स्तुति

में अपना अर्पण करके पर्यवसित हो जाता है (वहीं व्याजस्तुति होती है)"।

सो इस तरह

परोपसर्पणानन्तचिन्तानलशिखाशतैः।
अचुम्बितान्तःकरणाः साधु जीवन्ति पादपाः॥

दूसरों के पास जाने की अनंत चितारूपी अग्नि की सैकड़ों शिखाओं से जिनके अंतःकरण का स्पर्श नहीं होता ऐसे वृक्ष सुख से जीते हैं।

इत्यादिक में 'वृक्षों की स्तुति' यद्यपि 'सांसारिक जनों की निन्दा' में पर्यवसित होती है तथापि व्याजस्तुति नहीं है, क्योंकि प्रथमतः प्रतीत होनेवाली (वृक्षों की) स्तुति यहाँ बाधित नहीं है। यही बात निन्दा से स्तुति के व्यंग्य होने पर भी समझनी चाहिए।

इसी तरह एक की स्तुति से दूसरे की स्तुति और एक की निन्दा से दूसरे की निन्दा के व्यक्त होने पर भी इस अलंकार का विषय नहीं है। कारण वही पूर्वोक्त है। जैसे—

ये त्वां ध्यायन्ति सततं त एव कृतिनां वराः।
मुधा गतं पुराराते! भवदन्यधियां जनुः॥

हे त्रिपुरारि, जो आपका निरंतर ध्यान करते हैं वही कुशल पुरुषों में श्रेष्ठ है, और जो आपसे भिन्न वस्तुओं में बुद्धि लगाते हैं उनका जन्म व्यर्थ गया।

यहाँ पूर्वार्द्ध में (शिवजी का) ध्यान करनेवाले की स्तुति और उत्तरार्द्ध में (विषयों का) ध्यान करनेवाले की निंदा के द्वारा ध्येय (शिवजी और विषयों) की स्तुति और निंदा की प्रतीति होती है। (अतः यहाँ व्याजस्तुति नहीं है।)

कुवलयानंद का खंडन

ऐसी दशा में कुवलयानंदकार ने स्तुति और निंदा के द्वारा भिन्न आधार में निंदा और स्तुति की एवं स्तुति और निंदा की प्रतीति होने पर जो व्याजस्तुति के चार प्रकार अधिक लिखे हैं वे उड़ जाते हैं। और यदि प्राचीनों के संकेत की मर्यादा को तोड़कर अपनी रुचि के अनुसार जो सुंदर लगे उस मार्ग का स्वीकार किया जाय तो सभी व्यंग्यों के भेदों को अथवा (अर्थात् ऐसा न हो सके तो) गुणीभूत-व्यंग्यों के भेदों को (ही सही) अलंकारों के अंदर समाविष्ट कर दीजिए। अथवा व्याजस्तुति को भी अप्रस्तुतप्रशंसा के यौगिक अर्थ (अप्रस्तुत की प्रशंसा-कथन) से व्याप्त होने के कारण (क्योंकि व्याज-स्तुति में भी अप्रस्तुत का ही निरूपण होता है अतः) अप्रस्तुतप्रशंसा में निविष्ट कर दीजिए और अप्रस्तुतप्रशंसा कार्य-कारण आदि के (पांच) विषय में ही होती है इस दुराग्रह को हटा दीजिए। सो इस तरह तो बहुत गड़बड़ हो जायगी।

पूछा जा सकता है कि तब कुवलयानन्दकार के बताए चारों प्रकार का अन्तर्भाव कहाँ होगा? हम कहते हैं व्यंग्यों के भेदों में[1]। व्यंग्यों के सभी भेद जो अपरिमित हैं, अलंकारों के भेदरूपी गोष्पद (गाय के खुर के खड्डे) में अंतर्भूत नहीं किये जा सकते।

१—नागेश कहते हैं—यहाँ यह विचारणीय है। जैसे व्यंग्यों के भेदों में अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्त अलंकार स्वीकार किये जाते हैं वैसे यहाँ भी अलंकारता मानने में कोई बाधक नहीं है।

(यहाँ यह पूछा जा सकता है कि क्या आप यह मानते हैं सभी व्यंग्यों को अलंकार बना दिया जाय अथवा केवल दीक्षितजी के चार भेदों को? यदि प्रथम पक्ष लें तो आपको कई नए अलंकार बनाने पड़ेंगे

और जो कि कुवलयानंदकार ने निंदा के व्यंग्य होने का उदाहरण दिया है—

"अर्धं दानववैरिणा गिरिजयाप्यर्धं शिवस्याहृतं
देवेत्थं जगतीतले स्मरहराभावे समुन्मीलति।
गंगा सागरमम्बरं शशिकला नागाधिपः क्ष्मातलं
सर्वज्ञत्वमधीश्वरत्वमगमत्त्वां मां च भिक्षाटनम् ॥

हे देव, शिवजी का आधा (दाहिना भाग) विष्णु ने ले लिया और आधा (बायाँ भाग) गिरिजा ने ले लिया। इस तरह पृथ्वीतल पर जब शिवजी का अभाव प्रगट होने लगा तो गंगा समुद्र में चली गई, चंद्रकला आकाश में चली गई, सर्पराज पाताल में चला गया, और सर्वज्ञता तथा अधिपतित्व आपको मिला और मुझे मिला भिक्षाटन।

और यदि दूसरा पक्ष लें तो यह समर्थन दीक्षितजी की मरहमपट्टी के अतिरिक्त कुछ नहीं—अनुवादक)

कहा जायगा कि—उक्त भेदों में अप्रस्तुतप्रशंसा ही होने दो, व्याजस्तुति नहीं। तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि ऐसा मानने में कोई विनिगमक नहीं। यदि कहा जाय कि व्याजस्तुति लक्ष्य में (बाधित होने पर) ही होती है व्यंग्य में नहीं तो इसमें शपथ के अतिरिक्त प्रमाण नहीं है अर्थात् यह बलात्कार है। और यहाँ व्यंग्य के गुणीभूत होने के कारण ध्वनि है नहीं। कहा जायगा कि ऐसा मानने से प्राचीन ग्रंथों का विरोध होता है सो यह कुछ नहीं। (पर यदि आप प्राचीनों की मर्यादा की रक्षा करके अप्रस्तुतप्रशंसा मान लें तो आपकी क्या हानि है ?—अनुवादक)

यहाँ आप सर्वज्ञ हैं और सर्वेश्वर हैं इस राजा की कपटरूप स्तुति से 'मेरी विद्वत्ता-आदि और दरिद्रता-आदि को जानते हुए भी एवं अत्यंत दान से रक्षा करने में समर्थ होने पर भी मुझे कुछ भी नहीं दे रहे हो 'यह (राजा की) निंदा व्यक्त होती है।"

सो नहीं हो सकता। कारण,

'साधु दूति ! पुनः साधु कर्तव्यं किमतः परम् ।
यन्मदर्थे विलूनासि दन्तैरपि नखैरपि ॥

हे दूति, तुमने अच्छा किया और बहुत अच्छा किया। इससे अधिक किया ही क्या जा सकता है ! जो तू मेरे कारण दातों से भी और नखों से भी छिद-भिद गयी।'

इस अभी-अभी दिए हुए तुम्हारे उदाहृत पद्य से इसमें अत्यधिक भेद है। कारण, इस उदाहरण में 'बहुत अच्छा किया इससे अधिक किया ही क्या जा सकता है' इन वर्णों से भला करनेवाली के रूप में जो स्तुति है वह सुनते ही बाधित होकर अपने से विपरीत अर्थ में अपना आत्मसमर्पण करके पर्यवसित होती है, किंतु आपके उक्त उदाहरण में 'सर्वज्ञता' और 'अधीश्वरता' वैसे बाधित नहीं हैं। कारण, राजा के वर्णन के प्रसंग में राजा में रहनेवाली 'अज्ञानता' और 'पामरता' का कथन यहाँ अभीष्ट नहीं है, अतएव 'सर्वज्ञ होने पर और समर्थ होने पर भी तुमने रक्षा नहीं की' इस उलाहना के रूप में होने वाली निंदा यहाँ विवक्षित नहीं है, प्रत्युत 'सर्वज्ञ और समर्थ आपके लिए मैं दरिद्री रक्षा करने के योग्य हूँ' यही कहना अभीष्ट है।

फिर भी; थोड़ी देर के लिए, तुम्हारी बताई हुई 'उलाहना रूपी निंदा' को यहाँ व्यंग्य मान लीजिये—आप यदि इसी तरह संतुष्ट होते हैं तो यों ही सही। किंतु 'साधु दूति पुनः साधु०' इस पद्य में साधुकारि-

णीत्व (दूती का भला करनेवाली होना) 'जैसे बिजली की तरह चमक कर शांत हो जाता है वैसे यहाँ (राजा की) 'सर्वज्ञता' और 'अधी-श्वरता' शांत नहीं होती। कारण, ऐसी स्थिति में उपालम्भरूपी निंदा उठ नहीं सकेगी और प्रतीति का विरोध होगा, अतः द्रविडशिरोमणि (अप्पयदीक्षित) जी ने क्या लिखा है इसपर सहृदयों को विचार करना चाहिए[1]।

व्याज स्तुति समाप्त

१—नागेश कहते हैं कि—बहुत समय तक सेवा करके दुखी होने पर भी जिसे धन नहीं मिला ऐसा भिक्षुक राजसेवा छोड़ना चाहता है, उसके ऐसे वाक्य में आपाततः प्रतीयमान स्तुति का वक्तृवैशिष्ट्य आदि के सहकार से निंदा में ही पर्यवसान होता है, अतः 'सर्वज्ञत्व' और 'अधीश्वरत्व' की चमक बिजली के समान ही है—वास्तव में तो वह राजा को अज्ञ और दरिद्री ही कहना चाहता है। (पर तब 'अज्ञ' और 'दरिद्री' को उलाहना देना बेकार है, अतः 'उपालम्भरूपी निंदा उठ नहीं सकेगी' इसका तो कोई उत्तर हुआ नहीं—अनुवादक)

आक्षेप अलंकार

(आक्षेप अलंकार के अनेक लक्षण हैं। उनमें से एक यह है—)

(१)

"उपमान संबंधी सब प्रयोजनों के संपादन करने में उपमेय के समर्थ होने के कारण जो उपमान की निरर्थकता उपमान के तिरस्काररूप में होती है उसे 'आक्षेप' कहते हैं।"

यह कुछ लोगों का मत है। उनके मत में इस तरह उदाहरण बनाना चाहिए—

अभूदप्रत्यूहः कुसुमशरकोदण्डमहिमा
विलीनो लोकानां सह नयनतापोऽपि तिमिरैः।
तवास्मिन्पीयूषं किरति परितस्तन्वि ! वदने
कुतो हेतोः श्वेतो विधुरयमुदेति प्रतिदिनम् ॥

कामदेव के धनुष का प्रभाव निर्विघ्न हो गया है—उसे सबने मान लिया और मनुष्यों के नेत्रों का संताप भी अंधकारों के साथ विलीन हो गया है। हे तन्वी, (इस तरह) तुम्हारा मुख जब चारों तरफ अमृत बरसा रहा है तब यह सफेद चंद्रमा प्रतिदिन क्यों उदय होता है ?

अथवा; जैसे—

वसुधावलयपुरंदर ! विलसति भवतः कराम्भोजे।
चिन्तामणिकल्पद्रुमकामगवीभिः कृतं जगति ॥

हे पृथ्वीमंडल के स्वामी, आपका कर-कमल जब सुशोभित हो रहा है तब चिंतामणि, कल्पवृक्ष और कामधेनु की संसार में कोई आवश्यकता नहीं।

इन दोनों उदाहरणों में से प्रथम उदाहरण में उपमान के प्रयोजन का संपादन शब्दतः प्रतिपादित है और द्वितीय उदाहरण में अर्थतः प्राप्त है। यह भेद है।

(२)

दूसरे लोगों का कहना है कि

प्रथमतः वर्णित वस्तु का किसी अन्य पक्ष के आलंबन के कारण निषेध कर देना आक्षेप कहलाता है।

उनके मत में यह उदाहरण देना चाहिए—

सुराणामारामादिह झगिति झञ्झानिलहताः
पतेयुः शाखीन्द्रा यदि तदखिलो नन्दति जनः।
किमेभिर्वा कार्यं शिव! शिव! विवेकेन विकलै-
श्चिरं जीवन्नास्तामधिधरणि दिल्लीनरपतिः॥

यदि देवताओं के उपवन में से तूफान के मारे बड़े-बड़े वृक्ष (कल्पवृक्ष) पृथ्वी पर गिर पड़ें तो सभी मनुष्य प्रसन्न हो जाँय—फिर उनके मनोरथ सिद्ध होने में विलंब न होगा। अथवा शिव! शिव! इन विवेकरहित (जड़ों) का संसार क्या करेगा पृथ्वी पर तो दिल्ली-नरेश चिरंजीव रहें।

यहाँ श्लोक के उत्तरार्द्ध के द्वारा, पूर्वार्द्ध में बताए हुए पक्ष का, एक अन्य पक्ष आलंबन करने के कारण, केवल प्रतिक्षेप मात्र किया जा रहा है।

अथवा; जैसे—

किं निःशङ्कं शेषे शेषे वयसि त्वमागतो मृत्युः।
अथवा सुखं शयीथा जननी जागर्ति जाह्नवी निकटे ॥

इस शेष अवस्था में तुम निःशंक होकर क्या सो रहे हो। मौत (सिर पर) आ गई है। अथवा, सुख से सोते रहिए, क्योंकि माता जाह्नवी तुम्हारे समीप जग रही है।

(३)

कुछ लोगों का कहना है कि—

निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः ॥

(काव्यप्रकाश)

विवक्षित वस्तु में कोई विशेषता बताने की इच्छा से जो निषेध किया जाता है उसे आक्षेप कहते हैं। वह दो प्रकार का होता है—१-वक्ष्यमाणविषय और २-उक्तविषय।"

यहाँ 'विशेषता' का अर्थ है कोई व्यंग्यरूप अर्थ, 'विवक्षित' का अर्थ है प्रकृतार्थ और 'निषेध' का अर्थ है निषेध-सा अर्थात् कथनादिक का प्रत्याख्यान—कहकर बदल जाना। इनके मत में इस तरह उदाहरण देना चाहिए—

रीतिं गिरामममृतवृष्टिकिरां त्वदीयां
तां चाकृतिं कृतिवरैरभिनन्दनीयाम्।
लोकोत्तरामथ कृतिं करुणारसार्द्रां
ज्ञातुं न कस्यचिदुदेति मनःप्रसारः ॥

अमृत की वृष्टि करने वाली आपकी बातचीत की प्रणाली को तथा श्रेष्ठ कुशल पुरुषों द्वारा अभिनन्दन करने योग्य उस (अनुपम) आकृति को एवं करुणारस से भीगी हुई अलौकिक कृति को जानने के लिए किसी के मन का प्रसार नहीं होता।

यहाँ किए जानेवाले 'मन के प्रसार का निषेध' वर्णनीय वस्तु की अनिर्वचनीयता समझाने के लिये है।

श्वासोऽनुमानवेद्यः शीतान्यङ्गानि निश्चला दृष्टिः।
तस्याः सुभग ! कथेयं तिष्ठतु तावत्कथान्तरं कथय ॥

सखी नायक से कहती है—हे सुभग, उसका श्वास अनुमान से ज्ञात होने योग्य है, अंग शीतल हो गए हैं और दृष्टि निश्चल है—यह है उसकी कथा। इसलिए इसे तो रहने दीजिए। आप तो कुछ दूसरी ही बात करिए। (यहाँ उक्तविषय आक्षेप है।)

(४)

अलङ्कारसर्वस्वकारादिक तो कहते हैं कि—

"आक्षेप दो प्रकार का है—एक वह जिसमें प्राकरणिक अर्थ का निषेध प्रतिष्ठित न होने के कारण केवल आभासरूप रहता है और इस तरह किसी विशेष अर्थ के विधान को अभिव्यक्त करता है; और दूसरा वह जिसमें अप्राकारणिक अर्थ की विधि केवल आभासरूप होकर निषेध में पर्यवसित हो जाती है।

इनमें से निषेधाभासरूपी आक्षेप प्रथमतः दो प्रकार का है—उक्त-विषय और वक्ष्यमाणविषय। इन दोनों में से उक्तविषय के भी दो भेद हैं—कहीं केवल वस्तु का निषेध होने से और कहीं वस्तु के कथन का निषेध होने से और वक्ष्यमाणविषय तो वस्तु-कथन का निषेधरूप

ही हो सकता है। वह शब्दतः सामान्य धर्म से अवच्छिन्न के निषेधरूप में उपस्थित किए जाने पर भी वस्तुतः विशेषरूप इष्ट वस्तु के निषेधरूप में उपस्थित होने के कारण जिस वस्तु का निषेध किया जाता है उसमें रहने वाले किसी अन्य विशेष को उत्पन्न कर देता है। यह भी दो प्रकार का है—एक वह जिसमें सामान्याश्रित किसी विशेष का निरूपण किया जाता है, दूसरा वह जिसमें केवल सामान्य का ही वर्ण होता है—तदाश्रित विशेष का निरूपण नहीं होता। उनमें से कुछ विशेषों के निरूपण कर दिए जाने पर प्रयोजन के अभाव से निषेध की प्रवृत्ति नहीं होती। अतः वह निषेध वक्ष्यमाण इष्ट वस्तु के विषय में ही सम्पन्न हो जाता है और जहाँ विशेषों का निरूपण ही नहीं होता वहाँ तो सुतरां उसे वक्ष्यमाण अभीष्ट वस्तु के विषय में सम्पन्न होना ही पड़ता है।

इन चारों प्रकार के आक्षेप में इन चार बातों का उपयोग होता है—अभीष्ट वस्तु, उसका निषेध, निषेध की भी असत्यता और अभीष्ट वस्तु में रहनेवाली विशेषता का प्रतिपादन। इसलिए यहाँ पर निषेध की विधि अथवा विहित का निषेध नहीं कहा जा सकता, किंतु असत्य निषेध के द्वारा विधि का आक्षेप होने के कारण इसका 'योग-शक्ति' के द्वारा अर्थात् (व्युत्पत्ति के अनुसार) आक्षेप नाम सार्थक है और वह आक्षेप पूर्वोक्त रीति से चार प्रकार का है।

दूसरा आक्षेप असत्य विधि के द्वारा निषेध का आक्षेप होने पर होता है। इसमें भी अनभीष्ट अर्थ उसकी विधि, उस विधि का भी आभासरूप होना और अर्थ में रहनेवाली विशेषता का प्रतिपादन इन चारों बातों का उपयोग होता है।

इनके मत में इस तरह उदाहरण बनाना चाहिए।

(१) (उक्तविषय वस्तुनिषेधात्मक; जैसे—)

न वयं कवयस्तव स्तवं नृप कुर्वीमहि यन्मृषाक्षरम् ।
रणसीम्नि तवावलोकने तरुणार्को दिनकौशिकायते ॥

हे राजन्, हम कवि नहीं हैं कि झूठे अक्षरों में तुम्हारी स्तुति करें । सचमुच युद्ध भूमि में तुम्हारे देखने पर तरुण सूर्य दिन के उल्लू की तरह प्रतीत होता है ।

(२) (उक्तविषय वस्तुकथननिषेधात्मक; जैसे—)

मां पाहीति विधिर्विधेयविषयो वाच्यः स्वतंत्रे कथं
नोपेक्ष्यो भवतास्मि दीन इति गीः श्लाघ्या न संख्यावताम् ।
एवं दोषविचारणाकुलतया देव ! त्वयि प्रोन्मुखे
वक्तव्यप्रतिभादरिद्रमतयः किंचिन्नहि ब्रूमहे ॥

हे देव, 'मेरी रक्षा करिए' इस तरह 'विधि' (का प्रयोग) विधेय (आज्ञाकारी भृत्य) के विषय में होता है, इस वाक्य को (आप जैसे) स्वतंत्र के लिए कैसे कहा जाय । रहा यह कहना कि 'आपको मुझ दीन की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए' सो यह विद्वानों के लिए प्रशंसनीय नहीं । इस तरह आपके सन्मुख आने पर दोष की विचारणा में व्याकुल होने के कारण हमारी बुद्धि वक्तव्य की सूझ से रहित हो जाती है और हम कुछ नहीं बोलने पाते ।

(३) (सामान्याश्रय यत्किञ्चिद्विशेषनिरूपणात्मक; जैसे—)

रे खल ! तव खलु चरितं विदुषामग्रे विविच्य वक्ष्यामि ।
अलमथवा पापात्मन्कृतया कथयापि ते हतया ॥

हे दुष्ट, (देख तो सही) तेरे चरित्र को विद्वानों के आगे विवेचन

करके वर्णन करूँगा, अथवा हे पापात्मन्, (जाने दे) तेरी मरी कथा न की जाय यही अच्छा है।

(४) (वक्ष्यमाणविषय अनिरूपणात्मक; जैसे—)

श्वासोऽनुमानवेद्यः शीतान्यङ्गानि निश्चला दृष्टिः।
तस्याः किं वा पृच्छसि निर्दय! तिष्ठत्वसौ हता वार्ता॥

श्वास अनुमान से जानने योग्य है, अंग शीतल हो गए हैं, दृष्टि निश्चल हो गई है। हे निर्दय, उसके विषय में आप क्या पूछते हैं, इस मरे प्रसंग को जाने ही दीजिए।

इनमें से प्रथम पद्य में जो कवि की उक्ति है उसमें 'कवि होने का निषेध' बाधित है। अतः वह मिथ्यावादित्व के निषेध रूप में परिणत होकर उत्तरार्ध में वर्णित वस्तु को 'सत्यता'रूपी विशेषता को अभिव्यक्त करता है।

इसी तरह दूसरे पद्य में वक्ता को 'रक्षा करने' और 'दान देने' का कथन अभीष्ट है, अतः वह वक्ता के अभीष्ट होने के रूप में पर्यवसित होकर उक्त दोनों कार्यों की 'अवश्यकर्त्तव्यता' को अभिव्यक्त करता है।

तीसरे पद्य में खल-संबंधी वृत्तान्त के कथनरूपी सामान्यरूप से प्रस्तुत 'चुगलीखोरी' आदि वृत्तान्त का कथन जो वक्ष्यमाण है, उसका वर्णन किया जा रहा निषेध उस वृत्तान्त के 'सोचने मात्र से दुखदायीपन' को अभिव्यक्त करता है।

चौथे पद्य में नायिका-संबंधी वार्ता के कुछ अंश श्वास, कृशता आदि को कहकर बाद में उसका निषेध करना, आगे कहे जानेवाली मरण की वार्ता के विषय में परिणत होकर उस वार्ता के 'मुख से न निकालने योग्य होने' को अभिव्यक्त करता है।

इन उदाहरणों में निषेध के प्रतिष्ठित न होने के कारण न तो विहित का निषेध ही कहा जा सकता है और न निषेध की विधि ही।

(५) (विध्याभासरूप आक्षेप; जैसे—)

तपोनिधे कौशिक! रामचन्द्रं निनीषसे चेन्नय किं विकल्पैः।
निरन्तरालोकनपुण्यधन्या भवन्तु वन्या अपि जीवभाजः॥

हे तपोनिधि विश्वामित्र, यदि आप रामचंद्र को ले जाना चाहते हैं तो ले जाइए। आगा-पीछा सोचने से क्या फल है। जंगली जीवों को भी (राम के) निरन्तर देखने के पुण्य से धन्य होने दीजिए।

यहाँ पुत्र के स्नेह से व्याकुल दशरथ के वाक्य में 'ले जाइए' यह विधि बाधित है, अतः 'मत ले जाइए' इस निषेध में पर्यवसित होती है और तब उससे यह अभिव्यक्त होता है कि 'अन्यथा मेरा प्राण-वियोग हो जायगा' अतः यह आक्षेप विध्याभासरूप है।

यद्यपि इनके मत के अनुसार इस तरह उदाहरण हो जाते हैं, तथापि इन लोगों के मत में प्राचीन मत के अनुसार दिए जाने वाले आक्षेप के उदाहरण अनुदाहरण ही हैं।

इस तरह उनका आशय यह है कि प्रथम मत द्वारा सिद्ध आक्षेप प्रतीप का भेद है और द्वितीय मत से सिद्ध आक्षेप तो विहित का निषेध-मात्र ही है, आक्षेप नहीं; क्योंकि उनमें आभासरूप निषेध नहीं है।

(५)

दूसरे लोगों का तो कहना है कि निषेधमात्र आक्षेप होता है और चमत्कारी होना तो अलंकार के सामान्य लक्षण से प्राप्त है ही। तथा वैसा चमत्कारीपन व्यंग्य अर्थ होने पर ही हो सकता है अतः यह सिद्ध हुआ कि—

व्यंग्य सहित सभी निषेध आक्षेपालंकार हैं। और इस तरह इस लक्षण में उपमेय द्वारा की गई उपमान की किमर्थकता का, पक्षांतर का स्वीकार करने के द्वारा की गई प्रथम पक्ष की किमर्थकता का, विशेष प्रतिपादन के प्रयोजन वाली उक्तविषया तथा वक्ष्यमाण-विषया किमर्थकताओं और अभी-अभी बताए गए निषेध के आभास और विधि के आभास इन सभी का संग्रह हो जाता है।

आक्षेप की ध्वनियाँ और उनपर विचार

(अभी-अभी बताया जा चुका है कि 'आक्षेप' के लक्षण के विषय में ५ मत हैं उनमें से ३ किमर्थकताएँ और एक निषेधाभासरूप तथा एक निषेधरूप हैं)

अब तत्तन्मतानुसार आक्षेपध्वनि के उदाहरण दिए जाते हैं—

त्वामवश्यं सिसृक्षन्यः सृजति स्म कलाधरम्।
किं वाच्यं तस्य वैदुष्यं पुराणस्य महामुनेः॥

तुम्हें अवश्य उत्पन्न करने की इच्छा रखते हुए भी जिसने चंद्रमा को उत्पन्न किया है उस पुराने महामुनि की विद्वत्ता का क्या कहना है।

इस उदाहरण में जिनके हिसाब से (तीनों प्रकार की) उपमान की किमर्थकता आक्षेप है उनके मत से 'तुम्हारे रहने पर चंद्रमा की क्या आवश्यकता है' इस अंश को लेकर आक्षेप की ध्वनि है, और जिनके मत में केवल निषेध ही आक्षेप होता है उनके हिसाब से 'बूढ़े ब्रह्मा में विद्वत्ता नहीं है' इस अंश को लेकर आक्षेप की ध्वनि है।

शंका और समाधान

आप कहेंगे कि 'उसकी विद्वत्ता का क्या कहना' इस तरह बाध-

सहित विद्वत्ता की उक्ति का पर्यवसान तत्काल ही विद्वत्ता के अभाव में हो जाता है, अतः उपमान की किमर्थकता की भी प्रतीति तत्काल हो जाने के कारण यह व्यंग्य वाच्य के ही समान हो जाता है, अतः इसको ध्वनि किस तरह कहा जा सकता है ? किंतु यह दोष नहीं है, कारण 'तुमको उत्पन्न करने की इच्छा वाले ब्रह्मा ने अपनी कृति में कुशलता-संपादन करने के निमित्त प्रथमतः पाण्डुलेख (Rough copy) के समान चंद्रमा को बनाने वाले की विद्वत्ता का क्या कहना है, इस तरह विद्वत्ता की उक्ति निर्बाध होने के कारण पहिले विश्रांति हो जाने के बाद में 'पुराने' इस विशेषण के अर्थ पर विचार करने से 'विद्वत्ता के अभाव' और 'चंद्रमा की किमर्थकता' में इस पद्य के अर्थ का पर्यवसान होता है। इसलिए 'ध्वनि' होने में कोई त्रुटि नहीं।

किंतु जिनके मत में 'आभासरूप निषेध ही आक्षेप है' उनके मत में उपर्युक्त पद्य आक्षेप की ध्वनि का उदाहरण नहीं होता। उनके मत में निम्नलिखित पद्य आक्षेप की ध्वनि का उदाहरण है।

त्वां गीर्वाणगुरुं सर्वे वदन्तु कवयस्तु ते।
समानकक्षस्तेनासीत्येषोऽर्थस्तु मतो मम ॥

सब लोग आपको देवताओं के गुरु (बृहस्पति) कहें, क्योंकि वे कवि हैं, किंतु 'आप उनके समकक्ष हैं' यह वस्तु तो मुझे संमत है।

इस कवि के वाक्य में 'मैं कवि नहीं हूँ' यह गम्यमान (प्रतीत होनेवाला) निषेध बाधित होने के कारण आभास रूप में प्रतीत होकर 'मिथ्यावादित्व के अभाव' रूप में पर्यवसित हो जाता है और तब उत्तरार्ध के अर्थ की सत्यता रूपी विशेषता को ध्वनित करता है।

ध्वनिकार का समर्थन

इस तरह अपनी-अपनी मान्यता के भेद से आक्षेपों का भेद होने के कारण उनकी ध्वनियों की पृथकता है। इतने पर भी—

"स वक्तुमखिलाञ्शक्तो हयग्रीवाश्रितान्गुणान् ।
योऽम्बुकुम्भैः परिच्छेदं ज्ञातुं शक्तो महोदधेः ॥

हयग्रीव में रहने वाले गुणों को पूर्णतया वही कह सकता है जो जल के घड़ों के द्वारा (घड़े भर-भरकर) महासमुद्र के अंत को जानने में समर्थ हो ।"

इस पद्य को ध्वनिकार ने (इष्टार्थ के निषेध के अभिव्यक्त होने के कारण) जो 'आक्षेप ध्वनि' का उदाहरण दिया है उसके विषय में अपने माने हुए (निषेधाभासरूप) आक्षेप की अभिव्यक्ति न होने के कारण "यह आक्षेप की ध्वनि का उदाहरण नहीं है" इस तरह बिना युक्ति के कहने वाले 'अलंकार-सर्वस्व' कार परास्त हो जाते हैं, क्योंकि 'आभासरूप ही निषेध आक्षेप है' यह कोई वेद की आज्ञा नहीं हैं। न प्राचीन आचार्यों की ही आज्ञा है और न इसमें कोई युक्ति ही है जिसके कारण ध्वनिकार के कथन की उपेक्षा करके आप कथन पर श्रद्धा करें। किंतु विपरीतता (ध्वनिकार पर श्रद्धा और आप पर अश्रद्धा) ही उचित है, क्योंकि ध्वनिकार आलंकारिकों की पद्धति के व्यवस्थापक हैं। इस शास्त्र (साहित्य शास्त्र) में 'आक्षेप' आदि शब्दों के संकेत का ग्राहक प्राचीन वचनों के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण है भी नहीं। यदि ऐसा न मानो तो सर्वत्र विपर्यास होने लगेगा।

कुवलयानंद का खंडन

और जो कुवलयानंदकार ने—

"नरेन्द्रमौले ! न वयं राजसंदेशहारिणः ।
जगत्कुटुम्बिनस्तेऽद्य न शत्रुः कश्चिदीक्ष्यते ॥

हे राजशिरोमणि, हम राजा के संदेशवाहक 'खुशामदिया' नहीं हैं। सब जगत् के कुटुम्बी आपका आज कोई शत्रु नहीं दिखाई देता।"

इस पद्य को अलंकारसर्वस्वकार के मत से उदाहरण देकर कहा है कि "यहाँ संदेशवाहकों की उक्ति में 'हम संदेशवाहक नहीं हैं' यह निषेध उत्पन्न नहीं, अतः, संधिकाल के उचित कपट-वचनों को हटाकर यथार्थवादित्व में पर्यवसित हो जाता है और तब 'सब पृथ्वी के पालन-कर्त्ता आपके द्वारा कोई भी शत्रुभाव से देखने के योग्य नहीं हैं, किंतु सभी राजा लोग भृत्यभाव से रक्षा करने के योग्य हैं' इस विशेषता को आक्षिप्त करता है।"

सो यह ठीक नहीं। कारण, आपने जो विशेष अर्थ बतलाया है वह निषेध से अभिव्यक्त नहीं होता, क्योंकि 'हम राजा के संदेशवाहक नहीं हैं' यह कह देने मात्र से 'तुम्हारे द्वारा कोई भी शत्रुभाव से देखने योग्य नहीं है, किंतु सभी राजा लोग भृत्यभाव से रक्षा करने योग्य हैं' यह विशेष अर्थ प्रतीत नहीं होता, अपितु 'जगत् के कुटुंबी........' इत्यादिक उत्तरार्ध के प्रयोग करने पर वह विशेष अर्थ प्रतीत होता है, अतः यहीं पर उसे निषेध से आक्षिप्त कहना अनुचित है, क्योंकि 'जो विशेष अर्थ केवल निषेध के सामर्थ्य से आक्षिप्त होता है उसी के विषय में निषेध आक्षिप्त करता है' यह कहना उचित है, न कि अन्य किसी वाक्य द्वारा प्रतीत हुए विशेष अर्थ को निषेध के द्वारा आक्षिप्त कहना।

देखिए, यहाँ पर राजा के संदेशवाहक द्वारा प्रयुक्त किए हुए 'हम राजा के संदेशवाहक नहीं हैं' इस वाक्य में अपने आप (राज-संदेशवाहक) में अपना (राजसंदेशवाहकता का) निषेध बाधित होने के कारण 'राजा के संदेशवाहक' इस पद से लक्षणा द्वारा राजा के संदेशवाहकों में रहने वाले 'कपटवचन के प्रयोगकर्तृत्व' आदि धर्मों

से युक्त अर्थ (कैतववादी) उपस्थित किया जाता है (अर्थात् 'राज-संदेशवाहक' पद का लक्ष्य अर्थ है 'कैतववादित्व') और उसका प्रयोजन है 'कपटवचनप्रयोक्तृत्व का निषेध हो जाने पर अपने अंदर सत्यवक्तृत्व की अथवा अपने वचन के अंदर सत्यत्व की प्रतीति'। यही विशेष अर्थ का आक्षेप है ऐसी दशा में क्यों कहा जाता है कि 'आपके द्वारा कोई भी शत्रु भाव से देखने योग्य नहीं है......' इत्यादि निषेध से आक्षिप्त है।

अब यदि कहा जाय कि पूर्वोक्त बाध (राजसंदेशहारी का राज-संदेशहारित्व के निषेध) के कारण ही 'राजा' पद की शत्रु अर्थ में लक्षणा करके 'हम शत्रु के संदेशहारी नहीं हैं' इस तरह (लक्ष्य रूप में) प्राप्त हुए अर्थ के द्वारा 'हमारे स्वामी शत्रु नहीं हैं इतना ही नहीं, किंतु भृत्यभाव से पालन करने योग्य हैं' इस विशेष अर्थ की प्रतीति होती है। तो तृतीय कक्षा में आया हुआ 'हमारे स्वामी शत्रु ही नहीं हैं' यह निषेध 'आक्षेप' होगा, न कि उसको उठानेवाला आपके द्वारा उक्त निषेध, जो इस निषेध का उत्थापक है।

किंतु यदि 'परंपरया यथाकथञ्चित् किसी विशेष अर्थ को उठाने-वाला भी आक्षेप होता है' यह कहा जाय तथापि 'संधिकाल के उचित कपटवचन के परिहार द्वारा यथार्थवादिता में पर्यवसित होता हुआ........'इत्यादिक आपके कथन की तो असंगति ही रही, क्योंकि केवल यथार्थवादित्व के द्वारा आप का बताया हुआ विशेष अर्थ आक्षिप्त नहीं हो सकता, किंतु उससे उत्तरार्द्ध द्वारा आक्षिप्त अर्थ का परिपोषण मात्र होता है। इसलिए जहाँ तुमने निषेध का पर्यवसान बताया है वहीं विशेष अर्थ निषेध के द्वारा आक्षेप करने योग्य है, न कि अन्य कोई विशेष अर्थ।

अतएव अलंकारसर्वस्वकारने जो यह लिखा है कि--

"बालक[1] नाहं.................."

यहाँ "दूतीत्वरूपी वस्तु के निषेध द्वारा 'यथार्थवादित्व' आदि विशेष की अभिव्यक्ति होती है" वह संगत हो जाता है।

आक्षेप समाप्त

———

१—इसका मूल, प्राकृत पद्य, जो अलंकारसर्वस्व में है, वह यह है—

वालअ णाहं दूई तीए पिओ सि त्ति णम्हवावारो।
सा मरइ तुज्झ अयसो एअं धम्मक्खरं भणिमो॥

इसकी संस्कृत छाया यों है—

बालक नाहं दूती तस्याः प्रियोऽसीति नास्मद्व्यापारः।
सा म्रियते तवायश एतद् धर्माक्षरं भणामः॥

अर्थात् हे बालक, मैं दूती नहीं हूँ और 'तुम उसके प्रिय हो' यह हमारा धंधा भी नहीं है, किंतु 'वह मरती है और तुम्हारा अपयश है' इस तरह धर्म के अक्षर कह रही हूँ।

विरोधमूलक अलंकार—

विरोध अलंकार

लक्षण

ऐसी दो वस्तुओं का, जिनका एक आधार से संबद्धत्व प्रतिपादन किया गया हो, प्रतीत होनेवाला एक आधार से असंबद्धत्व, अथवा एक आधार से असंबद्धत्व का भान 'विरोध' कहलाता है।
(ऐसा भान भ्रममूलक भी हो सकता है अतः दूसरा लक्षण बताते हैं)

अथवा

एक अधिकरण में असंबद्धत्व से प्रसिद्ध दो वस्तुओं का एकाधिकरणसंबद्धत्व के रूप में प्रतिपादन 'विरोध' कहलाता है।

लक्षण का विवेचन

वह विरोध दो प्रकार का होता है—एक प्ररूढ, दूसरा अप्ररूढ। प्ररूढ विरोध उसे कहते हैं जो बाधक बुद्धि द्वारा अभिभूत न हो, उससे विपरीत (बाधबुद्धि से अभिभूत) को अप्ररूढ विरोध कहते हैं। उनमें से प्रथम विरोध दोष का विषय है और दूसरा अलंकार का। इसी कारण इसे विरोधाभास कहते हैं। आभास का अर्थ है 'कुछ भासित होनेवाला' अतः यह सिद्ध हुआ कि जो विरोध आरंभ में ही प्रतीत हो और तत्काल ही अविरोध की बुद्धि उत्पन्न हो जाने के कारण तिरस्कृत हो जाय उसे विरोधाभास कहते हैं। उस विरोध में से भी जो विरोधाभास कार्यकारणादि के ज्ञान से संवलित न हो उसे विरोधालंकार कहते हैं और यदि कार्यकारणादि के ज्ञान से युत हो तो वह विरोधालंकार नहीं कहलाता, किंतु आगे बताए जानेवाले विभावनादिरूप होता है।

विरोधालंकार के भेद

इस अलंकार के दस भेद होते हैं। कारण, सब पदों के अर्थ चार प्रकार के होते हैं—१ जाति २ गुण ३ क्रिया और ४ द्रव्य। उनमें से जाति का जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य चारों से, गुण का गुण, क्रिया और द्रव्य तीन से, क्रिया का क्रिया और द्रव्य इन दो से एवं द्रव्य का द्रव्य से, इस प्रकार (अपुनरुक्त दश भेद होते हैं)। यहाँ इतना और समझ लेना चाहिए कि यहाँ क्रिया शब्द से वैयाकरणों की तरह शुद्ध भावनामात्र अथवा नैयायिकों की तरह केवल स्पन्दनरूप क्रिया नहीं मानी जाती, किन्तु तत्तद् धातुओं से वाच्य विशिष्ट व्यापार को ही क्रिया कहा जाता है।

उदाहरण

कुसुमानि शरा मृणालजालान्यपि कालायसकर्कशान्यभूवन्।
सुदृशो दहनायते स्म राका भवनाकाशमथाभवत्पयोधिः॥

दूती कहती है—उस सुनयनी के लिए पुष्प बाण हो गए, मृणालों के समूह काले लोहे के समान कठोर हो गए, पूर्ण चन्द्रमावाली पूर्णिमा की चाँदनी रात आग की सी चेष्टा करती है और भवन का आकाश समुद्र हो गया है।

(यहाँ पुष्पत्व और बाणत्व दो जातियों का, मृणालत्व जाति और कठोरता रूप गुण का, पूर्णिमात्व जाति और आग की सी चेष्टा करना रूपी क्रिया का तथा पयोधित्व जाति और आकाश द्रव्य का विरोध है—इसी दृष्टि से आगे के उदाहरणों पर भी विचार करिए)।

यहाँ जाति आदि का विरोध प्रथमतः प्रतीत होने पर भी विरहिणी के दुःखजनक होने का विचार करने पर निवृत्त हो जाता है।

त्वयि दृष्टे त्वया दृष्टे भवन्ति जगतीतले।
महान्तोऽप्यणवो राजन्नणवश्च महत्तराः ॥

हे राजन्, तुम्हें देखने पर महान भी अणु हो जाते हैं और तुमसे देखे जाने पर अणु भी अत्यन्त महान हो जाते हैं।

(यहाँ 'महत्त्व' और 'अणुत्व' गुणों का विरोध है)

खलानामुक्तयो हन्त कोमलाः शीतला अपि।
हृदयानीह साधूनां छिन्दन्त्यथ दहन्ति च ॥

हाय ! खलों की उक्तियाँ कोमल और शीतल होने पर भी सत्पुरुषों के हृदयों को काट डालती और जला डालती हैं।

(यहाँ 'कोमलत्व' गुण का 'काटना' क्रिया से और 'शीतलत्व' गुण का 'दहन' क्रिया से विरोध है)

विचारिते महिमनि त्वदीये नित्यनिर्मले।
परमात्मन्गगनमप्याधत्ते परमाणुताम् ॥

हे परमात्मन्, नित्यनिर्मल आपकी महिमा का विचार करने पर आकाश भी परमाणुता को धारण करने लगता है।

(यहाँ 'आकाश' द्रव्य और 'परमाणुता' गुण का विरोध है।)

हर्षयन्ति क्षणादेव क्षणादेव दहन्ति च।
यूनः स्मरपराधीनान्निर्दया हन्त योषितः ॥

खेद है कि निर्दय कामिनियाँ कामके वशीभूत युवकों को क्षणभर में ही हर्षित कर देती हैं और क्षणभर में ही जला देती हैं।

(यहाँ 'हर्षित करना' क्रिया का 'जलाना' क्रिया से विरोध है।)

**कान्तारे विलपन्तीनां त्वदरातिमृगीदृशाम् ।
देवनानि समाकर्ण्य हरिद्भिरपि चुक्षुभे ॥**

दुर्गम मार्ग में विलाप करती हुई तुम्हारे शत्रुओं की स्त्रियों के विलापों का सुनकर दिशाएँ भी क्षुब्ध हो गईं ।

(यहाँ 'दिशा' रूपी द्रव्य से 'क्षोभ' रूपी क्रिया का विरोध है ।) इत्यादिक उदाहरण स्वयं तर्कित कर लेने चाहिए ।

यहाँ 'जाति आदि' यह उपलक्षण है, अतः 'धर्म मात्र' कहना अभीष्ट है, इसलिए 'यः किल बालकोऽपि पुराणपुरुषः—जो बालक होने पर भी सबसे पुराना पुरुष है', 'विशुद्धमूर्तिरपि नीलाम्बुदनिभः—शुद्धमूर्ति वाले होने पर भी नीलमेघ की सी कान्ति वाले हैं', 'जगद्धितकृदपि जगदहितकृत्—जगत् के हितकारी होने पर भी जगत् के अहित करने वाले हैं' (वस्तुतः जगत् के शत्रुओं को काटने वाले हैं) और 'अगोद्धारकोऽपि नागोद्धारकः—जो पर्वत के उठाने वाले होने पर भी पर्वत के उठाने वाले नहीं हैं (वस्तुतः कालिय अथवा कुवलयापीड़ के उद्धारकर्ता हैं') इत्यादिक में सखंड उपाधि और अभाव का भी ग्रहण हो जाता है ।

वस्तुतः दो ही भेद

वस्तुतः तो जाति-आदि भेदों के चमत्कारी न होने के कारण विरोधाभास अलंकार शुद्ध और श्लेषमूलक इस तरह दो प्रकार का ही समझना चाहिए ।

एक शंका

आप कहेंगे कि 'हितकृदप्यहितकृत्' और 'अगोद्धारकोऽपि नागोद्धारकः' इत्यादि में विरोध का तो प्रतिभान मात्र होता है, अलंकार तो

श्लेष ही है, क्योंकि अपने विषय में प्रायः श्लेष सभी अलंकारों का अपवाद हो जाता है, तो यह कवि सुनता है (जिसे इसका पता है कि श्लेष अन्य अलङ्कारों का अनुग्राहक होता है, अपवाद नहीं)

विरोध के विषय में विचार

(१) यहाँ यह समझना चाहिए कि—जहाँ 'अपि' आदि विरोध का द्योतक शब्द हो वहाँ शाब्द विरोध होता है और अन्यत्र आर्थ विरोध होता है'—यह प्राचीनों का सिद्धांत है। यहाँ 'शाब्द' पद से यदि यह अर्थ लिया जाय कि 'जो विरोध शब्दकरणक (शब्द द्वारा प्रतीत) हो', तो विरोध के विषय में यह बात घटित नहीं होती, क्योंकि 'त्रयोऽप्यत्रयः' इत्यादिक में जो विरोध प्रतीत होता है उसका नियत विशेषण, विशेष्य और संसर्ग इन तीनों में से किसी में भी समावेश नहीं होता।

कहने का अभिप्राय यह है कि—जिस तरह 'हितकृदप्यहितकृत्' यहाँ जिस व्यक्तिरूप आधार में 'हितकृत्त्व' धर्म रहता है उसमें 'अहित-कृत्त्व' रूप धर्म नहीं रह सकता—अर्थात् 'हितकृत्' का विशेषण 'अहितकृत्' नहीं हो सकता—इस विरोध को 'अपि' शब्द द्योतित करता है वह बात 'त्रयोऽप्यत्रयः' इस उदाहरण में नहीं है, क्योंकि 'त्रयः' के साथ 'अत्रित्व' का किसी एक अधिकरण में रहना विशेषण, विशेष्य अथवा संसर्ग किसी रूप में नहीं, 'अत्रित्व' तो 'त्रित्व' का प्रतियोगी मात्र है।

इसका उत्तर यदि आप यह दें कि 'एक आधार में न रहने' की तरह 'एक का प्रतियोगी होना' भी विरोध है और इस तरह प्रस्तुत उदाहरण में 'नञ्' के अर्थ और उसके उत्तर पद के अर्थ का प्रति-योगिता संसर्ग होने से इस विरोध का संसर्ग में ही समावेश हो जाता

है। तो यह भी ठीक नहीं। कारण, 'सुप्तोऽपि प्रबुद्धः—सोया हुआ भी जगा हुआ + सोया हुआ भी प्रकृष्ट ज्ञानवान्' इत्यादि में जो विरोध है उसका समावेश फिर भी नहीं होता, क्योंकि सुप्त पुरुष 'सुप्तत्व के विरुद्ध प्रबुद्धत्व धर्म से युक्त से अभिन्न' यह शाब्दबोध अनुभव सिद्ध नहीं है, जिससे कि लक्षणा-आदि की कुसृष्टि का प्रयत्न करें।

इसके विषय में प्राचीनों की ओर से यह कहा जाता है कि 'सुप्तोऽपि प्रबुद्धः' 'त्रयोऽप्यत्रयः' इत्यादि विरोध के उदाहरणों में दो शब्दों के द्वारा प्रथमतः 'सुप्तत्व' और 'जागरितत्व' रूप दोनों धर्मों की उपस्थिति हो जाने के अनन्तर उन दोनों धर्मों के संबंधी (जो एक है) के ज्ञान से 'अपि' शब्द की सहायता द्वारा उन धर्मों में रहने वाले विरोध का भी स्मरण हो आता है। उसके बाद प्रतिबन्धक ज्ञान की सामग्री के बलवान् होने के कारण 'ये दोनों धर्म विरुद्ध हैं' इसतरह मानस अथवा व्यञ्जना-सम्बन्धी विरोध का बोध हो जाने पर उस विरोध के द्वारा रुकावट के कारण सुप्त और जागरित के अभेद की बुद्धि उत्पन्न नहीं होती, अतः दूसरी शक्ति द्वारा प्रकटित दूसरे अर्थ को लेकर अन्वय का बोध होता है, न कि विरुद्ध अर्थ को लेकर। इसतरह (अर्थज्ञान के समय) विरोध के बोध का मूल शिथिल हो जाने के कारण निवृत्त होता हुआ भी विरोध का बोध कवि के संरम्भ का विषय होने से चमत्कार का कारण हो जाता है। यह है प्राचीनों के सिद्धांत का सार।

किन्तु नवीनों का कहना है कि—दो अर्थों के प्रादुर्भाव के बिना विरोधाभास का संभव ही नहीं। हाँ, यह सत्य है कि उन दोनों अर्थों में से एक अर्थ विरोध को उल्लसित करता है और दूसरा अर्थ अन्वय-बोध का विषय होता है, परन्तु जो दूसरा अन्वयबोध का विषय बनता है उसमें विरोध के उल्लसित करने वाला अर्थ 'भेद होने पर भी श्लेष

के आधार पर अभेदाध्यवसाय होता है' इस पूर्वोक्त रीति से अभिन्न के रूप में भासित होता है, और इसतरह विरोधरहित द्वितीय अर्थ को लेकर अन्वयबोध हो जाने पर भी अपने आधारभूत विरुद्ध अर्थ के संपूर्णतया निबृत्त न होने के कारण सांस लेते हुए अधमरे के समान विरोध भी दूसरे मानस बोध में आ जाता है और इसीलिए वह चमत्कारी कहलाता है, क्योंकि सम्पूर्णतया निबृत्त वस्तु चमत्कार उत्पन्न नहीं कर सकती और चमत्कारजनक न होने पर अलंकार नहीं कहला सकता इसलिए यह मानना चाहिए कि न तो विरोध के बोध का मूल अत्यन्त शिथिल ही होता है और न उसकी सर्वथा निबृत्ति ही होती है।[1]

१—यहाँ नागेश कहते हैं कि 'सुप्तोऽपि प्रबुद्धः' इत्यादि में समानाधिकरण विभक्तियों (दोनों प्रथमाओं) के अर्थों (प्रतिपदिकार्थों) का अभेद संबंध है और 'अपि' शब्द के द्वारा द्वितीय पदार्थतावच्छेदक (प्रबुद्धत्व) में प्रथम पदार्थतावच्छेदक (सुप्तत्व) का विरुद्धत्व द्योतित किया जाता है। ऐसी स्थिति में दो गमक (अभेद और विरोध) होने से और प्रकरणादि नियामक के अभाव से ('प्रबुद्ध' पद के) दोनों अर्थ (जागरितत्व और प्रकृष्टज्ञानाश्रयत्व) एकसाथ प्रतीत होते हैं। उनमें से अभेद वाला वाक्यार्थ मुख्य है, अतः श्लेष के आधार पर होने वाले विरुद्धार्थ के साथ अभेदाध्यवसाय द्वारा (उसकी प्रतीत अर्थ में विशेष्यता है और) विरुद्धार्थ की उसमें विशेषणता है—यह उचित है। सो इस तरह 'सुप्तोऽपि प्रबुद्धः' इस वाक्य का शाब्दबोध 'स्वापविरुद्धजागरणाभिन्नविशिष्टज्ञानाश्रयः' यह होता है। किंतु जहाँ 'अपि' शब्द का अभाव हो वहाँ प्रथमतः शब्दों का अन्वयबोध हो जाने पर सहृदयतावश द्वितीय अर्थ की उपस्थिति होने पर विरहादिउद्बोधक के सहकार से 'एक संबंधी का ज्ञान अपर संबंधी का स्मारक

कहा जायगा कि इतने पर भी 'अपि' शब्द आदि (विरोध वाचक शब्द) के प्रयोग में शाब्द विरोध भासित होता है' यह कथन संगत नहीं होता, क्योंकि वैयाकरणों के सिद्धांत में निपातों में शक्ति (वाचकता) स्वीकार नहीं की गई है—ऐसी स्थिति में 'अपि' शब्द को विरोध-वाचक कैसे माना जाय। तो इसका उत्तर यह है कि निरूढलक्षणा की तरह निरूढ द्योतना भी शक्ति के ही समकक्ष है।

भेदों के विषय में एक शंका और उसका उत्तर

यहाँ यह शंका की जा सकती है कि जाति का जाति के साथ और द्रव्य का द्रव्य के साथ विरोधालंकार नहीं हो सकता, क्योंकि इसके उदाहरण "कुसुमानि शराश्चंद्रो बाडवो दुःखिते हृदि—दुखित हृदय में पुष्प बाण और चद्रमा अग्नि है" इत्यादि में आरोपमूलक रूपक का ही उल्लास होता है, विरोध का नहीं। और यदि वह आरोप होने पर भी विरोधाभास कहा जाय तो 'मुखं चंद्रः' इत्यादिक में भी विरोधाभास ही कहिए। इसका उत्तर यदि आप यह दें कि 'सभी रूपक का विषय विरोध से आक्रांत है, इस कारण रूपक का कोई विषय ही नहीं रहेगा, इसलिए गुणादि में सावकाश 'विरोध' का रूपक अपने विषय में अपवाद हो जाता है—अर्थात् जहाँ रूपक का विषय हो वहाँ विरोध नहीं माना जाना चाहिए।' तो यह ठीक नहीं, क्योंकि तब तो 'कुसुमानि शराः—पुष्प बाण हैं', 'मृणालवलयादि दवदहनराशिः—मृणाल वलय आदि दावानल की राशि है' 'चन्द्रो बाडवः—चंद्रमा बडवानल है' और 'शंकरचूडापगा कालिंदी—शिव जी के शिर की नदी (गंगा)

होता है' इस रीति से उपस्थिति होने पर व्यंजना के द्वारा ही वैसा बोध होता है। अतएव कहा जाता है कि 'अपि' शब्द के अभाव में विरोध व्यंग्य होता है।

कालिंदी है' इत्यादिक में आपका अभीष्ट 'विरोध' सिद्ध न हो सकेगा अर्थात् इनको भी रूपक का ही उदाहरण मानना होगा। तो यह सच है, किंतु यह जानना चाहिए कि यहाँ अलंकारवर्ग में, जहाँ जो अलंकार सहृदयों के चमत्कार के मार्ग में अवतीर्ण होता है वहाँ वही अलंकार समझा जाता है, यह बात निर्विवाद है। ऐसी दशा में यद्यपि 'मुखचंद्र' इत्यादि रूपक में विरोध है तथापि उसका प्रतिपादन वहाँ अभीष्ट नहीं, किंतु चंद्रमा में रहने वाले आह्लादकता आदि सब गुणों की मुख में प्रतीति होने के लिये चंद्रमा का अभेद ही अभीष्ट है, इसलिये वही चमत्कारी है, विरोध नहीं। प्रत्युत विद्यमान भी विरोध विवक्षित अर्थ की अनुकूलता के अभाव से दूषित है, इसलिए वह अलंकार नहीं है। केवल विद्यमानता कुछ नहीं कर सकती।

रही 'कुसुमानि शराः' इत्यादिक की बात। सो ऐसे स्थलों में विरहिणी आदि की अवस्था के अत्यद्भुतत्व का कथन अभीष्ट है इसलिये उसकी अनुकूलता के लिये अंतर्गर्भित होने पर भी अर्थप्राप्त विरोध उल्लसित होता है इसलिये वही अलंकार है।

अब यदि आप कहें कि रूपक के स्थल में विरोध के अविवक्षित होने के कारण वह अलंकार नहीं हो सकता तो भले ही नहीं हो, किंतु 'कुसुमानि शराः' इत्यादिक विरोधस्थलों में विरोध के उठाने के लिये अभेद की विवक्षा है ही, इसलिये वहाँ तो रूपक होने ही लगेगा तो इसका उत्तर यह है कि रूपक के लक्षण में 'विरोध की विवक्षा से युक्त न हो' इतना और बढ़ा देना चाहिए। अथवा, यहाँ जो अभेद है वह केवल विरोध के उठाने के लिये स्वीकार किया गया है, अतः चमत्कारी न होने के कारण विरोध के स्थल पर रूपकालंकार मानना अयोग्य है, क्योंकि सभी अलंकारों के लक्षणों में अथवा अलंकारों के सामान्य लक्षण में 'चमत्कारित्व' कहा जा चुका है।

किंतु यदि विरहिणी—आदि की अवस्था का 'अत्यद्भुत होना' आदि विवक्षित न हो और 'अपि' का अर्थ भी अंतर्गत न किया गया हो, किंतु 'कुसुमानि शराः' इत्यादिक में 'पीडाजनकत्व' और 'शंकर चूडापगा कालिंदी' इत्यादिक में 'श्यामता' आदि का अतिशय मात्र कहना अभीष्ट हो तो यहाँ रूपक ही होगा।

इसी तरह यदि किसी नगर की स्थिति की अद्भुततामात्र बताना हो और यह लिखा जाय कि 'जहाँ नारियों का मुख (ही) चंद्रमा है' तो वहाँ विरोधाभास ही है—यह समझना चाहिए।

आप कहेंगे कि जिस तरह 'सुप्तोऽपि प्रबुद्धः' इत्यादिक में एक अर्थ के द्वारा विरोध उठाया जाता है और दूसरे के द्वारा उसकी निवृत्ति हो जाती है। इसी तरह 'गङ्गायां घोषः' 'मञ्चाः क्रोशन्ति' 'कुन्ताः प्रविशन्ति' इत्यादिक में भी वाच्य अर्थ से विरोध का उत्थान होता है और लक्ष्य अर्थ से उसकी निवृत्ति हो जाती है, इसलिये वहाँ भी विरोधाभास का प्रसंग होगा। यदि इसका उत्तर आप यह दें कि दृष्टांत ('कुसुमानि शराः' आदि) में विरोध के उठानेवाले और निवृत्त करने वाले दोनों अर्थों की शक्ति (अभिधा) द्वारा ही उपस्थिति होती है, किंतु दार्ष्टान्तिक (गंगायां घोषः आदि) में उन दोनों की उपस्थिति भिन्न भिन्न वृत्तियों द्वारा होती है—यह विलक्षणता है, अतः यहाँ विरोधाभास नहीं माना जा सकता। तो यह कोई बात नहीं, क्योंकि विलक्षणता होने पर भी तुम्हारे बनाए विरोधाभास के लक्षण की अतिव्याप्ति का निवारण नहीं होता।

इसका उत्तर यदि आप यह दें कि लक्षण में 'विरोध के उठाने वाले और निवृत्त करने वाले का एक वृत्ति से ज्ञात होना अथवा एकजातीय वृत्ति से ज्ञात होना' कहना अभीष्ट है। तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर 'कुसुमानि शराः' इत्यादिक में प्राचीनों की रीति

से लक्षण की अव्याप्ति होगी (क्योंकि प्राचीनों के मत में विरोध का बोध मानस अथवा व्यंजनाजन्य होता है, देखिए पृष्ठ १३१) अतः इसका एकमात्र यही उत्तर है कि यहाँ (गंगायां घोषः आदि में) विरोध के प्रतीत होने पर भी वह कवि के संरंभ का विषय न होने के कारण चमत्कारी नहीं है (और जो चमत्कारी न हो वह अलंकार होता ही नहीं यह बार बार कहा जा चुका है)।

कुवलयानंद का खण्डन

इस विरोध अलंकार का कुवलयानन्दकार ने ऐसा उदाहरण भी दिया है जिसमें उत्प्रेक्षा की प्रधानता है; जैसे—

प्रतीपभूपैरिव किंततो भिया विरुद्धधर्मैरपि भेत्तृतोज्झिता।
अमित्रजिन्मित्रजिदोजसा स यद्विचारदृक्चारदृगप्यवर्तत ॥

नैषधीयचरित में राजा नल का वर्णन है। कवि कहता है कि क्या उसके डर के मारे शत्रु राजाओं की तरह विरुद्ध धर्मों ने भी भेद-कता (कटधनापन+भिन्न होना) छोड़ दी है, क्योंकि वह (पराक्रम के कारण) 'अमित्रजित्' (शत्रुओं को जीतनेवाला) होने पर भी तेज के कारण 'मित्रजित्' (सूर्य को जीतने वाला) है, 'चारदृक्' (जासूसों के द्वारा देखने वाला) होने पर भी 'विचारदृक्' (चारों के द्वारा न देखने वाला + विचार से देखने वाला) था।

इस पर विचार करिए कि 'जहाँ विरोध की प्रतीति के अनंतर अन्य अर्थ की प्रतीति द्वारा विरोध का समाधान हो वहाँ विरोधाभास माना जाता है' जैसे कि—'रिपुराजि-रस-भाव-भञ्जनोप्यरिपुरा-जिर-सभा-ऽव्रभञ्जनः (जो शत्रुओं की पंक्ति के रसों और भावों का भग करने वाला होने पर भी शत्रुओं के पुरांगण में होने वाली सभा का भंग करने वाला था) इत्यादिक में। किंतु आपके उदाहरण में तो विरोध

के समाधानरूप में सबसे आगे (प्रथम) स्थित उत्प्रेक्षा ने विरोध के उत्थान को ही भङ्ग कर दिया है। तब जो विरोध उठ ही नहीं रहा है वह चमत्कारमूलक अलंकाररूपता को कैसे प्राप्त कर सकता है।

विरोधालंकार समाप्त

विभावना अलङ्कार

लक्षण

कारण के व्यतिरेक (निषेध) के साथ प्रतिपादन की जानेवाली कार्य की उत्पत्ति विभावना कहलाती है।

लक्षण का विवेचन

जैसा कि लिखा है कि

"क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना-अर्थात् क्रिया (हेतु) के निषेध होने पर भी फल के प्रकाशन को विभावना कहा जाता है।" (काव्यप्रकाश)

यहाँ 'क्रिया' शब्द से कारण कहना अभीष्ट है। यहाँ कारण के व्यतिरेक के साथ कार्य की उत्पत्ति लिखे जाने पर ऊपरी तौर पर विरोध दिखाई देने पर भी उससे भिन्न कारण की कल्पना द्वारा निवृत्त हो जाता है।

उदाहरण—

विनैव शस्त्रं हृदयानि यूनां विवेकभाजामपि दारयन्त्यः।
अनन्तमायामयवल्गुलीला जयन्ति नीलाब्जदलायताक्ष्यः॥

संसार में अनन्त मायामय मनोहर लीलाओं से युक्त नीलकमल-दल के समान विशाल नेत्रों वाली कामिनियाँ सर्वोत्कृष्ट हैं, जो बिना ही शस्त्र के विवेकयुक्त भी युवा पुरुषों के हृदयों को विदीर्ण करती रहती हैं।

यहाँ काटने का कारण शस्त्र है उसके अभाव में भी लिखा गया काटना ऊपर से विरुद्ध प्रतीत होने पर भी 'कामिनियों के विलास रूप कारण से विदारण' के रूप में पर्यवसित हो जाता है।

आप कहेंगे कि यहाँ जिस कार्य की उत्पत्ति वर्णन की जाती है उसके कारणरूप में प्रतीत होने वाली वस्तु का व्यतिरेक (निषेध) प्रतीत नहीं होता और जिसके कारण का व्यतिरेक (निषेध) प्रतीत होता है उसके कार्य की उत्पत्ति का वर्णन प्रतीत नहीं होता। यहाँ 'विदीर्ण करने' द्वारा एक प्रकार की पीडा (कामपीडा) कहना अभीष्ट है, न कि 'दो टुकड़े कर देना' और शस्त्र 'कामपीड़ा' का कारण नहीं है, किंतु 'दो टुकड़े कर देने' का कारण है, अतः यह आप का लक्षण ठीक नहीं। इसका उत्तर यह है—'विदीर्ण करने' शब्द का मुख्य अर्थ है 'दो टुकड़े कर देना' और 'काम आदि से जनित एक प्रकार की पीड़ा' गौण (लाक्षणिक) अर्थ है। उन गौण और मुख्य 'विदीर्ण करने' रूपी कार्यों का 'सादृश्यमूलक अभेदाध्यवसानरूपी अतिशय' के द्वारा भेद स्थगित हो जाने पर यद्यपि शस्त्र 'दो टुकड़े कर देने' का कारण है तथापि वह 'कामपीड़ा' का कारण भी हो जाता है। ऐसी स्थिति में उसका अभाव होने पर भी, यतः यहाँ कार्य (दो टुकड़े

करने) से अभिन्न रूप में अध्यवसित 'एक प्रकार की पीड़ा' का वर्णन किया गया है अतः उक्त दोष नहीं रहता।

सो इस तरह यह सिद्ध हुआ कि इस अलंकार में सभी जगह कार्य के अंश में अभेदाध्यवसानरूप अतिशयोक्ति अनुप्राणक के रूप में स्थित रहती है—अर्थात् कार्यांश में अतिशयोक्ति से रहित विभावना होती ही नहीं। अतः यों समझना चाहिए कि जिस तरह पेड़ा के अंदर वस्तुतः—चीनी और खोआ-दो वस्तुएं समान रूप में रहती हैं तथापि जब वे एक होकर पेड़ा बन गई तब यह कहा जा सकता है कि 'बिना खोआ के पेड़ा कैसे बन सकता है', यद्यपि पेड़ा केवल खोआ से नहीं बनता, क्योंकि पेड़ा में जो दो वस्तुएँ समान परिमाण में हैं उनमें से खोआ तो केवल एक वस्तु है, उसी प्रकार विभावना का कार्यांश, यद्यपि वास्तविक कार्य (द्विधाभावन आदि) और अतिशयोक्ति से अभेदरूप में अध्यवसित कार्य (कामपीड़ादि) जब अभेदाध्यवसान द्वारा एकरूप हो जाते हैं तब बनता है, तथापि उन दोनों के एक अंश से संबंध रखने वाले 'कारण' के अभाव के साथ दूसरे अंश को भी लेकर पर्यवसान होता है; अतः 'अतिशयोक्ति वाले कार्यांश की भी उत्पत्ति बिना कारण के' बन जाती है।

यहाँ कार्यांश 'कारण के अभाव रूप' विरोधी द्वारा बाध्य के रूप में ही स्थित है, बाधक रूप में नहीं; क्योंकि कार्यांश (पूर्वोक्तरीति से) कल्पित है और कारण का अभाव स्वभावसिद्ध है। इसी कारण कार्यांश (मिश्रित होने पर भी) रूपांतर (मुख्यकार्य के रूप) में पर्यवसित हो जाता है और इसी कारण से इस अलंकार को विरोधालंकार से विलक्षणता है, क्योंकि उसमें दो समान बल वाले विरोधियों का वर्णन रहता है, पर यहाँ ऐसा नहीं है।

जैसा कि कहा भी गया है—

**"कारणस्य निषेधेन बाध्यमानः फलोदयः ।
विभावनायामाभाति विरोधोऽन्योन्यबाधनम् ॥**

अर्थात् विभावना में कारण के निषेध द्वारा फल (कार्य) का उदय बाध्यमान प्रतीत होता है और विरोध है परस्पर बाधित होना ।"

अतिशयोक्ति की अनुप्राणकता पर विचार

अब यदि यह कहा जाय कि विभावना में सर्वत्र अतिशयोक्ति अनुप्राणिका नहीं होती, किंतु कहीं होती है, जैसे कि काव्यप्रकाशोक्त विभावना के निम्नलिखित उदाहरण मे—

**"निरुपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते ।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने ॥**

बिना ही भित्ति के और बिना उपादान की सामग्री के जगत्‌रूपी चित्र बनने वाले कला में प्रशंसनीय शिवजी को नमस्कार ।"

अध्यवसानमूलिका अतिशयोक्ति अनुप्राणिका नहीं है ।

कहा जायगा कि 'कारण के अभाव में असम्भव कार्य की उत्पत्ति किसी विशेष अभिप्राय से कवि के द्वारा वर्णन किए जाने पर' विभावना कहलाती है। सो वह बात उक्त उदाहरण में नहीं है, क्योंकि ईश्वर के द्वारा जगत् की उत्पत्ति किसी अन्य उपादान के अभाव में असंभव नहीं है, जिससे कि 'विभावना' हो सके। कारण, **"नासदासीत्**—कारण नहीं था", **"सदेव सौम्येदमग्र आसीत्**—हे सौम्य, यह जगत् आगे सद्रूप ही था", **"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्**—सबसे पहले यह (जगत्) एक आत्मरूप ही था", **"असद्वा इदमग्र आसीत्ततो वै सदजायत**—सबसे पहले यह असत् (कारणरूप) था उससे सत् (कार्य) पैदा हुआ", इत्यादिक श्रुतियों से और **"अहमेवासमेवाग्रे**

नान्यद्यत्सदसत्परम्—भगवान् कहते हैं कि आगे केवल मैं ही था—सत् असत् या इससे परे कुछ नहीं था" (श्रीमद्भागवत) इत्यादिक स्मृतियों से सृष्टिकाल में भगवान् के अतिरिक्त सभी वस्तुओं का निषेध ज्ञात होता है। इस कारण यहाँ विभावना की ही संभावना नहीं है फिर अतिशयोक्ति से अनुप्राणित होने की शंका ही क्या? अतः यहाँ अतिशयोक्ति से अनुप्राणितता का व्यभिचार है।

इस शंका का समाधान यह है कि भगवान् से केवल जगत् की उत्पत्ति होना यहाँ कवि को अभिप्रेत नहीं है, जिससे कि बिना अन्य उपादान के भी भगवान् से जगत् की उत्पत्ति हो सकने के कारण असंभव-मूलक विभावना न हो सके, किंतु जगद्रूपी चित्र की उत्पत्ति। और चित्र की उत्पत्ति केवल चित्र के उपादान स्याही-हरताल आदि और आधारभूत भित्ति आदि के अभाव में केवल आकाश के ही रहने पर नहीं हो सकती। अतः असंभव होना जग ही रहा है। और वह चित्र की उत्पत्ति का असंभव होना चित्र के जगद्रूप में अनुसंधान करने पर जगत् रूपी चित्र के कारण और जगत् रूपी चित्र के आश्रय के व्यतिरेक को लेकर-अर्थात् वास्तव में इस चित्र का न कोई कारण है न आश्रय, अतः निवृत्त हो जाता है। इसलिए 'निरुपादानसंभारम्' इस उदाहरण में विभावना मानने में कोई बाधा नहीं। ऐसी स्थिति में 'विभावना सर्वत्र अतिशयोक्ति से अनुप्राणित होती है' इस कथन का व्यभिचार हो जाता है।

अतः अलंकारसर्वस्वकार ने जो यह लिखा है कि "विभावनायां सर्वत्रातिशयोक्तिरनुप्राणिका—विभावना में सब जगह अतिशयोक्ति अनुप्राणिका होती है" यह परास्त हो जाता है और विमर्शिनीकार ने जो यह लिखा है कि "निरुपादानसंभारम् इत्यत्र विभावनाया एवा-भावात्कुत्र व्यभिचारः—उक्त पद्य में विभावना का ही अभाव होने से

व्यभिचार कहाँ है ?" इसका भी उत्तर दिया जा चुका है। (अतः यह समस्या फिर भी उपस्थित ही रहती है कि 'विभावना में अतिशयोक्ति सर्वत्र अनुप्राणिका नहीं होती'।)

इस विषय में हमारा कथन है कि विभावना में चाहे सर्वत्र अतिशयोक्ति अनुप्राणिका न भी हो, किंतु अहार्याभेदबुद्धिमात्र तो सर्वत्र अनुप्राणक है ही। यह दूसरी बात है कि वह आहार्याभेदबुद्धि कहीं अतिशयोक्ति के द्वारा होती है और कहीं रूपक के द्वारा। इसलिए कोई दोष नहीं।

कुवलयानन्दकार का खण्डन

कुवलयानंदकार ने छः प्रकार की विभावनाएँ मानी हैं— "(१) कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति, (२) कारणों के समग्र न होने पर कार्य की उत्पत्ति, (३) प्रतिबंधक होने पर भी कार्य की उत्पत्ति, (४) जो कारण न हो उससे कार्य की उत्पत्ति (५) विरुद्ध वस्तु से कार्य की उत्पत्ति और (६) कार्य से कारण की उत्पत्ति; तथा इनके क्रमशः ये उदाहरण दिये हैं—

(१) "अप्यलाक्षारसासिक्तं रक्तं तन्व्याः पदाम्बुजम्।

कृशाङ्गी का चरणकमल लाक्षारस न लगाने पर भी लाल है।"

(२) "अस्त्रैरतीक्ष्णकठिनैर्जगज्जयति मन्मथः।

कामदेव भोटे और कठोर अस्त्रों से जगत् का विजय करता है।"

(३) "सातपत्रं दहत्याशु प्रतापतपनस्तव।

आपका प्रतापरूपी सूर्य छत्रधारी को शीघ्र जलाता है।"

(४) "शङ्खाद्वीणानिनादोऽयमुदेतिमहदद्भुतम्।

अत्यन्त अद्‌भुत है कि यह वीणा का निनाद शङ्ख से उत्पन्न हो रहा है।”

(५) “शीतांशोः किरणाहन्त दहन्ति सुदृशो दृशौ।

खेद है कि चन्द्रमा के किरण सुनयनी के नयनों को जला रहे हैं।”

(६) “यशःपयोधिरभवत्करकल्पतरोस्तव।

आपके हाथरूपी कल्पवृक्ष से यशरूपी समुद्र उत्पन्न हुआ।”

इस विषय में हमें यह कहना है कि—आप जो ‘प्रतिबंधक होने पर कार्योत्पत्ति को तृतीय और बिना कारण से कार्योत्पत्ति को चतुर्थ’ इत्यादि कहकर विभावना के भेदों को गिना रहे हैं, इससे यह सिद्ध होता है कि ‘बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति’-यह (जो आपने प्रथम-भेद बताया है वह) भी विभावना का एक भेद ही है, क्योंकि यदि ऐसा न मानो तो उक्त भेदों की तृतीय-चतुर्थादि भेद कहना नहीं बनता और यदि ऐसा मानते हैं तो प्रश्न होता है कि जैसे “सादृश्य-मुपमा भेदे—भेद होने पर सादृश्य को उपमा कहते हैं” “तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः—उपमान और उपमेय के अभेद को रूपक कहते हैं” इत्यादि लक्षणों से लक्षित सामान्य उपमा सामान्य रूपक आदि के ‘पूर्णा’ आदिक और ‘सावयव’ आदिक भेद कहे गए हैं इस तरह यहाँ सामान्यविभावना का लक्षण क्या है? जिस लक्षण से लक्षित सामान्य विभावना के आपके बताए हुए ये प्रकार सिद्ध हो सकें।

यदि आप कहें कि ‘कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति’ यह सामान्य लक्षण है। तो यह उचित नहीं, क्योंकि आपने इसको भी प्रकारों के अन्दर ही गिना दिया है, अतः यह भी एक प्रकार ही हुआ—सामान्य लक्षण नहीं।

अब यदि आप यह कहें कि अतिशयोक्ति आदि के समान 'उक्त सकल प्रकारों में से कोई एक होना' यह सामान्य लक्षण तर्कित कर लेना चाहिए। तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा करने पर भी प्रथम प्रकार से द्वितीय प्रकार की विलक्षणता कठिनता से ही सिद्ध हो सकेगी। कारण यह है कि 'कारण के अभाव में भी कार्य की उत्पत्ति' यहाँ पर 'कारणतावच्छेदक संबंध से कारणतावच्छेदक से अवच्छिन्न (अर्थात् सभी प्रकार के) कारण का अभाव' ही कहना अभीष्ट है, क्योंकि असमग्र कारण को पृथक् स्वीकार करने की अपेक्षा इस विवक्षा में ही लाघव है। इसी तरह प्रतिबंधक भी कारण का अभाव रूप ही है, क्योंकि प्रतिबंधकाभाव कारण ही तो है। इसलिए तृतीय भेद में भी कोई विलक्षणता नहीं रहती। चौथे भेद में भी अर्थतः कारणाभाव आ जाता है, क्योंकि 'यह वीणा का शब्द शङ्ख से हो रहा है' यह कहने पर 'वीणा के बिना ही वीणा का निनाद' हो रहा है यही प्रतीत होती है, अतः इन दोनों कथनों में कोई विलक्षणता नहीं है। (इसी प्रकार पञ्चम 'विरुद्ध' और षष्ठ 'कार्य' भी कारण से व्यतिरिक्त ही हैं) अतः प्रथम प्रकार से ही अन्य सब प्रकारों के व्याप्त होने के कारण छः प्रकार की विभावना है यह कहना अनुपपन्न ही है।

इतने पर भी यदि किसी प्रकार कुवलयानंद के कथन का समर्थन करना ही चाहिए—यह आग्रह हो तो इस तरह समर्थन करिए। आप कहिए कि 'कारण के बिना कार्य का जन्म' (जो ऊपर से समझना चाहिए) यह विभावना का सामान्य लक्षण है और यह विभावना प्रथमतः दो प्रकार की है—(१) शाब्दी (जहाँ शब्द द्वारा कारण के अभाव का प्रतिपादन हो) और (२) आर्थी (जहाँ कारण का अभाव अर्थ से प्रतीत हो)। उनमें से शाब्दी विभावना तीन प्रकार की है (१) प्रतिबंधक से अतिरिक्त कारणवस्तु के अभाव की उक्तिपूर्वक—अर्थात् जिसमें कारण के अभाव का प्रतिबंधक के रूप में वर्णन न

होकर कारणरूप वस्तु के अभाव का वर्णन हो (जैसा प्रथम भेद में है) (२) कारण वस्तु के विद्यमान होने पर भी कारणतावच्छेदक धर्म और कहीं-कहीं कारणतावच्छेदक संबंध से अवच्छिन्न होने में जिसकी विकलता (कमी) के कारण कार्य का अभाव हो उसकी विकलता की उक्तिपूर्वक अर्थात् कारणवस्तु का वर्णन होने पर भी उसमें कुछ त्रुटि होना (जैसा द्वितीय भेद में है)। यहाँ 'जिस' शब्द से कारणता-वच्छेदक धर्म और कहीं कारणतावच्छेदक संबंध समझना चाहिए। (३) प्रतिबंधक की उक्तिपूर्वक—अर्थात् कार्य में रुकावट डालने वाले के रहते हुए भी कार्य की उत्पत्ति। इसी तरह आर्थी विभावना भी तीन प्रकार की है (१) प्रस्तुत कार्य (जैसे वीणानिनाद) के सजातीय अन्य किसी कार्य (शङ्खनाद) के कारण (शङ्ख) से प्रस्तुत कार्य (वीणानिनाद) की उत्पत्ति अथवा (२) प्रस्तुत कार्य (जैसे दाह) से विरुद्ध कार्य (शीतलता) के कारण (शीतांशु) से प्रस्तुत कार्य (दाह) की उत्पत्ति किंवा (३) अपने (जैसे पयोधि के) कार्य (कल्पवृक्ष) से ही प्रस्तुत कार्य (पयोधि) की उत्पत्ति। इसी अभिप्राय से 'अकारण से कार्य का जन्म' इत्यादिक (चतुर्थ, पंचम और षष्ठ विभावना के प्रकारों का वर्णन) है।

विभावना के भेद

यह विभावना दो प्रकार की है (१) उक्तनिमित्ता और (२) अनुक्तनिमित्ता।

उनमें से अनुक्तनिमित्ता विभावना "विनैव शस्त्रं" इस पूर्वोक्त उदाहरण में दिखाई जा चुकी है; क्योंकि वहाँ काम-पीड़ा के उत्पादक विलासों (स्त्रियों के हावभाव) रूपी (हृदयविदारक) निमित्तों का वर्णन नहीं किया गया है।

उक्तनिमित्ता; जैसे—

यदवधि विलासभवनं यौवनमुदियाय चन्द्रवदनायाः।
दहनं विनैव तदवधि यूनां हृदयानि दह्यन्ते॥

जब से विलासों का भवन चंद्रमुखी का यौवन उदित हुआ तब से तरुणों के हृदय बिना ही अग्नि के जलते रहते हैं।

इस उदाहरण में वर्णित 'यौवन' में दाह की कारणता पर्यवसित होती है—अर्थात् यहाँ तरुणों के हृदयदाह के निमित्त 'यौवन' का वर्णन है।

अलंकारसर्वस्व पर विचार

और जो अलंकारसर्वस्वकार आदिकों ने लिखा है कि—

"असंभृतं मण्डनमङ्गयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य।
कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परं साथ वयः प्रपेदे॥

इसके अनंतर पार्वती ने शैशव से आगे की अवस्था (यौवन) प्राप्त की, जो शरीर का असंभृत (बिना सामग्री के—स्वाभाविक) भूषण है और आसव (मद्य) नाम न होते हुए भी मद का साधन है और पुष्पों (जो कामदेव के अस्त्ररूप में प्रसिद्ध हैं) के अतिरिक्त कामदेव का अस्त्र है।

यहाँ द्वितीय चरण में 'आसव के न होने पर भी मद का प्रतिपादन करने' से और 'यौवन' के उक्त होने से उक्तनिमित्ता विभावना है। प्रथम और तृतीय चरण में तो विभावना नहीं है, क्योंकि 'संभरण' और 'पुष्प' ये दोनों क्रमशः मंडन और अस्त्र के प्रति हेतु नहीं हैं।"

इस पर विचार किया जाता है—विभावनादिक अलंकार विरोध-मूलक हैं, क्योंकि इनमें बिजली की प्रभा के समान आपाततः प्रतीत होनेवाला विरोध ही चमत्कार का बीज है। और यहाँ पर आसव से भिन्न बताते हुए 'यौवन' को मद का कारण कहा गया है। ऐसी स्थिति में यौवन का 'मद का कारण होना' शब्द से ही गृहीत होने के कारण 'यज्ञ में चावल और जौ के समान' मद में यौवन और आसव दोनों की कारणता एक दूसरे की अपेक्षा न रखकर प्रतीत हो रही है, अतः लेशमात्र भी विरोध प्रतीत न होने के कारण विभावना ही नहीं है, फिर उक्तनिमित्ता विभावना की कथा ही क्या।

यदि कहो कि 'आसव' मद के कारणरूप से प्रसिद्ध है अतः उसके बिना मद की उत्पत्ति का वर्णन करने में विरोध की प्रतीति होती ही है तो इसका उत्तर यह है कि वैसी प्रतीति हो सकती थी, यदि कवि ने यौवन को मद का कारण साक्षात् रूप से प्रतिपादित न किया होता, किंतु यौवन का साक्षात् मद का कारण प्रतिपादन कर देने पर प्रसिद्ध कारण (आसव) के समान उसके अतिरिक्त कवि द्वारा प्रतिपादित मद का दूसरा कारण 'यौवन' भी हो जायगा, अतः (आसव और यौवन में) कारणता की वैकल्पिक प्रतीति होने के कारण विरोध की प्रतीति नहीं हो सकती। सो यहाँ प्रथम और तृतीय चरण में 'न्यूनाभेदरूपक' और द्वितीय चरण में 'गम्योत्प्रेक्षा है' यह विवेक है—अर्थात् विवेचना से यही सिद्ध होता है।

किंतु हमारे बनाए हुए उदाहरणों में तो दाह का प्रसिद्ध कारण अग्नि ही (का वर्णन) होने से और यौवन की दाहकारणता सुनी नहीं गई है, अतः 'बिना अग्नि के दाह की उत्पत्ति' वर्णन करने में आपाततः विरोध प्रतीत होता है—यह बात सहृदयों को समझनी चाहिए।

एक शंका और उसका उत्तर

अब यदि कहा जाय कि आपके लक्षणानुसार फिर भी

"मृगमीनसज्जनानां तृणजलसंतोषविहितवृत्तीनाम् ।
लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणवैरिणो जगति ॥

अर्थात् क्रमशः तृण-जल और संतोष से जीवन निर्वाह करने वाले मृग, मत्स्य और सज्जनों के शिकारी, मछुए और चुगुलखोर इस जगत् में निष्कारण बैरी हैं।"

यहाँ विभावना होने लगेगी। यदि इसके उत्तर में कहा जाय कि होने दो विभावना, इससे हमारा क्या बिगड़ा। तो यह उचित नहीं। कारण, आलंकारिकों ने इस जगह विभावना स्वीकार नहीं की है। अब यदि यह परिष्कार किया जाय कि लक्षण में जो 'कारणाभाव' है उसके 'कारणतावच्छेदक रूप से अवच्छिन्न' यह विशेषण और लगा दीजिए—अर्थात् लक्षणों में केवल कारण का अभाव नहीं, किंतु 'किसी विशेष रूप में आए हुए कारण का अभाव' समझना चाहिए और प्रकृत उदाहरण में जो कारण शब्द आया है उसमें 'कारणत्वावच्छिन्न का अभाव और अधिक से अधिक लें तो प्रसिद्धकारणत्वावच्छिन्न का अभाव' लिया जा सकता है, अतः यह अभाव 'कारणतावच्छेदक रूप से अवच्छिन्न का अभाव' नहीं है, क्योंकि वहाँ पर कारणतावच्छेदक धर्म केवल 'कारणत्व' ही कहा जा सकता है उसका कोई रूप (अर्थात् अपराधत्वआदि) नहीं लिखा गया। अतः उक्त उदाहरण में विभावना नहीं हो सकेगी।

तो यह भी अधूरा ही उत्तर है, क्योंकि

"खला विनैवापराधं भवन्ति खलु वैरिणः

अर्थात् दुष्ट लोग बिना ही अपराध के बैरी हो जाते हैं।"

इस उदाहरण में फिर भी अतिव्याप्ति हो जाएगी, क्योंकि 'अपराधाभाव' कहने पर तो कारणतावच्छेदक 'अपराधत्व' का रूप स्पष्ट ही है।

अब यदि कहा जाय कि—विभावना में कार्यभाग के 'अतिशयोक्ति से व्याप्त' अथवा 'अभेदनिश्चय से व्याप्त' यह विशेषण लगा दीजिए तो इसस भी काम बनता नहीं। कारण,

"खला विनैवापराधं दहन्ति खलु सज्जनान्।

अर्थात् दुष्ट लोग बिना ही अपराध के सज्जनों को जलाते हैं"

इत्यादिक में फिर भी दोष का उद्धार न हो सकेगा—अतिव्याप्ति हो ही जायगी, क्योंकि यहाँ 'पीडा' रूपी कार्य 'जलाने' में अभेद से अध्यवसित है, अतः कार्यभाग अतिशयोक्ति से व्याप्त है ही।

अतः इस पूर्वपक्ष का उत्तर यह है कि—'कार्यभाग में जो विषयितावच्छेदक हो उससे अवच्छिन्न कार्यता से निरूपित कारणता का अवच्छेदक' ग्रहण करना चाहिए। इससे उक्त उदाहरण में अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि 'खला विनैवापराधम्०' इस उदाहरण में विषयितावच्छेदक है 'दाहत्व' क्योंकि 'दाहत्व' से अवच्छिन्न 'दाह' से अभिन्न के रूप में पीडा का अध्यवसान हुआ है। अब सोचिए कि दाहत्व से अवच्छिन्न कार्यता से निरूपित कारणता का अवच्छेदक 'अपराधत्व' हो नहीं सकता, (क्योंकि दाह का कारण अग्नि हो सकता है, न कि अपराध) किंतु 'दाहत्व से अवच्छिन्न (दाह)' से अभिन्न रूप में अध्यवसित जो पीड़ा है उसमें रहनेवाली कार्यता से निरूपित कारणता का अवच्छेदक 'अपराधत्व' हो सकता है (अर्थात् पीड़ा का कारण अपराध हो सकता है, न कि दाह का), अतः अपराधत्व से अवच्छिन्न (अपराध) के अभाव के साथ (दाहरूपी) कार्य की

उत्पत्ति का वर्णन करने पर भी यहाँ विभावना की अतिव्याप्ति नहीं होती।

हाँ, यदि

"खला विनैव दहनं दहन्ति जगतीतलम्।

अर्थात् दुष्ट लोग बिना अग्नि के ही भूतल को दग्ध कर देते हैं।" यह बना दिया जाय तो विभावना हो ही जायगी, अतः कोई दोष नहीं।

(इस सब का सरल भाषा में सारांश यह है कि—केवल 'कारण' शब्द लिखकर उसका अभाव वर्णन कर देने मात्र से (जैसा कि 'निष्कारण' शब्द में है) विभावना नहीं हो सकती और न कार्यांश के अतिशयोक्ति से अथवा अभेदनिश्चय से व्याप्त होने पर ही हो सकती है, किंतु जिससे अभिन्न रूप में कार्यांश का वर्णन किया गया हो (जैसे दाह से अभिन्न रूप में पीड़ा का) उस (दाह) के कारण (अग्नि) का अभाव वर्णन किया जाय तभी विभावना होती है, जैसे कि 'खला विनैव दहनं दहन्ति जगतीतलम्' में है, न कि 'खलाविनैवापराधं दहन्ति खलु सज्जनान्' इस उदाहरण में, क्योंकि यहाँ 'अपराध' पीड़ा का कारण है, पर पीड़ा जिससे अभिन्न रूप में मानी गई है उस 'दाह' का कारण नहीं है।)

इसी प्रकार—

"कमलमनम्भसि कमले च कुवलये तानि कनकलतिकायाम्।
सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्परा केयम्॥

अर्थात् बिना जल के कमल है, कमल में दो कुवलय हैं और ये तीनों कनकलता पर हैं और वह कनकलता अत्यंत कोमल

और सुंदर है। यह कौन उत्पात की परंपरा है।"

इस किसी दूसरे कवि के अतिशयोक्ति के उदाहरणरूप पद्य में भी विभावना है ही। यह दूसरी बात है कि 'बिना जल में कमल है' इस भाग में शाब्दी विभावना है और 'कमल में कुवलय' तथा 'कनकलता पर ये तीनों हैं' यहाँ आर्थी विभावना है (क्योंकि 'कनकलता' कमल और कुवलयों का तथा 'कमल' कुवलयों का कारण नहीं है, पर यह बात शब्दों में नहीं लिखी है, अतः 'बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति' अर्थतः सिद्ध होती है) यह है इस सबका संक्षेप।

विभावना समाप्त

विशेषोक्ति

लक्षण

प्रसिद्ध कारणकलाप के साथ रहने पर वर्णन की जानेवाली कार्य की अनुत्पत्ति को विशेषोक्ति कहते हैं।

विवेचन

इस अलंकार में कारण की विद्यमानता होने पर भी कार्य की उत्पत्ति न होने में विरोध प्रतीत होता है, परंतु वह प्रसिद्ध से भिन्न कारण की विकलता (न्यूनता) का ज्ञान होने से निवृत्त हो जाता है।

उदाहरण

उपनिषदः परिपीता गीतापि च हन्त मतिपथं नीता ।
तदपि न हा विधुवदना मानससदनाद्बहिर्याति ॥

उपनिषदों का पूर्णतया पान कर लिया—घोल घोल कर पी ली, और गीता को भी बुद्धिपथ में ले लिया—खूब सोच समझ लिया, तथापि खेद है कि मानसभवन से चंद्रमुखी नहीं हटती ।

अथवा

प्रतिपलमखिलाँल्लोकान्मृत्युमुखं प्रविशतो निरीक्ष्यापि ।
हा हतकं चित्तमिदं विरमति नाद्यापि विषयेभ्यः ॥

सब लोगों को प्रतिपल मृत्यु के मुख में प्रवेश करते देखकर भी यह मरा चित्त आज भी विषयों से विरत नहीं होता ।

उदाहरण का विवेचन

यहाँ उपनिषद का अर्थ विचार करने से सब जगत् के अनित्यत्व का ज्ञान जो कि वैराग्य का प्रसिद्ध हेतु है उसके होने पर भी वैराग्य की अनुत्पत्ति का वर्णन करने से 'राग की अधिकतारूपी' प्रतिबंधक प्रतीत होता है ।

विशेषोक्ति के भेद

यह **अनुक्तनिमित्ता** विशेषोक्ति है, क्योंकि वैराग्य की अनुत्पत्ति के निमित्तरूप 'प्रतिबंधक (रागाधिक्य)' का वर्णन नहीं किया गया है ।

इसी पद्य में यदि तृतीय चरण 'रागान्धं चित्तमिदम् (अर्थात् यह राग से अंध चित्त)' यों बना दिया जाय तो यही **उक्तनिमित्ता** विशेषोक्ति का उदाहरण हो जायगा ।

कुछ विद्वान् अचिंत्यनिमित्ता तृतीय विशेषोक्ति भी मानते हैं और उसका उदाहरण यह देते हैं—

"स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः ।
हरतापि तनुं यस्य शंभुना न बलं हृतम् ॥

वह कामदेव अकेला ही तीनों लोकों का जय करता है, जिसका शरीर हरण करते हुए भी शिवजी ने बल हरण नहीं किया ।"

उन विद्वानों का अभिप्राय यह है कि—अनुक्तनिमित्ता विभावना में यदि सोचा जाय तो निमित्ततावच्छेदक के रूप में निमित्त प्रतीत हो जाता है (जैसे पूर्वोक्त उदाहरण में राग की अधिकता)। किंतु इस उदाहरण में ऐसा नहीं है, अपितु 'कुछ निमित्त होगा' इस आकार से प्रतीति होती है । इस तरह अनुक्तनिमित्ता से अचिंत्यनिमित्ता का भेद है !

दूसरे विद्वान् तो कहते हैं कि—अनुक्तनिमित्ता में निमित्त का विशेषण 'चिन्त्य' नहीं लगाया गया है, क्योंकि यदि निमित्त के विशेषणों के झमेले में पड़ा जाय तो अन्य अनेक भेदों की कल्पना का गौरव होगा। अतः यह मानना चाहिए कि 'चिन्त्य' अथवा अचिन्त्य' ये दोनों ही प्रकार के निमित्त जहाँ वर्णन नहीं किए गए हों वह अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति है । इस कारण अचिन्त्यनिमित्ता विशेषोक्ति अनुक्तनिमित्ता से पृथक् होने योग्य नहीं है ।

कारण की विद्यमानता बाधित होती है अथवा कार्य की अनुत्पत्ति

'इस अलंकार में कार्य की अनुपपत्ति से कारण की विद्यमानता बाधित होती है' यह अनेक विद्वानों का मत है, किंतु वास्तव में तो कार्य की अनुत्पत्ति ही इस अलंकार में बाधित होती है; क्योंकि—

"कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान्यो जने-जने ।
नमोऽस्त्ववार्यवीर्याय तस्मै मकरकेतवे ॥

जो कपूर के समान दग्ध होने पर भी प्रत्येक प्राणी पर शक्तिमान् है ऐसे अनिवार्य पराक्रम वाले कामदेव को नमस्कार है ।"

"स एक स्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः ।
हरतापि तनुं यस्य शंभुना न बलं हृतम् ॥"

(इसका अर्थ अभी-अभी लिखा जा चुका है)

इत्यादि प्राचीनों के प्रसिद्ध उदाहरणों में 'काम के शरीरनाश रूपी' कारण की विद्यमानता प्रमाण (पुराणादिशास्त्रों) द्वारा सिद्ध होने के कारण बाधित नहीं हो सकती । कारण, ऐसे उदाहरणों में सभी लोगों को यही बोध होता है कि 'कामदेव के शरीर का नाश होने पर भी शक्ति और बल का नाश क्यों नहीं हुआ' न कि 'शक्ति और बल के विद्यमान रहते हुए भी शरीरनाश कैसे हो गया' यह बोध ।

प्रत्युदाहरण

दृश्यतेऽनुदिते यस्मिन्नुदिते नैव दृश्यते ।
जगदेतन्नमस्तस्मै कस्मैचिद्बोधभानवे ॥

जिसके उदय न होने पर यह जगत् दिखाई देता है और जिसके उदय होने पर यह जगत् नहीं दिखाई देता उस किसी 'बोधरूपी' सूर्य को नमस्कार है ।

यहाँ उदय के अभाव में जगत् के दर्शन का और उदय होने पर दर्शन के अभाव का वर्णन होने पर भी विभावना और विशेषोक्ति नहीं हैं, क्योंकि यहाँ पर साहजिक सूर्योदय का वर्णन नहीं है जिससे विभा-

बना और विशेषोक्ति का प्रसंग होता। यदि यहाँ पर स्वाहजिक सूर्योदय का ही वर्णन होता तो 'सूर्य के उदय होने पर यह जगत् दिखाई नहीं देता है' इस उक्ति का संभव ही नहीं होता, क्योंकि सूर्य उदय हो और वस्तु दिखाई न दे यह कैसे हो सकता है, किंतु यहाँ पर 'ब्रह्म और आत्मा की एकता के बोधरूपी' सूर्य का वर्णन है, जिसका काम ही है 'जगत् का न दिखाई देना', न कि जगत् का दिखाई देना। यदि फिर भी 'जगत् का दिखाई देना' बना रहे तो सूर्योदय के समान इस उक्ति का भी संभव नहीं हो सकता, क्योंकि पूर्वोक्त बोध के उदय होने पर भी जगत् दिखाई दे तो बोध हुआ ही क्या। इसी कारण यहाँ पर बोध और सूर्य में (अभेद न मानकर) ताद्रूप्य रूपक मानते हुए बोध में सूर्य से विशेषता बताने के कारण व्यतिरेकालंकार उल्लसित होता है।

शाब्दी और आर्थी विभावना और विशेषोक्ति का विवेक

जहाँ कारणाभाव के प्रतिपादन के साथ जिनका अभाव है उनका (अर्थात् कारण और कार्य का) भी शब्दतः प्रतिपादन हो वहाँ शाब्दी विभावना और शाब्दी विशेषोक्ति होती है; जैसे—

भगवद्वदनाम्भोजं पश्यन्त्या अप्यहर्निशम्।
तृष्णाऽधिकमुदेति स्म गोपसीमन्तिनीदृशः॥

भगवान् के मुखारविंद को रात-दिन देखती हुई भी गोपाङ्गनाओं की दृष्टि में अधिकाधिक तृष्णा का उदय होता था।

संसार में 'समीप न होना' तृष्णा का कारण माना जाता है, इस कारण के अभाव रूप 'समीप होने' पर भी यहाँ तृष्णा का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार 'समीप होना' तृप्ति का कारण है, उसके होने पर भी 'तृप्ति का अभाव' बताया गया है, परंतु पूर्वोक्त प्रकार से

कारणाभाव और कार्याभाव का प्रतिपादन नहीं है, अतः विभावना और विशेषोक्ति के संदेह-संकर का अर्थतः प्रतिपादन ही है।

इसी बात को मन में रखकर मम्मट भट्ट ने—

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथाऽपि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसी-तरुतले चेतः समुत्कण्ठते ॥[1]

इस पद्य का उदाहरण देकर कहा है "अत्र स्फुटो न कश्चिद-लंकारः—अर्थात् यहाँ कोई स्पष्ट अलंकार नहीं है"। तात्पर्य यह है कि वहाँ भी विभावना और विशेषोक्ति का संदेह-संकर ही है।

वामन का मत और उसका खंडन।

वामन ने तो "एकगुणहानिकल्पनायां साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिः—अर्थात् एक गुण से हीनता की कल्पना करने पर भी समानता की दृढता को विशेषोक्ति कहते हैं।" और उदाहरण दिया है कि—

१—कोई स्वाधीनपतिका अपनी सखी से कहती है—यद्यपि जो कौमार्य का हरण करनेवाला है—अर्थात् जिसके साथ सुहागरात से ही संबंध है वही प्रतिदिन का अनुभूत वर है, यद्यपि वे ही चैत्र की रात्रियाँ हैं—जिनका जीवन में अनेक बार अनुभव किया जा चुका है, यद्यपि वे ही खिली मालती (वासन्तिक लता) से सुगंधित प्रौढकदम्बानिल (धूली कदम्ब) है, और वही-जिसने इन सब का अनेक बार उपभोग कर लिया है-मैं हूँ—अर्थात् कोई वस्तु नवीन नहीं है, तथापि उन्हीं सुरत की चेष्टा के वेषविन्यासादिविधान में, रेवा के तट में और वृक्ष के समान वेतसलता के अधोभाग में चित्त उत्कंठित हो रहा है।

"द्यूतं हि नाम पुरुषस्यसिंहासनं राज्यम् – अर्थात् जुआ पुरुष के लिए सिंहासन रहित राज्य है।"

यहाँ विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि—द्यूत में राज्य का तादात्म्य से आरोप है। उसमें यह कठिनता होती है कि सिंहासनरहित द्यूत सिंहासनसहित राज्य के तादात्म्य को कैसे पा सके, आरोप को उखाड़नेवाली इस युक्ति के हटाने के लिए आराप्यमाण राज्य में भी 'सिंहासनरहितता' की कल्पना कर ली गई है। अतः यह दृढारोप रूपक ही है, विशेषोक्ति नहीं।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि—

"अचतुर्वदनो ब्रह्मा द्विबाहुरपरो हरिः।
अभाललोचनः शंभुर्भगवान्बादरायणः॥

अर्थात् भगवान् वेदव्यास बिना चार मुख के ब्रह्मा, दो भुजवाले दूसरे विष्णु और भाललोचन से रहित शिव हैं।"

इस पुराण के पद्य में भी रूपक ही है। इसी प्रकार गुण की अधिकता की कल्पना में भी; जैसे—

"धर्मो वपुमान्भुवि कार्तवीर्यः

सहस्रबाहु अर्जुन पृथ्वी पर मूर्तिमान धर्म है" इत्यादि उदाहरणों में भी रूपक ही है।

इस उपर्युक्त विवेचन से "एकगुणहान्युपचयादिकल्पनायां साम्यदार्ढ्यं विशेषणम्—अर्थात् एक गुण की हानि अथवा वृद्धि आदि की कल्पना करके सादृश्य की दृढता को विशेषण कहते हैं।" इस तरह विशेषालंकार का लक्षण बनाने वालों को भी उत्तर मिल जाता है।

विशेषोक्ति समाप्त।

असंगतिः

लक्षण

आपाततः (ऊपर-ऊपर से) विरुद्धरूप में प्रतीत होने वाली हेतु और कार्य कीव्यधिकरणता (भिन्न आधार में रहना) असंगति अलंकार कहलाती है।

लक्षण का विवेचन

स्पृशति त्वयि यदि चापं स्वापं प्रापन्न केऽपि नरपालाः।
शोणे तु नयनकोणे को नेपालेन्द्र! तव सुखं स्वपितु॥

हे नेपालनरेश! यदि आपके धनुष पर हाथ डालने के समय (भी) कोई राजा निद्रा न पा सके तब आपके नयनकोण के लाल होने पर तो कौन सुख से सो सकता है।

यहाँ 'धनुष पर हाथ डालना' और 'नेत्र का लाल होना' इन दोनों कारणों का निद्रानाशरूपी कार्य भिन्न-भिन्न आधारों में है—अर्थात् यहाँ कारण (चापस्पर्श तथा नेत्र की लाली) नेपालराज में है और उसका कार्य (निद्राभंग) शत्रु राजाओं में है। इस उदाहरण में अतिव्याप्ति न होने के लिए 'ऊपर-ऊपर से विरुद्धरूप में प्रतीत होने वाली' यह लिखा गया है। चाप-स्पर्श और नयन की लाली भिन्न देश में रहने पर ही निद्रा-नाश रूपी कार्य के प्रयोजक हो सकते हैं, अतः यहाँ 'विरुद्ध रूप में प्रतीत होने' को अवकाश ही नहीं है।

आप कहेंगे कि 'नेत्र की लाली' से अभिव्यक्त 'रोष' की भिन्न-देशता हो सकती है, क्योंकि वह कालिक संबंध से निद्रा-नाश का हेत

है, किंतु धनुष का स्पर्श तो लीला से किया गया है वह निद्रा-नाश का स्वरूप से हेतु नहीं हो सकना, किंतु चापस्पर्श का ज्ञान, जो कि राजाओं के अन्तःकरण में ही उद्भूत है उसे निद्रा-नाश के हेतु रूप में स्वीकार करना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में चापस्पर्श के ज्ञानरूपी कारण और निद्रानाशरूपी कार्य के एक ही आधार में होने के कारण व्याधिकरणता कैसे होगी? उत्तर यह है कि लक्षण में 'हेतु' पद से यहाँ पर प्रयोजक भी लिया गया है। चापस्पर्श यद्यपि निद्रा-नाश का साक्षात् हेतु नहीं है तथापि प्रयोजक है, और 'प्रयोजक होने' का कारण यह है कि नेपाल नरेश के रोष की भ्रमात्मक अनुमिति का चाप-स्पर्श लिंग (हेतु) है— धनुष का स्पर्श करने से शत्रुराजाओं को यह भ्रम होना संभव है कि नेपाल-नरेश कहीं हमारे ऊपर रुष्ट तो नहीं हो गए हैं?

उदाहरण

अङ्गैः सुकुमारतरैः सा कुसुमानां श्रियं हरति।
प्रहरति हि कुसुमबाणो जगतीतलवर्तिनो यूनः॥

वह (नायिका) अपने अत्यंत सुकुमार अंगों के द्वारा पुष्पों की 'श्री' (शोभा + संपत्ति) को हरण करती है और कुसुमायुध (कामदेव) पृथ्वीतल पर रहनेवाले (अर्थात् सारी पृथ्वी के) तरुणों पर प्रहार करता है।

अथवा जैसे—

दृष्टिर्मृगीदृशोऽत्यन्तं श्रुत्यन्तपरिशीलिनी।
मुच्यन्ते बन्धनात्केशा विचित्रा वैधसी गतिः॥

मृगनयनी की दृष्टि श्रुत्यंत (वेदांत + कानों के छोर) का अत्यंत परिशीलन (अभ्यास + स्पर्श) करने वाली है और बंधन से छूटते हैं केश। विधाता की गति विचित्र है।

यहाँ प्रथम उदाहरण में शुद्ध असंगति है और दूसरे उदाहरण में श्लेष से उपबृंहित है।

प्रथम उदाहरण में 'प्रहार करता है' इस शब्द से अध्यवसानरूप 'अतिशय' (निगरण) के द्वारा 'अपराध के कारण ताडन' के रूप में 'कामपीड़ा' अवस्थित है। यहाँ 'कामपीड़ा' विषय है और (अपराध के कारण) 'ताडन' विषयी है। इस विषयी भाग के सहारे व्यधिकरणता का ज्ञान होने से विरोध की पुरःस्फूर्ति (ऊपरी प्रतीति) होती है, क्योंकि विषयिभाग (अपराधनिमित्तक प्रहार) में ताडन और अपराध की समानाधिकरणता प्रसिद्ध है-जो अपराध करता है वही पिटता है। यह विरोध विषयभाग (कामपीड़ा वाले अंश) पर विचार करने के बाद निवृत्त हो जाता है, क्योंकि भावना द्वारा उपनीत 'पुष्पों की श्री के हरण' से अभिव्यक्त शोभाविशेष की कारणता का, अथवा शोभाविशेष की भावना की कारणता का हेतु रूप में अनुसंधान हो जाता है—अर्थात् यह समझ में आ जाता है कि कामिनी के शोभाविशेष के कारण कामपीड़ा हो गई है। अतः यह सिद्ध हुआ कि **असंगति का अभेदाध्यवसान अनुप्राणक है और विरोधाभास उत्कर्षक है।**

इसी तरह अन्यत्र भी समझना चाहिए।

अलंकारसर्वस्वकारादि के मत पर विचार

[1]अलंकारसर्वस्वकारादि का मत है कि "असंगति अलंकार में विभावना के समान कार्यांश में अतिशयोक्ति का अनुप्राणन आवश्यक है, अन्यथा विरोध मिट ही नहीं सकेगा।"

१—यह मत अलंकारसर्वस्वकार का नहीं, किंतु विमर्शिनीकार का है (देखिए 'असंगति' की विमर्शिनी)।

यह मत असंगत है, क्योंकि पूर्वोक्त हमारे बनाये हुए 'दृष्टिर्मृगी-दृशः०' इस उदाहरण में व्यभिचरित हो जाता है, क्योंकि 'बंधन से छूटते हैं केश' इस अंश में अतिशयोक्ति नहीं है किंतु श्लेष के आधार पर केवल अभेदाध्यवसानमात्र है, अतः 'कार्यांश में किसी भी प्रकार अभेद का अध्यवसान आवश्यक है' यह कहना संगत है, 'अतिशयोक्ति' कहना नहीं।

यद्यपि 'दृष्टिर्मृगीदृशः०' इत्यादिक में कारणांश (वेदांत के अभ्यास और कानों के छोर का स्पर्श) में भी अभेद का अध्यवसान संभव है तथापि कारणांश में वह नियमतः नहीं रहता। जैसा कि—

स्विद्यति सा पथि यान्ती कोमलचरणा नितम्बभारेण।
स्विद्यन्ति हन्त परितस्तद्रूपविलोकिनस्तरुणाः॥

कोमल चरणवाली वह नितंबभार से रास्ते में चलती हुई पसीने से भीगती है और खेद है कि चारों ओर उसके रूप को देखनेवाले तरुण पसीने से भीग जाते हैं।

इत्यादि उदाहरणों में 'भार से उत्पन्न स्वेद' इस अंश में अभेदाध्यवसान का अभाव है। आप कहेंगे कि वहाँ भी जलपूर्ण घट आदि के भार से उत्पन्न स्वेद के साथ नितंबभार से उत्पन्न स्वेद का अभेदाध्यवसान है ही, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि नितंबभार से उत्पन्न स्वेद (पसीना) अपने स्वरूप से भी खेदजनक है, अतः अन्य भार से उत्पन्न स्वेद के साथ अध्यवसान की कोई अपेक्षा नहीं रखता। और—

"सा बाला वयमप्रगल्भमनसः सा स्त्री वयं कातराः।

यह बाला है और हमारा मन प्रतिभाहीन हो रहा है, वह स्त्री है और हम कायर हो रहे हैं।"

इत्यादि प्राचीनों के पद्य में 'बालात्व' 'स्त्रीत्व' आदि कारणांश में अभेदाध्यवसान के लेश का भी संभव नहीं है। अतः कारणांश में अभेदाध्यवसान की अनियतता ही है।

विरोध और असंगति का भेद

विमर्शिनीकार ने लिखा है कि—विरोधालंकार में एक आधार में दोनों का संबंध होने से विरोध प्रतीत होता है और असंगति में दो भिन्न आधारों में विरोध की प्रतीति होती है इस कारण विरोध से असंगति की विलक्षणता है। यह ठीक नहीं। कारण, असंगति में भी उन-उन कार्यों के कार्यतावच्छेदक और उन-उन कारणों की व्यधिकरणता इन दोनों धर्मों का 'कार्यरूपी एक अधिकरण' में संबंध होने से ही विरोध का प्रतिभान उत्पन्न होता है। अतः विरोधालंकार में और असंगति में यह भेद है कि विरोध में उत्पत्ति के विमर्श के बिना ही विरोध की प्रतीति होती है और असंगति में उत्पत्ति के विमर्शपूर्वक विरोध के प्रतिभान की उत्पत्ति होती है।

वास्तव में तो विरोध और असंगति में यह भेद है कि जो दो पदार्थ व्यधिकरणत्वेन प्रसिद्ध हैं—अर्थात् एक आधार में नहीं रह सकते, उनका समानाधिकरणत्वेन–अर्थात् एक आधार में निबंधन करने पर विरोधालंकार होता है और जो दो पदार्थ समानाधिकरणत्वेन प्रसिद्ध हैं उनका व्यधिकरणता से (भिन्न-भिन्न आधारों में) निबंधन करने पर असंगति होती है।

अतः पूर्वोक्त असंगति के लक्षण में 'कारण और कार्य की व्यधिकरणता' 'समानाधिकरण मात्र की व्यधिकरणता' का उपलक्षण है—अर्थात् दो समानाधिकरण पदार्थों की व्यधिकरणता का नाम असंगति है, वे कार्यकरणरूप हों अथवा नहीं। अतः—

नेत्रं निरञ्जनं तस्याः शून्यास्तु वयमद्भुतम् ।

आश्चर्य है कि उसका नेत्र निरंजन (कज्जलरहित + अव्यक्त) है और हम शून्य हैं ।"

यहाँ निरंजनत्व और शून्यत्व का उत्पाद्योत्पादकभाव संबंध नहीं है, केवल समानाधिकरणता है, इस प्रकार शुद्ध समानाधिकरणरूप में प्रसिद्ध की असंगति भी संगत हो जाती है, लक्षण में केवल कार्यकारण-भाव रखने से जो वह न हो सकेगी ।

इस तरह विरोधालंकार से असंगति का भेद स्पष्ट ही है। रहा यह कि विरोधालंकार से अतिरिक्त शुद्ध विरोध का अंश जो सभी विरोधमूलक अलंकारों में अनुस्यूत रहता है, जैसा कि उपमामूलक अलं-कारों में सादृश्य का अंश, वह तो कुछ अलंकारों को बनानवाला है न कि स्वयं पृथक् अलंकारता का पात्र, क्योंकि अलंकार केवल उक्ति-विशेषरूप हैं—अर्थात् एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न रूप से बोलने पर भिन्न-भिन्न अलंकार हो जाते हैं, अतः उसमें अनुस्यूत सादृश्य या विरोध की अलंकाररूपता आवश्यक नहीं । सो इस तरह विमर्शिनीकार का उदाहृत पद्य भी यदि इसी दिशा में ले जाया जाय तो दोष नहीं है ।

अप्पयदीक्षित का खंडन

और जो कुवलयानंदकार ने

"अन्यत्र करणीयस्य ततोऽन्यत्र कृतिश्च सा ।
अन्यत्कर्तुं प्रवृत्तस्य तद्विरुद्धकृतिस्तथा ॥
अपारिजातां वसुधां चिकीर्षन्द्यां तथाऽकृथाः ।
गोत्रोद्धारप्रवृत्तोऽपि गोत्रोद्भेदं पुराऽकरोः ॥

(१) अन्यत्र करने योग्य की उससे भिन्न स्थान पर कृति और (२) अन्य कार्य करने के लिए प्रवृत्त की उसके विरुद्ध कृति ये दोनों भी असंगतियाँ हैं। जैसे (१) पृथ्वी को अपारिजात (शत्रुहीन) करना चाहते हुए आप (कृष्ण) ने स्वर्ग को अपारिजात (पारिजातवृक्ष से रहित) कर दिया तथा (२) गोत्रोद्धार (पृथ्वी के उद्धार) में प्रवृत्त होने पर भी पहले (वराहावतार में) आपने गोत्रोद्भेद (खुरों के द्वारा पर्वतों का दलन) कर दिया।

यहाँ श्रीकृष्ण के प्रति इंद्र के उपालंभवचन में पृथ्वी पर करने के लिए अभिलषित 'अपारिजातत्व' स्वर्ग में कर दिया गया, यह एक असंगति है, और गोत्रोद्धार में प्रवृत्त होने पर भी वराहावतार के समय खुरों से खोदकर गोत्रोद्भेद कर दिया, यह दूसरी असंगति है। अथवा जैसे—

त्वत्खड्गखण्डितसपत्नविलासिनीनां,
भूषा भवन्त्यभिनवा भुवनैकवीर।
नेत्रेषु कङ्कणमथोरुषु पत्रवल्ली,
चोलेन्द्रसिंह तिलकं करपल्लवेषु॥

हे जगत् के एक वीर! सिंह सदृश चोल नरेश! तुम्हारे खड्ग से कटे हुए शत्रुओं की स्त्रियों के नवीन आभूषण हो जाते हैं—नेत्रों में कंकण (वलय + श्यामिका) जाँघों में पत्रवल्ली (पत्ररचनारूप मंडन + पत्तों सहित लता) और कर पल्लवों में तिलक (तिलक + तिल सहित जल)।

मोहं जगत्त्रयभुवामपनेतुमेत-
दादाय रूपमखिलेश्वर! देहभाजाम्।

निःसीमकान्तिरसनीरधिनामुनैव मोहं
प्रवर्धयसि मुग्धविलासिनीनाम् ॥

हे अखिलेश्वर ! त्रिलोकी में उत्पन्न प्राणियों का मोह मिटाने के लिए यह रूप ग्रहण करके असीम कांति और रस के समुद्र इसी रूप के द्वारा आप भोली युवतियों के मोह को बढ़ाते हैं।

यहाँ प्रथम उदाहरण में कंकणादि का अन्यत्र करणीयत्व प्रसिद्ध है, इस कारण उसका वर्णन नहीं किया गया। 'हो जाते हैं' के द्वारा भावना रूप 'अन्यत्र कृति' का आक्षेप हो जाता है, अतः लक्षण बैठ जाता है।"

ये दोनों असंगति के भेद लक्षित करके उदाहरण दिए हैं, वे ठीक नहीं हैं। इन दोनों में से प्रथम उदाहरण 'अपारिजातां वसुधां चिकीर्षन्द्यां तथा कृथाः' में कारणरूप पारिजातराहित्य करने की इच्छा के साथ 'पारिजातराहित्यरूपी कार्य' की विरुद्ध व्यधिकरणता का निरूपण होने से 'विरुद्धं भिन्नदेशत्वं कार्यहेत्वोरसङ्गतिः' इस (आपकी बताई हुई) प्रथम असंगति से कोई विलक्षणता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि कार्यमात्र के प्रति 'करने की इच्छा' का आलंबननामक विषयतासंबंध द्वारा समानाधिकरणत्वेन हेतुता प्रसिद्ध है।

यदि कहो कि 'पारिजातराहित्य' अभावरूप है, और नैयायिकों के मत में अभाव नित्य है, अतः नित्य वस्तु के कारण की प्रसिद्धि न होने से आपकी बात नहीं बनती तो यह उचित नहीं, क्योंकि आलंकारिकों के सिद्धांत में अभाव की जन्यता अभीष्ट है, (अतः नैयायिकों का सिद्धांत यहाँ उठाना उचित नहीं) और यदि जन्य न भी माने तब भी असंगति के लक्षण में 'कार्यकारण पद उपलक्षणमात्र है' यह पहले

कहा जा चुका है। अतः 'करने की इच्छा' के साथ अभाव का कार्य-कारण संबंध न भी हो तो भी कोई दोष नहीं।'

१—नागेश का कहना है कि—आलंकारिकों के मत में अभाव के जन्य होने पर भी 'पारिजातराहित्य' की कारणता चिकीर्षा में कृति के द्वारा अन्यथासिद्ध है, क्योंकि ज्ञान से इच्छा, इच्छा से कृति (प्रयत्न) और कृति से कर्म होता है, अतः इच्छारूप चिकीर्षा कृति से पूर्ववर्त्ती होने के कारण कार्य से साक्षात् सबंध नहीं रखती। अतः कुलाल-पिता के समान अन्यथासिद्ध है।

(पर यह उत्तर उचित नहीं। इसका उत्तर पहले ही दिया जा चुका है कि यहाँ हेतु शब्द से कारण नहीं किंतु 'प्रयोजक' मात्र लिया जाता है, अतः यह समाधान व्यर्थ है—अनुवादक)

चिकीर्षा का अधिकरण में अंतर्भाव होने के कारण हेतुत्व भी नहीं है।

(यह भी ठीक नहीं, क्योंकि 'कारणकार्य' शब्द यहाँसमानाधि-करणता के उपलक्षक हैं, यह कहा जा चुका है)

और यह भी निश्चित नहीं है कि चिकीर्षित वस्तु जहाँ चिकीर्षित है वहाँ की ही जाय, क्योंकि करना चाहते हुए भी प्रमादादि से अन्यत्र की जा सकती है; अतः व्यधिकर- णता विरुद्ध ही नहीं है।

(यह भी अड़ंगा ही है, प्रमादादि से अन्यत्र हो जाना प्रसिद्धि को कैसे हटा सकता है)

दूसरे, 'अपारिजातां वसुधां' यहाँ कार्यकारण की व्यधिकरणता के द्वारा चमत्कार नहीं है, किंतु 'कहीं करना था और कहीं कर दिया' यही चमत्कारजनक है, अतः पूर्व असंगति से इसका भेद उचित भी है।

(यदि सहृदय ऐसा समझते हैं तो यह समाधान हो सकता है)

गोत्रोद्धारप्रवृत्तोऽपि

इस उदाहरण में तो

विरुद्धात्कार्यसंपत्तिर्दृष्टा काचिद्विभावना

इस पंचम विभावना के लक्षण से आक्रांत होने के कारण यह भेद विभावना के ही अंतर्गत हो जाता है।

अतः असंगति के अन्य भेदों की कल्पना अनुचित है।

'गोत्रोद्धार' के विषय में प्रवृत्ति 'गोत्रोद्भेद' रूपी कार्य के प्रति विरुद्ध है। सिद्धांत में भी यहाँ पर विभावना और विशेषोक्ति का संदेहसंकर ही उचित है।[1]

'नेत्रेषु कङ्कणम्' इत्यादि उदाहरण में भी 'कंकणत्व' और 'नेत्रालङ्कारत्व' के व्यधिकरणरूप में प्रसिद्ध होने से (अर्थात् 'कंकण' नेत्रालंकार नहीं हो सकता, अतः) समानाधिकरणता के वर्णन के कारण

तीसरी बात यह है कि—यहाँ पूर्व उदाहरण के समान कार्यकारण के विरोध का चमत्कार दुःसमाधानता के कारण नहीं, किंतु आपाततः विरुद्धता से भासमान ही है। इसलिए यह असंगति भासमानविरोध-पूर्वक है।

अतः यह कथन विचारणीय है।

(यह भी वैसा ही है, दृढ विरोध में ही असंगति हो ऐसा कोई नियम नहीं है)

१—नागेश का कहना है कि यह वचन उपालंभरूप है, अतः यहाँ विरुद्ध कृति के भान द्वारा ही चमत्कार है और विभावना में तो विरोध की निवृत्ति के कारण भी चमत्कार हो जाता है, अतः महान् भेद है।

विरोधाभास ही उचित है।[1] यही बात 'मोहं जगत्त्रयभुवाम्' इस उदाहरण के मोहनिवर्त्तकत्व और मोहजनकत्व में भी है।

आप कहेंगे कि—आपके उदाहरणों में भी विरोधाभास से ही काम चल जाता है, फिर विभावनादि की कल्पना निरर्थक है तो इसका उत्तर दिया जा चुका है कि "विरोधमूलक सब अलंकारों में शुद्ध विरोधांश अनुस्यूत रहता है, किंतु वह पृथक् अलंकार का पात्र नहीं है।"

असंगति समाप्त।

१—नागेश का कहना है कि यहाँ 'कंकण' और 'नेत्र के अलंकार' एक विभक्ति में नहीं आए हैं, अतः शब्द से समानाधिकरणता की प्रतीति नहीं होती और अभेद भी प्रतीत नहीं होता, अतः यह विचारणीय है और जिन दोनों में विरोध की प्रतीति होती है उनमें अर्थांतर लेकर भी समानाधिकरणता की प्रतीति होती है।

विषमालंकार

लक्षण

अननुरूप संसर्ग को विषम कहते हैं।

लक्षण का विवेचन

'अनुरूपम्' यह योग्यता के अर्थ में अव्ययीभाव समास है। 'अनुरूपं यत्र न विद्यते' इस प्रकार विग्रह किए हुए बहुव्रीहि समास से 'अननुरूप' का अर्थ 'योग्यतारहित' होता है, और योग्यता का अर्थ है 'यह युक्त (उचित) है' इस लौकिक व्यवहार का विषय होना। सारांश यह है कि जिस संसर्ग को संसार उचित कहता है वह अनुरूप और जिस संसर्ग को अनुचित कहता है वह अननुरूप है।

यह तो हुआ अननुरूप का अर्थ, अब संसर्ग का अर्थ लीजिए। संसर्ग दो प्रकार का है—उत्पत्तिरूप और संयोगादिरूप, इनमें से उत्पत्तिरूप संसर्ग की अयोग्यता, कारण के गुणों से विलक्षण गुण वाले कार्य की उत्पत्ति द्वारा होती है और संयोगादिरूप संसर्ग की अयोग्यता, इष्ट साधनरूप में निश्चित कारण से अनिष्टकार्योत्पत्तियों द्वारा होती है। सो यहाँ दो संसर्गियों में से एक के गुणों अथवा स्वरूप के द्वारा दूसरे के गुणों अथवा स्वरूप के तिरस्करणीय होने के कारण अयोग्यता है। इस तरह 'अननुरूप संसर्ग के रूप में सामान्यरूप से कहे हुए और आगे कहेजानेवाले सभी भेदों का संग्रह हो जाता है। क्रम से उदाहरण लीजिए—

उत्पत्तिरूप संसर्ग की अननुरूपता में कारण से विरुद्ध गुण वाले कार्य की उत्पत्ति; जैसे—

अमृतलहरीचन्द्रज्योत्स्नारमावदनाम्बुजा-
न्यधरितवतो निर्मर्यादप्रसादमहाम्बुधेः ।
उदभवदयं देव ! त्वत्तः कथं परमोल्बण-
प्रलयदहनज्वालाजालाकुलो महसां गणः ॥

हे राजन् ! आपने अमृत की लहरी चंद्रमा की चाँदनी और लक्ष्मी के मुखकमल को नीचा दिखा दिया है और आप असीम प्रसन्नता के महासमुद्र हैं, ऐसे आपसे यह परम प्रचंड प्रलयाग्नि की ज्वालामाला से व्याप्त प्रतापसमूह कैसे उत्पन्न हुआ ?

यहाँ पर माधुर्य (अमृतलहरी द्वारा सूचित), शैत्य (चाँदनी द्वारा सूचित) और आह्लादकत्व (लक्ष्मी के मुखकमल द्वारा सूचित) एवं प्रसन्नता आदि अनेक गुणों से युक्त करण से उन गुणों से विरुद्ध गुण युक्त (कार्य) प्रताप की उत्पत्ति हुई, अतः कार्यकारणभाव अननुरूप है ।

यहाँ प्रताप का निमित्तकारण राजा, अभेदाध्यवसानरूप अतिशय द्वारा समवायिकारण के रूप में स्थित है अथवा निमित्ती (कार्य-प्रताप) अभेदाध्यवसानरूपी अतिशय द्वारा निमित्तकारण (राजा) में समवेत कार्यरूप से स्थित है, दोनों ही स्थितियों में विषय (राजगत माधुर्य आदि) के निगरण करनेवाले विषयी[1] के अंश (अमृतलहरी आदि

१—यहाँ दोनों पुस्तकों में पाठ अशुद्ध होने से स्वयं निर्मित उलटे पाठ के चक्कर में पड़कर शत्रुओं को प्रताप का समवायिकारण बताने वाली सरला की लीला की विलक्षणता विलोकनीय है । वस्तुतः शुद्ध पाठ यों है—

"विषय्यंशमालम्ब्य स्फुरितो विरोधो विषयांशविमर्शोत्तरं निवर्त्तते ।"

—अनुवादक

के माधुर्य आदि) को लेकर स्फुरित होने वाला विरोध, विषय के अंश (राजगत माधुर्यादि) के विमर्श के अनंतर निवृत्त हो जाता है (क्योंकि जिस माधुर्य, शैत्य, आह्लादकत्वादि के आधार—अमृतलहरी आदि—के द्वारा ज्वालामालाकुल वस्तु का उत्पन्न होना विरुद्ध है, उस माधुर्यादि से राजगत माधुर्य आदि भिन्न हैं और उनका कोशदण्डज तेज रूप प्रताप के साथ रहना विरुद्ध नहीं है) । इस कारण यहाँ भी अभेदाध्यवसान अनुप्राणक है और उससे उत्थापित विरोधाभास परिपोषक है और यही अंश कविप्रतिभानिर्मित होने के कारण यहाँ अलङ्कारता का बीज है ।

"संयोगादिरूप संसर्ग की अयोग्यता इष्टसाधनतारूप में निश्चित कारण से अनिष्टकार्योत्पत्तियों द्वारा" इस लक्षणविवेचन के पूर्वोक्त अंश में जो 'अनिष्टकार्योत्पत्ति' शब्द है, उसमें एकशेष[1] से घटित एकशेष समझना चाहिए। अतः उसके तीन अर्थ होते हैं। (१) अनिष्ट अर्थात् अनर्थरूप कार्य की उत्पत्ति (२) इष्ट कार्य की उत्पत्ति न होना और (३) अनिष्ट अर्थात् अनभीष्ट (इष्ट नहीं ऐसे) कार्य की उत्पत्ति इन सभी को "अनिष्टकार्योत्पत्ति" शब्द से ग्रहण किया गया है। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि

इष्ट कार्य की अनुत्पत्ति और अनिष्ट कार्य की उत्पत्ति ये दोनों कार्य जहाँ एक साथ हों वह एक भेद है।

केवल इष्टकार्य की अनुत्पत्ति यह दूसरा भेद है।

और केवल अनिष्ट कार्य की उत्पत्ति यह तीसरा भेद है।

इस तरह ये तीनों भेद "अनिष्टकार्योत्पत्ति" शब्द से

१—संस्कृत में अनिष्टकार्योत्पत्ति का विग्रह यों होगा। "अनिष्टमनर्थः तादृशकार्योत्पत्तिश्च न इष्टकार्योत्पत्तिश्चेत्यनिष्टकार्योत्पत्ती । ते चानिष्ट (अनभीष्ट) कार्योत्पत्तिश्चेत्यनिष्टकार्योत्पत्तयः"।

संगृहीत हो जाते हैं। इष्ट शब्द से चार वस्तुएँ समझी जाती हैं (१) अपने किसी सुखसाधन वस्तु की प्राप्ति (२) अपने किसी दुःखसाधन वस्तु की निवृत्ति (३) और विरोधी के दुःखसाधन वस्तु की प्राप्ति (४) तथा उसके सुखसाधन वस्तु की निवृत्ति। इस प्रकार इष्ट की अप्राप्ति वाले दो भेदों में से प्रत्येक के चार-चार भेद हो जाते हैं। अनिष्ट भी तीन प्रकार का है—(१) अपने दुःखसाधनरूप वस्तु की प्राप्ति (२) विरोधी के सुखसाधनरूप वस्तु की प्राप्ति और (३) विरोधी के दुःखसाधनरूप वस्तु का नाश। यद्यपि अपने इष्ट की अप्राप्ति भी यहाँ गिनी जानी चाहिए, अतः इसके भी चार भेद होने चाहिए थे, तथापि इष्ट वस्तु की अप्राप्ति पृथक् गिनी जा चुकी है, अतः अनिष्ट में उसकी गणना नहीं की गई। इस तरह अनिष्ट प्राप्तिवाले दोनों भेदों में से प्रत्येक के तीन तीन भेद हो जाते हैं। इन सब भेदों में से कुछ भेदों के उदाहरण आगे दिए जाते हैं।

उदाहरण

(१) इष्ट के लिए प्रयुक्त साधन से इष्ट की अनुत्पत्ति और अनिष्ट की उत्पत्ति; जैसे—

दूरीकर्तुं प्रियं बाला पद्मेनाताडयद्रुषा।
स बाणेन हतस्तेन तामाशु परिषस्वजे॥

मुग्धा नायिका ने प्रिय को दूर हटाने के लिए पद्म से ताड़न किया, उस (काम-)बाण से ताड़ित प्रिय ने उसका तत्काल आलिङ्गन कर लिया।

यहाँ 'प्रिय के हटाने' रूपी 'इष्ट' के लिए प्रयुक्त 'पद्म' द्वारा 'ताडन' रूपी कारण से प्रिय का हटना तो दूर रहा प्रत्युत प्रिय के द्वारा आलिङ्गन रूप 'अनिष्ट' की उत्पत्ति हो गई।

अथवा जैसे—

खञ्जनदृशा निकुञ्जं गतवत्या गां गवेषयितुम् ।
अपहारिताः समस्ता गावो हरिवदनपङ्कजालोकात् ॥

खंजननयनी 'गोगवेषण' (गाय ढूँढ़ने) के लिए कुंज में गई थी, किंतु भगवान् के मुखकमलदर्शन से 'समस्त गोहरण' (समस्त गायों का लुटना + समस्त इंद्रियों का हरण—मुग्ध होना) करवा दिया ।

उदाहरण का विवेचन

पूर्व उदाहरण में वस्तुतः ही अनिष्ट हुआ अर्थात् जिस आलिंगन को वह नहीं चाहती थी वह बलात् गले पड़ गया । इस उदाहरण में यद्यपि 'समस्त गोहरण' का दूसरा अर्थ 'समस्त इंद्रियों का हरण' लोक में भी अनिष्ट सा ही है तथापि यहाँ उसको सामने रखने पर चमत्कार नहीं रहता, किंतु 'गोहरण' के प्रथम अर्थ के सामने रहने पर ही चमत्कार रहता है, अतः 'गोहरण' शब्द के दोनों अर्थों के श्लेषमूलक अभेदाध्यवसान के द्वारा 'गोहरण' का द्वितीय अर्थ 'इंद्रियहरण' भी 'सकलधेनुहरण' रूपी अनिष्ट के रूप में स्थित होकर अनिष्ट होता है—यह विशेषता है ।

आप कहेंगे कि पूर्व उदाहरण में इष्ट की अप्राप्ति और अनिष्ट की प्राप्ति दोनों का वर्णन है और इस उदाहरण में जिस 'गोगवेषण' के लिए खंजननयनी गई थी उसकी अप्राप्ति का वर्णन न होने से यह केवल अनिष्टप्राप्ति का ही उदाहरण है, अतः इस उदाहरण में प्रथम उदाहरण से यह विशेषता भी मानी जानी चाहिए, तो यह उचित नहीं; क्योंकि 'समस्तगोहरण' शब्द सामान्यवाचक है अतः ढूँढ़ी जानेवाली 'गो' का भी हरण उससे प्रतीत हो जाता है—समस्त से बाहर वह एक कैसे रह सकती है ?

इस तरह इष्टप्राप्ति और अनिष्टप्राप्ति दोनों के द्वारा होनेवाली संसर्ग की अननुरूपता का सामान्यरूप में वर्णन किया गया।

पूर्वोक्त चार भेदवाली इष्टप्राप्ति के पूर्वोक्त तीन भेदवाले अनिष्ट से मिलने पर इसी के बारह प्रकार हो जाते हैं। उनमें से अपने सुख-साधनरूप वस्तु की अप्राप्ति और दुःखसाधनरूप वस्तु की प्राप्ति वाले 'उभयभेद' (विषम) का उदाहरण दिया जा चुका है।

(२-३) अब अपने दुःखसाधनरूप वस्तु के निवृत्त न होने और अतिरिक्त दुःख के साधनरूप वस्तु की प्राप्ति वाले दो भेदों के उदाहरण; जैसे—

रूपारुचिं निरसितुं रसयन्त्या हरिमुखेन्दुलावण्यम्।
सुदृशः शिव ! शिव !! सकले जाता सकलेवरे जगत्यरुचिः॥

रूपसंबंधिनी अरुचि को निवृत्त करने के लिये सुनयनी ने—भगवन्मुखचंद्र के लावण्य का रस लेना आरंभ किया, किंतु खेद है कि उसे कलेवरसहित संपूर्ण जगत् में अरुचि उत्पन्न हो गई।

यहाँ यद्यपि ब्रह्मदर्शन के अनंतर जगत् में वैराग्यरूप अरुचि उत्पन्न हो जाने पर भी भगवान् के वदनलावण्य के दर्शन के कारण जो भिन्न प्रकार की रूपारुचि थी वह निवृत्त हो ही गई—यह कहा जा सकता है, तथापि जगत् की अरुचि में सब अरुचियों का अभेदाध्यवसान करने से रूपारुचि की निवृत्ति की अप्रतीति ही होती है। अन्यथा वैराग्यरूपी अरुचि के सुखजनक होने के कारण अतिरिक्त दुःख का साधन मानना कठिनता से ही सिद्ध किया जा सकेगा, अतः यह इष्टप्राप्ति और अनिष्टप्राप्ति दोनों का उदाहरण हो जाता है।

(४-५) विरोधी के दुःखसाधन की अप्राप्ति और अपने दुःखांतर-साधन की प्राप्ति, ये दोनों; जैसे—

पुरो गीर्वाणानां पुलकितकपोलं प्रथयतो
भुजप्रौढिं साक्षाद्भगवति शरं संमुखयितुम् ।
स्मरस्य स्वर्बालानयनसुममालार्चितमहो
वपुः सद्यो भालानलभसितजालास्पदमभूत् ॥

देवताओं के आगे कपोलों को रोमांचित करते हुए साक्षात् भगवान शिव पर बाण चढ़ाने के लिए भुजाओं की डींग हाँकने वाले कामदेव का सुराङ्गनाओं के नयनरूपी पुष्पमालाओं से अर्चित शरीर, आश्चर्य है कि, तत्काल ही भालानल के भस्मसमूह का पात्र बन गया ।

(यहाँ शिव जी को दुःख पहुँचाने के स्थान पर, उनको दुःख न होकर अपने ही भस्म होने की नौबत आ गई, अतः इष्ट की अप्राप्ति और अनिष्ट की प्राप्ति स्पष्ट ही है ।)

(६-७) विरोधी के सुखसाधन की अनिवृत्ति और अपने दुःखसाधन की प्राप्ति ये दोनो; जैसे—

न मिश्रयति लोचने सहसितं न संभाषते
कथासु तव किं च सा विरचयत्यरालां भ्रुवम् ।
विपक्षसुदृशः कथामिति निवेदयन्त्या पुरः
प्रियस्य शिथिलीकृतः स्वविषयोऽनुरागग्रहः ॥

किसी प्रौढ नायिका ने—'जब आप की बात आती है तब वह आँखें नहीं मिलाती, हँसकर नहीं बोलती, भौंह, टेढ़ी कर लेती है,' इस प्रकार प्रिय के सामने सपत्नी की कथा कहते हुए अपने विषय में अनुरागबोध शिथिल कर दिया ।

यहाँ किसी प्रौढ नायिका ने, जिसको प्रिय अब तक अज्ञातयौवना ही समझे हुए थे उस सपत्नी के प्रेम में बखेड़ा डालने के लिए प्रिय के समक्ष सपत्नी के दुर्गुणों का वर्णन किया, किंतु इससे जो कुछ वह करना चाहती थी वह सिद्ध न हो सका, प्रत्युत अपने विषय में जो अनुराग था उसमें कमी करवा ली।

यहाँ यह विचारणीय है कि यद्यपि सुखसाधन की निवृत्ति दुःख-साधन रूप ही है, अतः उसकी पृथग्गणना उचित नहीं है, तथापि जिस प्रकार दुःखसाधन की निवृत्ति में सुख का होना नियत नहीं है उसी प्रकार सुखसाधननिवृत्ति में भी दुःख होना अनियत है, क्योंकि इन दोनों के कारण एक ही हों ऐसा कोई नियम नहीं, अतः दोनों का पृथग्ग्रहण किया गया है।

इसी प्रकार आठ अन्य उभयभेदों की भी तर्कना करनी चाहिए।

(८) केवल इष्टाप्राप्ति का उदाहरण; जैसे—

प्रभातसमयप्रभां प्रणयिनि ह्नुवाना रसा-
दमुष्य नयनाम्बुजं सपदि पाणिनामीलयत्।
अनेन खलु पद्मिनीपरिमलालिपाटच्चरैः
समीरशिशुकैश्चिरादनुमितो दिनेशोदयः॥

नायिका प्रेम के कारण प्रेमी से प्रभातसमय की प्रभा को छिपा रही है, अतः उसने प्रेमी के नेत्रकमल को तत्काल हाथ से मूँद दिया, किंतु प्रेमी ने थोड़े समय के बाद कमलिनी के सुगंधसमूह के चुरानेवाले मंद वायुओं के कारण सूर्योदय का अनुमान कर लिया।

यहाँ प्रियतम को प्रभातविषयक ज्ञान न हो यह सुखसाधन के रूप में कामिनी को इष्ट है, इसके लिए उसने प्रयत्न किया, किंतु सफलता न

हुई, अतः केवल इष्टप्राप्ति ही है। अथवा प्रियतम का प्रभात समय का ज्ञान उसके दुःख का साधन है, उसकी निवृत्ति उसका इष्ट है। प्रयत्न करने पर भी वह इष्ट सिद्ध नहीं हुआ अतः यह भी इष्टप्राप्ति ही हुई। इस तरह यहाँ दोनों प्रकार की इष्टाप्राप्ति ही संभव है।

इसी तरह इसके अन्य प्रकार भी सोचे जा सकते हैं।

(६) केवल अनिष्टप्राप्ति; जैसे--

मुकुलितनयनं करिणो गण्डं कण्डूयतो विषद्रुतटे।
उदभूदकाण्डदहनज्वालाजालाकुलो देहः॥

हाथी ने आँख मूँदे हुए जहरीले पेड़ के किनारे कपोल खुजलाना आरंभ किया, किंतु अकस्मात् उत्पन्न अग्निज्वाला के समूह से देह व्याकुल हो उठा।

यहाँ इष्टाप्राप्ति नहीं है, क्योंकि यहाँ 'आँख मूँदे हुए' इस कथन से 'खुजलाने से उत्पन्न सुख की प्राप्ति' है। किंतु केवल अनिष्टप्राप्ति हो है।

इसके भी (अन्य) दोनों भेदों के उदाहरण सोच लेने चाहिए। ग्रंथविस्तार के भय से यहाँ उदाहरण नहीं दे रहे हैं।

इष्टसाधनरूप में निश्चित कारण से अनिष्ट कार्य की उत्पत्ति वाले ये सब भेद आगे कहे जानेवाले विषादन अलंकार से मिश्रित ही प्राप्त होते हैं--यह विषादन अलंकार के प्रकरण में निरूपण किया जायगा।

कुवलयानंद का खंडन

कुवलयानंदकार ने

"अनिष्टस्याप्यवाप्तिश्च तदिष्टार्थसमुद्यमात्।

अर्थात् इष्ट अर्थ के लिए उद्यम से अनिष्ट की भी प्राप्ति ।"

यह विषमालंकार के भेद का लक्षण बनाकर

"अपि शब्द से संगृहीत होने के कारण 'इष्टाप्राप्ति' भी इसमें आ जाती है, इस कारण अनिष्टप्राप्ति और इष्टाप्राप्ति इन दोनों में से प्रत्येक का विषय पद के साथ अन्वय है ।" यह कहा है, सो ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा व्युत्पत्ति के विरुद्ध है । 'इस गाँव में देवदत्त को द्रव्य का भी लाभ है' इत्यादिक में द्रव्य शब्द के अनंतरवर्त्ती 'भी (अपि)' शब्द द्वारा संगृहीत विद्यादिक का द्रव्य के अन्वयी (लाभ) में ही अन्वय होने के कारण 'द्रव्य का लाभ और विद्या का लाभ ।' यह बोध होता है—यह निर्विवाद है । किंतु प्रस्तुत वाक्य में 'अनिष्ट' का अन्वय तो 'अवाप्ति' के साथ है और ('अपि' शब्द से लब्ध) इष्टा-प्राप्ति का 'तत्' शब्द से परामृष्ट विषम के साथ अन्वय है—यह विष-मता है । प्रत्युत लक्षणवाक्य में आया 'अपि' शब्द विरुद्ध बुद्धि को उत्पन्न करता है, क्योंकि उससे 'अनिष्ट की प्राप्ति' और 'इष्ट की भी प्राप्ति' यह प्रतीति होती है । हाँ, यह तो हो भी सकता है कि 'च' शब्द से संगृहीत 'इष्टाप्राप्ति', 'अनिष्टाप्राप्ति' से एक बार संमिलित है, अब उसी का 'तत्' पद से परामृष्ट 'विषम' के साथ अन्वय होने पर वाक्य की आवृत्ति द्वारा वारांतर में प्रत्येक (केवल इष्टानवाप्ति और केवल अनिष्टावाप्ति) के साथ अन्वय होने से तीनों भेदों का संग्रह हो जाता है, किंतु 'अपि' शब्द की डींग हाँकना ठीक नहीं ।

(२) और जो उन्हीं ने उदाहरण दिया है—

"भक्ष्याशयाऽहिमञ्जूषां दष्ट्वाऽऽखुस्तेन भक्षितः

(चूहा) भक्ष्य की आशा से साँप की पेटी को काटकर साँप के द्वारा खा लिया गया ।"

यहाँ क्त्वा प्रत्यय की प्रकृति (दंशन) क्रिया का कर्ता जिसका कर्ता है ऐसी उत्तरकालवर्त्तिनी अन्य क्रिया का प्रयोग न होने तथा उसका आक्षेप भी न होने से 'प्रविष्टः' इस पद की आकांक्षा रहती है, अतः 'न्यून पदता' दोष है। (कहने का तात्पर्य यह है कि क्त्वा प्रत्यय 'समान-कर्त्तृकयोः पूर्वकाले' (३।४ २१) इस पाणिनिसूत्र के अनुसार, जब दो क्रियाओं का एक कर्ता होता है तभी होता है। उक्त उदाहरण में दंशन क्रिया का कर्त्ता चूहा है और भक्षण क्रिया का कर्ता सर्प है, अतः क्त्वा प्रत्यय अनुपपन्न है। इस कारण 'दष्ट्वा' के बाद 'प्रविष्टः' पद जोड़ना आवश्यक हो जाता है---अर्थात् 'चूहा काटकर घुसा और साँप द्वारा खा लिया गया' इसके स्थान पर 'साँप की पेटी को काटकर साँप द्वारा खा लिया गया' यह कहना अशुद्ध है।)

(३) और जो उन्हीं ने केवल इष्टप्राप्ति का--

"खिन्नोऽसि मुञ्च शैलं बिभृमो वयमिति वदत्सु शिथिलभुजः।
भरभुग्नविततबाहुषु गोपेषु हसन्हरिर्जयति ॥

गोवर्धनोद्धरण के समय जब गोपों ने कहा कि 'तुम थक गए हो, पहाड़ को छोड़ दो, हम उठाते हैं' तब भगवान् ने भुजा को ढीला कर दिया। गोपों की भुजाएँ बोझे से टेढ़ी होकर पसरने लगी, तब हँसते हुए हरि की जय है।"

यह उदाहरण दिया है, वह भी सुंदर नहीं है; क्योंकि यहाँ 'बोझे से टेढ़ी और पसरने लगी' इत्यादि द्वारा भुजा की अस्थिसंधियों के भंग रूप अनिष्ट की प्राप्ति साक्षात् ही लिखी है और सब अंगों के चूर्ण होने तथा गर्व के अपहाररूप अनिष्टप्राप्ति की स्पष्ट प्रतीति हो रही है। इतने पर भी यहाँ 'केवल इष्टप्राप्ति' है यह कैसे कहा जा रहा है। इसी कारणजो उनने कहा है कि 'पहाड़ के गिरने रूपी अनिष्ट की प्राप्ति तो

भगवान् के करकमल के स्पर्श की महिमा से विदित नहीं हुई' यह भी निःसार है, क्योंकि अनिष्टों (हाथों का टेढ़ा होने और पसरने) का स्पष्ट वर्णन है।

इस प्रकार उत्पत्तिरूप संसर्ग की अननुरूपता का निरूपण किया गया है।

संयोगादिरूप संसर्ग की अननुरूपता; जैसे--

वनान्तः खेलन्ती शशकशिशुमालोक्य चकिता
भुजप्रान्तं भर्तुः श्रयति भयहर्तुः सपदि या।
अहो सेयं सीता शिव ! शिव !! परीता श्रुतिचल-
त्करोटीकोटीभिर्वसति खलु रक्षोयुवतिभिः ॥

जो सीता बन के अंदर खेलती हुई, खरगोश के एक बच्चे को देखकर चकित होती हुई भयहर्ता भर्ता (श्रीराम) के भुजप्रांत का आश्रय लेती थी, ओह ! वही यह सीता, (मनुष्य के) सिर की हड्डियाँ जिनके कानों पर हिल रही हैं, शिव ! शिव !! उन तरुण राक्षसियों से घिरी हुई निवास कर रही हैं।

यहाँ सतीशिरोमणि भगवती राघवधर्मपत्नी के परम प्रभावयुक्त होने के कारण यद्यपि राक्षसियों द्वारा नाशयोग्यता नहीं है—अर्थात् भगवती सीता उनसे नष्ट नहीं की जा सकती, तथापि मनुष्यत्व जाति के संयोग से जो कि राक्षसों द्वारा किए जानेवाले नाश की स्वरूपयोग्यता की अवच्छेदक है—अर्थात् मनुष्यमात्र राक्षसों से नष्ट किए जा सकते हैं और भगवती सीता भी मनुष्य जाति से युक्त है, अतः स्वरूप की नाशयोग्यता और राक्षसों के दर्शन से सुंदरता, सुकुमारता आदि गुणों की नाशयोग्यता के कारण (राक्षसियों और सीता के संयोग में)

विरुद्धता होने से एक स्थान में रहने रूपी संयोग के रूप में अननुरूप संसर्ग है।

एक शंका और उसका समाधान

आप कहेंगे कि—अननुरूप संसर्ग को विषम मानने पर—

"क्व शुक्तयः क्व वा मुक्ताः क्व पङ्कः क्व च पङ्कजम्।
क्व मृगाः क्व च कस्तूरी धिग्विधातुर्विदग्धताम्॥

कहाँ सीपें और कहाँ मोती, कहाँ कीचड़ और कहाँ कमल, कहाँ मृग और कहाँ कस्तूरी, विधाता की विदग्धता को धिक्कार है (जिसने ऐसे जोड़े मिलाये)।"

इत्यादि केवल वस्तुकथन में भी विषमालंकार होने लगेगा। यदि इसका 'हाँ' में उत्तर दिया जाय तो उचित नहीं, क्योंकि वस्तुकथन तो लोकसिद्ध है, अतः उससे अलंकारत्व का कोई संबंध नहीं। कारण बाहर (संसार में) न होनेवाले केवल कवि की प्रतिभा से कल्पित पदार्थ ही काव्य में अलंकार पद से अभिहित होते हैं। आप कहेंगे कि यदि ऐसा ही है तो 'यथा पद्मं तथा मुखम्—जैसा कमल वैसा मुख' इत्यादि में सादृश्य के लोकसिद्ध होने के कारण कविप्रतिभाकल्पित न होने पर भी अलंकारता कैसे है? तो यह उचित नहीं; क्योंकि 'सादृश्य रूप' अथवा 'सादृश्य का उत्थापक' जो मुख और पद्म में अभिन्न धर्म है उसका अभेदांश केवल कवि की प्रतिभा के अधीन है। इसका कारण यह है कि पद्म और मुख का जो शोभारूप धर्म है वह, जात्यादि के समान, वस्तुतः एक नहीं हैं और जो जात्यादिरूप धर्म वस्तुतः एक हैं उनसे उत्थापित सादृश्य अलंकारों से बहिर्भूत है; जैसे 'पद्ममिवास्य मुखं द्रव्यम्—पद्म के समान इसका मुख भी द्रव्य है' इत्यादि को अलंकार नहीं कहा जा सकता। सो इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि 'वनान्तः खेलन्ती' इस पूर्वोक्त पद्य से प्रतिपादित 'सीता

और राक्षसियों के संसर्ग की अननुरूपता' लौकिकी होने के कारण कवि-प्रतिभा की अपेक्षा नहीं रखती, अतः अलंकार नहीं है।

इसी कारण—

"अरण्यानी क्वेयं धृतकनकसूत्रः क्व स मृगः
क्व मुक्ताहारोऽयं क्व च स पतगः क्वेयमबला।
क्व तत्कन्यारत्नं ललितमहिभर्तुः क्व च वयं
स्वमाकूतं धाता कमपि निभृतं पल्लवयति॥

कहाँ यह महान जंगल और कहाँ वह कनकसूत्र धारण किए हुए मृग, कहाँ यह मोती का हार और कहाँ वह पक्षी तथा कहाँ यह अबला, कहाँ वह नागराज का सुंदर कन्यारत्न और कहाँ हम, विधाता अपने किसी गूढ अभिप्राय को चुपचाप पल्लवित कर रहा है।"

इस अलंकारसर्वस्वकार के उदाहरण का भी प्रत्याख्यान हो जाता है और वही मार्ग अन्य पद्यों में भी, जिनका अर्थ कवि प्रतिभा से अनुत्थापित है वहाँ भी, है—अर्थात् वहाँ अलंकार कहना व्यर्थ है।

तो हम कहते हैं कि आपका यह कथन सच है। यदि ऐसा ही है तो—

क्व सा कुसुमसाराङ्गी सीता चन्द्रकलोपमा।
क्व रक्षःखदिराङ्गारमध्यसंवासवैशसम्॥

कहाँ वह कुसुमसार (श्रेष्ठ कुसुम) के समान अंगोंवाली चंद्रकला के सदृश सीता और कहाँ राक्षसरूपी खैर के अंगारों के मध्य निवास-रूपी क्रूरता।

इस पद्य को उदाहरण समझिये, क्योंकि यहाँ यद्यपि केवल सीता और केवल राक्षसियों के संसर्ग की अननुरूपता है तथापि वह कवि को विवक्षित नहीं है, किंतु जो कुसुमसार और खैर के अंगारों की अननुरूपता है वह विवक्षित है, अतः इसमें अलौकिकता के कारण कवि-प्रतिभा की अपेक्षा स्पष्ट ही है।

समालंकार

लक्षण

अनुरूप संसर्ग को सम कहते हैं।

लक्षण का विवेचन

संसर्ग पहले के समान दो प्रकार का है। उनमें से उत्पत्तिरूप संसर्ग की अनुरूपता तीन प्रकार की है—(१) कारण से अपने समान गुणवाले कार्य की उत्पत्ति द्वारा (२) जैसे गुणवाली वस्तु से संसर्ग हो वैसे गुण की उत्पत्ति द्वारा और (३) जिस किसी इष्ट की प्राप्ति के लिये कारण का प्रयोग किया गया हो उससे उस इष्ट की प्राप्ति द्वारा।

यहाँ यह याद रखना चाहिए कि—अन्य उत्कट इष्ट की प्राप्ति होने पर तो 'प्रहर्षण अलंकार' होता है, जिसका वर्णन आगे किया जायगा।

इसी प्रकार संयोगादिरूप संसर्ग की अनुरूपता दो संसर्गियों में से एक के गुण और स्वरूप द्वारा दूसरे के गुण और स्वरूप के अनुगृहीत होने पर होती है। सो इस तरह 'अनुरूप संसर्गता' रूपी सामान्य लक्षण से सब भेदों का संग्रह हो जाता है।

जैसे—

कुवलयलक्ष्मीं हरते तव कीर्तिस्तत्र किं चित्रम्।
यस्मान्निदानमस्या लोकनमस्याङ्घ्रिपङ्कजस्तु भवान्॥

राजा की स्तुति है। कवि कहता है कि—आप की कीर्त्ति कुवलय (रात्रिविकाशी कमल + भूमंडल) की शोभा को हरण करती है इसमें क्या आश्चर्य, क्योंकि इसका उत्पत्तिस्थान आप हैं, जिनके चरणकमल लोक द्वारा नमस्करणीय हैं।

अथवा जैसे—

मन्त्रार्पितहविर्दीप्तहुताशनतनूभुवः।
शिखास्पर्शेन पाञ्चाल्याः स्थाने दग्धः सुयोधनः॥

मंत्र से अर्पित हवि से प्रदीप्त अग्नि के शरीर से उत्पन्न होनेवाली द्रौपदी की शिखा (ज्वाला+चोटी) के स्पर्श से सुयोधन उचित ही दग्ध हुआ।

पहले उदाहरण में कारण और कार्य के धर्मों का श्लेष द्वारा एकतासंपादन होता है और इस उदाहरण में मरण और दाह का अभेदाध्यवसानरूपी अतिशय से एकतासंपादन होता है—यह विशेषता है।

द्वितीय भेद; (जैसी वस्तुओं का संसर्ग वैसे गुणों की उत्पत्ति)

जैसे—

वडवानलकालकूटलक्ष्मीमकरव्यालगणैः सहैधितः ।
रजनीरमणो भवेन्नृणां न कथं प्राणवियोगकारणम् ॥

विरहिणी कहती है—बड़वानल, विष, लक्ष्मी, मगर और सर्प-समूह के साथ बढ़ा हुआ चंद्रमा मनुष्यों के प्राणवियोग का कारण कैसे न हो ?

यहाँ लक्ष्मी का भी मारक रूप में ही कथन कवि को अभीष्ट है ।

तृतीय भेद; (जिस इष्ट की प्राप्ति के लिये कारण का प्रयोग किया गया उससे उस इष्ट की प्राप्ति) जैसे—

नितरां धनमाप्तुमर्थिभिः क्षितिप ! त्वां समुपास्य यत्नतः ।
निधनं समलम्भि तावकी खलु सेवा जनवाञ्छितप्रदा ॥

हे राजन् ! धन चाहने के लिये याचकों ने प्रयत्न से आप की अत्यंत सेवा करके 'निधन' (नितरांधन+मृत्यु) प्राप्त किया, आप की सेवा निश्चय ही मनुष्य के मनोरथ पूरे करनेवाली है ।

यहाँ श्लेष के द्वारा 'अत्यंत धन और मरण की एकता' हो जाने पर 'बहुधनरूपी इष्ट' के रूप में वांछित अर्थ की प्राप्तिरूपी समालंकार का चमत्कार है ।

इस जगह व्याजस्तुति में, आरंभ में 'धनप्राप्तिरूप स्तुति की स्फूर्ति के समय' तो समालंकार निर्विघ्न है ही, किंतु 'मरणप्राप्ति' की प्रतीति की अवस्था में व्याजस्तुति के अंग पूर्ण हो जाने के कारण व्याजस्तुति के द्वारा विषमालंकार बाधित होता है ।

अप्पय दीक्षित का खंडन

और जो कुवलयानंदकार ने—

"उच्चैर्गजैरटनमर्थयमान एव
त्वामाश्रयन्निह चिरादुषितोऽस्मि राजन् ।
उच्चाटनं त्वमपि लम्भयसे तदेव
मामद्य नैव विफला महतां हि सेवा ॥

हे राजन्, उच्च गजों से अटन की—हाथीनशीन होने की इच्छा करते हुए ही मैंने यहाँ तुम्हारे आश्रय में बहुत समय निवास किया है, आज आप वही उच्चाटन (उच्चों से अटन+निष्कासन) प्राप्त करवा रहे हैं। महापुरुषों की सेवा निष्फल नहीं होती।'

यह उदाहरण देकर—"यहाँ व्याजस्तुति में यद्यपि स्तुति से निंदा की अभिव्यक्ति की विवक्षा में विषमालंकार है, तथापि प्राथमिक स्तुति-रूप वाच्य की कक्षा में समालंकार का निवारण नहीं किया जा सकता" यह कहा है।

इसमें दो बातें विचारणीय हैं—एक तो उदाहरण में 'मामुच्चाटनं लम्भयसे' इसमें द्विकर्मकता कैसे हुई? क्योंकि गत्यादि (१।४।५२) सूत्र को यदि प्राचीनों की रीति से 'नियम विधि' माना जाय तो (अर्थात् सभी णिजंतों में प्राप्त कर्मसंज्ञा में यह नियम किया जाता है कि णिजंतों में यदि पूर्वावस्था के कर्त्ता की कर्म संज्ञा हो तो सूत्र में परिगणित धातुओं की ही हो सकती है, अन्यों की नहीं, तो 'लभ' धातु की सूत्रोक्त धातुओं में गणना न होने के कारण) 'लभ' धातु के अण्यंतकर्ता का कर्मत्व निवृत्त हो जाता है और यदि—

"परत्वादन्तरङ्गत्वादुपजीव्यतयाऽपि च
प्रयोज्यस्यास्तु कर्तृत्वं गत्यादेर्विधितोचिता ॥"

पर, अंतरंग और उपजीव्य होने के कारण प्रयोज्य (पूर्वावस्था के कर्त्ता) का कर्तृत्व होने दीजिए, परंतु गति आदि का तो विधि होना ही उचित है।"

इस नवीनों की रीति से इसे अपूर्व विधि कहा जाता है, तथा श्रौत (शब्दतः प्रतिपादित) णिजन्तार्थ क्रिया (लम्भयसे) की प्रधानता को छोड़कर पूर्व क्रिया (लभसे) की आर्थ (अर्थ प्राप्त) प्रधानता का ही अनुरोध किया जाता है तब तो कर्मत्व का प्रसंग ही नहीं है। सो 'माम् उच्चाटनं लम्भयसे' के स्थान पर 'उच्चाटनं मया लम्भयसे' यह होना चाहिए। इतने पर भी यदि किसी प्रकार लभ् धातु को गत्यर्थक बनाकर प्रयोग सिद्ध किया जाए, तथापि "प्राथमिक कक्षा में समालंकार का निवारण नहीं किया जा सकता" इसमें 'दूसरी कक्षा में विषमालंकार भले ही रहे' यह सूचित करना मिथ्या ही है, क्योंकि वैसी विषमता निंदारूप है, अतः व्याजस्तुति का विषय होने से 'व्याजस्तुति विषम का अपवाद (बाधक) हो' यही न्यायोचित है (न कि आप के कथनानुसार विषम का अपवाद होना)। यदि कहो कि विपरीत ही क्यों न मान लिया जाय ? अर्थात् विषम को व्याजस्तुति का अपवाद क्यों न समझा जाय, तो यह उचित नहीं, क्योंकि यहाँ व्याजस्तुति परिपूर्ण चमत्कार का आधार (पूर्णचमत्कारयुक्त) है, जिसे आप भी नहीं छिपा सकते।

संयोगादि रूप संसर्ग की अनुरूपता दो प्रकार से हो सकती है— (१) स्तुति में परिणत होनेवाली और (२) निंदा में परिणत होनेवाली।

उनमें से प्रथम; जैसे—

अनाथः स्नेहार्द्रां विगलितगतिः पुण्यगतिदां
पतन्विश्वोद्धर्त्रीं गदविदलितः सिद्धभिषजम्।

तृषार्तः पीयूषप्रकरनिधिमत्यन्तशिशुकः
सवित्रीं प्राप्तस्त्वामहमिह विदध्याः समुचितम् ॥

(हे गंगे !) अत्यंत छोटा बालक मैं आप माता की शरण में आया हूँ, मैं अनाथ हूँ और आप स्नेहार्द्र हैं, मैं अगतिक हूँ और आप पवित्र गति देनेवाली हैं, मेरा पतन हो रहा है और आप विश्व का उद्धार करने वाली हैं, मैं रोग से पीड़ित हूँ और आप सिद्ध भेषज हैं (रामबाण औषध हैं), मैं तृषार्त हूँ और आप अमृतसमूह का खजाना हैं। अब आप जो उचित समझें सो करिए।

यहाँ अनाथत्वादि धर्मों से युक्त के, स्नेहार्द्रता आदि धर्मों से युक्त के साथ, संसर्ग की अनुरूपता भागीरथी की स्तुति में पर्यवसान को प्राप्त होती है।

द्वितीय अर्थात् निंदापर्यवसायिनी अनुरूपता; जैसे—

युक्तं सभायां खलु मर्कटानां शाखास्तरूणां मृदुलासनानि।
सुभाषितं चीत्कृतिरातिथेयी दन्तैर्नखाग्रैश्च विपाटनानि ॥

बंदरों की सभा में उचित है कि वृक्षों की शाखाएँ कोमल आसन हों, चीत्कार शब्द सुभाषित हो और दाँतों तथा नखाग्रों से फाड़ना अतिथिसत्कार हो।

यहाँ अप्रस्तुत (बानरों की निंदा) उसके द्वारा आक्षिप्त प्रस्तुत (कलहपरायण सभासदों) में पर्यवसित होता है।

इस प्रकार जैसे विषमालंकार के तीन भेद हैं उसी प्रकार उसके विपरीत तीन भेदों से युक्त समालंकार का भी विस्तार से निरूपण किया गया।

अलंकारसर्वस्वकार का खंडन

और जो 'विरूपकार्यानर्थयोरुत्पत्तिर्विरूपसंघटना च विषमम्—विरूप कार्य की उत्पत्ति, अनर्थ की उत्पत्ति और विरूपों का संयोग विषम कहलाता है' इस प्रकार विषमालंकार का लक्षण बनाकर 'तद्विपर्ययः समम्—जहाँ उसकी विपरीतता हो वह समालंकार है' यह लक्षण बनाने के अनंतर अलंकारसर्वस्वकार ने कहा है कि 'तत् (उस) पद से यहाँ पर विषमालंकार से संबंध रखनेवाले विरूपों का संसर्ग रूप अंतिम भेद ही ग्रहण किया जाता है, क्योंकि उसकी विपरीतता (सरूपों का संसर्ग) ही सुंदर होती है, न कि प्रथम दोनों भेदों की विपरीतता, जो कि 'कारण से अनुरूप कार्य की उत्पत्ति' और 'वांछित अर्थ की प्राप्ति' रूप हैं। ये दोनों वस्तु सिद्ध होने के कारण (सभी वस्तुओं में ऐसा होता ही है अतः) चमत्कारी नहीं होतीं। सो समालंकार का अनुरूपसंघटनात्मक एक ही भेद होता है, न कि विषमालंकार के समान तीन भेद।'[1] और इसपर विमर्शिनीकार ने विवेचन किया है कि—'कारण से अनुरूप कार्य की उत्पत्ति लोकसिद्ध है, अतः उसका निरूपण सुंदर नहीं होता।'

ये दोनों ही (कथन) ठीक नहीं हैं, क्योंकि वस्तुतः अननुरूप कार्यकारणों का भी श्लेषादि से धर्म की एकता के संपादन द्वारा अनुरूपता के वर्णन करने में तथा वस्तुतः अनिष्ट का भी उसी उपाय द्वारा इष्ट से एकता संपादन हो जाने पर इष्टप्राप्ति के वर्णन में सुंदरता अभी अभी दिखाई जा चुकी है, अतः समालंकार भी तीन प्रकार का है।

———

१—यहां मूल में तात्पर्यकथन है। अलंकारसर्वस्व का मूल ग्रंथ तो 'यद्यपि विषमस्य भेदत्रयमुक्तं तथापि तच्छब्देन संभवादन्त्यो भेदः परामृष्यते। पूर्वभेदद्वयसंसर्गस्यानलङ्कारत्वादन्त्यभेदविपर्ययस्तु चारुत्वात्समाख्योऽलंकारः।' यों है।

विचित्रालंकार

लक्षण

इष्टसिद्धि के लिए इष्टाभिलाषी के द्वारा किये जानेवाले इष्ट के विपरीत आचरण को विचित्र कहते हैं।

विपरीतता का अर्थ यहाँ प्रतिकूलता है। जैसे—

बन्धोन्मुक्त्यै खलु मखमुखान्कुर्वते कर्मपाशा-
नन्तःशान्त्यै मुनिशतमतानल्पचिन्तां वहन्ति।
तीर्थे मज्जन्त्यशुभजलधेः पारमारोढुकामाः
सर्वं प्रामादिकमिह भवभ्रान्तिभाजां नराणाम् ॥

संसार के भ्रम में पड़े हुए पुरुषों के सभी काम प्रामादिक होते हैं, ये लोग बंधन छुड़ाने के लिए यज्ञादिक कर्मपाशों की रचना करते हैं, अंतःकरण की शांति के लिए सैकड़ों मुनियों के मतों की (शास्त्रों की) महती चिंता ढोते हैं और अशुभ समुद्र के पार पहुँचने की इच्छा से तीर्थ में डुबकी लगाते हैं।

यहाँ प्रथम चरणगत 'विचित्र' (बंध छुड़ाने के लिए कर्मपाशों की रचना) रूपक से अनुप्राणित है, यदि यज्ञादिक कर्मों को पाशरूप न माना जाय तो 'यज्ञादि कर्म करने' को 'बंधन'—मुक्ति के विपरीत कहना संगत नहीं होता। द्वितीयचरणगत विचित्र तो शुद्ध है, क्योंकि चिंता स्वरूप से ही शांति के विपरीत है।

यह तो हुआ पूर्व लक्षण के अनुसार उदाहरण, किंतु यदि इष्ट के स्वतः सिद्ध होने पर इष्टाभिलाषी द्वारा किया जानेवाला इष्ट के अनु

कूलाभास (जो वास्तव में अनुकूल न हो और अनुकूल सा दिखाई देता हो) का प्रयोग भी विचित्र कहा जाय, क्योंकि इष्टाभिलाषी की भ्रांतता की अभिव्यक्ति यहाँ भी उसी के तुल्य है और लक्षण में 'विपरीत' पद के स्थान पर 'अननुकूल' पद रक्खा जाय—अर्थात् 'विपरीत आचरण' के स्थान पर 'अननुकूल आचरण' कहा जाय, तब यह भी उदाहरण हो सकता है—

विष्वद्रीचा भुवनमखिलं भासते यस्य धाम्ना
सर्वेषामप्यहमयमिति प्रत्ययालम्बनं यः।
तं पृच्छन्ति स्वहृदयगतावेदिनो विष्णुमन्या-
नन्यायोऽयं शिव! शिव! नृणां केन वा वर्णनीयः॥

जिनके सर्वत्र व्याप्त तेज से संपूर्ण जगत् प्रकाशित हो रहा है, और जो सभी की यह मैं (अहम्) इस प्रतीति का आधार है ऐसे विष्णु को, अपनी हृद्गत वस्तु को न जाननेवाले दूसरों से पूछते फिरते हैं, शिव! शिव!! मनुष्यों के इस अन्याय का कौन वर्णन कर सकता है।

यहाँ जीवरूप से सब जगत् के प्रत्यक्षसिद्ध परमेश्वर के ज्ञान के लिए दूसरों से पूछना अनुकूलाभास है, क्योंकि मुख्य अनुकूल तो अपना हृदय ही है, जैसा कि—'यत्साक्षादपरोक्षात्' इस श्रुति में लिखा है।

विषमालंकार से भेद

यहाँ यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि कारण से अननुरूप कार्य होने के कारण विचित्रालङ्कार विषमालङ्कार का भेद है, क्योंकि एक तो विषमालङ्कार में पुरुष के प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रहती—उसमें पुरुष के प्रयत्न का वर्णन नहीं होता; दूसरे, उसके भेद कार्य और कारण के

गुणों की विलक्षणता द्वारा ही निरूपण किये जाते हैं और कोई बात वहाँ नहीं रहती।

अधिकालंकार

लक्षण

आधार और आधेय में से किसी एक को अतिविस्तृत सिद्ध करने के लिए दूसरे की अतिन्यूनता की कल्पना अधिकालंकार है।

जैसे—

लोकानां विपदं धुनोषि तनुषे सम्पत्तिमत्युत्कटा–
मित्यल्पेतरजल्पितैर्जडधियां भूपाल ! मा गा मदम्।
यत्कीर्तिस्तव वल्लभा लघुतरब्रह्माण्डसद्मोदरे
पिण्डीकृत्य महोन्नतामपि तनुं कष्टेन हा वर्तते ॥

हे राजन्, 'आपलोगों की आपत्ति को नष्ट करते हैं और अत्यंत उत्कट संपत्ति का विस्तार करते हैं' इस प्रकार मूढबुद्धियों की बड़ी बड़ी बातों से अभिमान मत करिए, क्योंकि आपकी वल्लभा कीर्ति इस छोटे से ब्रह्मांडरूपी घर के अंदर अपने अत्यंत विशाल शरीर को सिकोड़ कर बड़े कष्ट से रहती है—जो आप अपनी वल्लभा के कष्ट का भी निवारण नहीं कर सकते उनकी यह कीर्ति व्यर्थ ही है कि आप सब लोगों की आपत्ति नष्ट करते हैं।

यहाँ ब्रह्मांड की अतिसूक्ष्मता की कल्पना द्वारा आधेय कीर्त्ति की परम महत्ता फलित होती है। इसके द्वारा व्याजस्तुति का परिपोषण होता है।

गिरामविषयो राजन्विस्तारस्तव चेतसः।
सावकाशतया यत्र शेते विश्वाश्रयो हरिः॥

हे राजन्! आप के चित्त का विस्तार वाणी का विषय नहीं है, जिसमें जगन्निवास भगवान् सावकाशता से सोते हैं।

यहाँ 'सावकाशता से' इस कथन के द्वारा कल्पित आधेय की न्यूनता से आधार की महत्ता पर्यवसित होती है।

और यदि 'सावकाशता से' इसको विशेषणरूप में 'विश्वाश्रय (जगन्निवास)' के साथ भी जोड़ दिया जाय—अर्थात् जो सारे जगत् के सावकाशता से आश्रय हैं—यह भी समझा जाय तो *शृंखलारूप* आधाराधिकालंकार का भी यही उदाहरण हो सकता है। (तात्पर्य यह है कि—'सावकाशतया विश्वाश्रयो हरिः सावकाशतया यत्र शेते' इस तरह 'सावकाशतया' शब्द की आवृत्ति करके अन्वय करने पर इसका अर्थ यह होगा कि 'जिस हरि में सावकाशतया विश्व की स्थिति है वह हरि जिस चित्त में सावकाशतया सोते हैं' ऐसी स्थिति में विश्व का सावकाश आधार हुए हरि, और उनका सावकाश आधार हुआ चित्त। अतः उत्तरोत्तर का पूर्व पूर्व में संसर्ग होने से और दोनों ही जगह आधार की अधिकता की कल्पना होने से यह *शृंखलारूप* आधाराधिकालंकार का उदाहरण भी हो जाता है।) (*शृंखला* का लक्षण कारणमाला अलंकार के आरंभ में देखिये)

ब्रह्माण्डमण्डले मान्ति न ये पिण्डीकृता अपि।
परस्परापरिचिता वसन्ति त्वयि ते गुणाः॥

जो गुण पिंडीकृत होकर (सिकुड़कर) भी ब्रह्मांडमंडल में नहीं समाते वे गुण आप के अंदर परस्पर अपरिचित होकर निवास करते हैं।

यहाँ दोनों प्रकार के (आधाराधिक्य और आधेयाधिक्य) अलंकार की समानाधिकरणता है—अर्थात् दोनों एकसाथ आए हैं, क्योंकि पूर्वार्ध में आधेय की अधिकता की कल्पना की गई है और उत्तरार्ध में आधार की अधिकता की।

अतिव्याप्ति का निरास

लक्षण में 'कल्पना' शब्द से यह सूचित किया गया है कि—जहाँ आधार और आधेय में से किसी एक की वस्तुतः न्यूनता अथवा अधिकता होती है वहाँ इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है। सो इस तरह—

क्वाहं तमोमहदहंखचराग्निवाभू-
संवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः।
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्या-
वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम् ॥

प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी इन आठ आवरणों से वेष्टित इस ब्रह्मांड में, जिसका केवल सात वितस्ति (बित्ते) का शरीर है ऐसा, मैं कहाँ ? और ऐसे अगणित ब्रह्मांडरूपी परमाणु, गवाक्ष (झरोखा) के समान जिनके रोमविवर (रोमकूप) में, भ्रमण करते हैं, उन आपकी महिमा कहाँ ?

यह श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध में ब्रह्मस्तुति का पद्य इस अलंकार का उदाहरण नहीं हो सकता, क्योंकि दिशाकाल आदि से अन-

वच्छिन्न परमेश्वर की महिमा सब वेदों से सिद्ध है, अतः उसे कवि-प्रतिभानिर्मित नहीं कहा जा सकता। अतएव—

"द्यौरत्र क्वचिदाश्रिता प्रविततं पातालमत्र क्वचि-
त्क्वाप्यत्रैव धराधराधरजलाधारावधिर्वर्तते।
स्फीतस्फीतमहो नभः कियदिदं यस्येत्थमेभिः स्थितै-
र्दूरे पूरणमस्तु शून्यमिति यन्नामापि नास्तं गतम्॥

इसमें किसी जगह स्वर्ग ने आश्रय लिया है, कहीं विस्तृत पाताल है, इसी में कहीं समुद्र पर्यंत पृथ्वी वर्तमान है और यह अतिविस्तृत आकाश भी जिसके लिए कितना सा है, इस तरह इन सब के रहने पर भी उसकी पूर्ति तो दूर रही, परंतु जिसका 'शून्य' यह नाम भी निवृत्त नहीं हुआ।"

यह 'अलंकारसर्वस्वकार' ने जो उदाहरण दिया है, उसका भी प्रत्याख्यान हो गया, क्योंकि यहाँ भी वास्तविक वर्णन है, अलंकार नहीं।

अन्योन्यालंकार

लक्षण

दो में से एक दूसरे द्वारा परस्पर विशेषता उत्पन्न करने को अन्योन्यालंकार कहते हैं।

विशेषता क्रियादि के रूप में होती है। जैसे—

सुदृशो जितरत्नजालया सुरतान्तश्रमबिन्दुमालया।
अलिकेन च हेमकान्तिना विदधे कापि रुचिः परस्परम् ॥

सुरत के अंत में सुनयनी के स्वेदबिंदुओं की, रत्नसमूहों की जीतनेवाली, माला ने और सुवर्ण की सी कांतिवाले ललाट ने परस्पर अनिर्वचनीय शोभा का विधान कर दिया।

यहाँ 'गुणरूप विशेषता' का उत्पत्ति है, क्योंकि 'शोभा' गुण है। 'विधान करना' इस क्रिया के रूप में विशेषता की उत्पत्ति की शंका यहाँ नहीं करनी चाहिए, क्योंकि 'विधान करना' का अर्थ यहाँ 'करना' मात्र है और यह एक 'सामान्य भावनारूप' है, अतः चमत्कारी न होने से इसे विशेषता नहीं कहा जा सकता।

'परपूरुषदृष्टिपातवज्राहतिभीता हृदयं प्रियस्य सीता।
अविशत्परकामिनीभुजंगीभयतः सत्वरमेव सोऽपि तस्याः ॥

परपुरुष के दृष्टिपातरूपी वज्र के आघात से डरी हुई सीता अपने प्रिय (भगवान् राम) के हृदय में प्रविष्ट हुई और परस्त्रीरूपी भुजंगी के भय से वह भी तत्काल उसके हृदय में प्रविष्ट हो गए।

यहाँ '(प्रवेशात्मक) क्रियारूप विशेषता' का उत्पादन है।

अप्पय दीक्षित का खंडन

और जो कुवलयानंदकार ने लिखा है—

"यथोर्ध्वाक्षः पिबत्यम्बु पथिको विरलाङ्गुलिः।
तथा प्रपापालिकापि धारां वितनुते तनुम्॥

जिस प्रकार पथिक ऊँचे नेत्र करते हुए अंगुलियों को विरल करके पानी पी रहा है उसी प्रकार प्याऊवाली भी धार को पतली करती जा रही है।

"यहाँ पथिक ने अपनी आसक्ति के कारण पानी देने के बहाने बहुत समय तक अपना मुख दर्शन चाहनेवाली प्याऊवाली का, अंगुलियों को विरल करने द्वारा देरी तक पानी पीने का सिलसिला बनाये रखने से उपकार किया; उसी प्रकार प्याऊवाली ने भी अपना मुख देखने की अभिलाषा वाले पथिक का धार पतली करने द्वारा पानी देने का सिलसिला देरी तक चालू रखकर उपकार किया।" सो उचित नहीं। प्रथम तो यह पदरचना ही आयुष्मान् ग्रंथकर्ता की व्युत्पत्ति-शिथिलता प्रकट करती है। उदाहरणार्थ 'स्वमुखावलोकनमभिलषन्त्याः (अपना मुखदर्शन चाहनेवाली) यहाँ पर 'स्व' शब्द प्याऊवाली का विशेषण बनता है, अतः इसका अर्थ प्याऊवाली ही होना उचित है, पथिक नहीं। इसी प्रकार 'स्वमुखावलोकनमभिलषतः (अपना मुख देखने की अभिलाषावाले) यहाँ भी 'स्व' शब्द का अर्थ पथिक ही होना चाहिए, न कि प्याऊवाली। इस स्थिति में अर्थ की असंगति स्पष्ट ही है।

आप कहेंगे कि—सर्वनामों की शक्ति 'बुद्धिस्थ प्रकार से अवच्छिन्न' में होती है—अर्थात् जिस वस्तु को हमने बुद्धिस्थ कर रखा है वह सर्वनाम का अर्थ होती है, अतः अभीष्टबोध सिद्ध हो जायगा,

क्योंकि आप की बुद्धि में जिस प्रकार 'स्व' शब्दों के अर्थों के अवच्छेदक विशेषण 'प्रपापालिकात्व' और 'पथिकत्व' हैं उसी प्रकार हमारी बुद्धि में 'पथिकत्व, और 'प्रपापालिकात्व' हैं, पर यह उचित नहीं। क्योंकि तत्, इदम्, अस्मद् युष्मद् इत्यादि के समान उन उन के विशेषों की व्युत्पत्ति की भी यहाँ कल्पना करनी पड़ेगी। कहने का तात्पर्य यह कि जिस प्रकार 'तत्' शब्द का प्रयोग परोक्षवर्त्ती के ही लिए हो सकता है और 'इदम्' शब्द का अर्थ प्रत्यक्षवर्त्ती के ही लिए होता है—वहाँ आप यह नहीं कह सकते कि 'तत्' का अर्थ 'प्रत्यक्षवर्त्ती' और 'इदम्' का अर्थ 'परोक्षवर्त्ती' हो सकता है वैसे ही यहाँ भी जो आप चाहें सो अर्थ कर लें यह नहीं बन सकता और यहाँ वह व्युत्पत्ति इस रूप में होगी कि 'स्व' 'निज' आदि शब्द जिसके विशेषण बनाकर लगाए गए हैं, उसके बोधक होते हैं। इसी का फल यह है कि—'स्वदाररतानां विप्राणामहं भक्तः (अपनी पत्नी में आसक्त ब्राह्मणों का मैं भक्त हूँ) और 'देवदत्तस्य पुत्रः स्वमातुर्भक्तः (देवदत्त का पुत्र अपनी माँ का भक्त है) इत्यादिक में किसी भी अभ्रांत को 'मेरी स्त्री में आसक्त' अथवा 'देवदत्त की माता का भक्त' यह प्रतीति स्वरसतः नहीं होती। अतएव व्युत्पन्नशिरोमणि मम्मट भट्ट ने काव्यप्रकाश में कहा है कि—"[1]निजतनुस्वच्छलावण्यवापी संभूताम्भोजशोभां विदधदभिनवो दण्डपादो

1—यह पूरा श्लोक और उसका अर्थ इस प्रकार है—

जङ्घाकाण्डोरुनालो नखकिरणलसत्केसरालीकरालः
प्रत्यग्रालक्तकाभाप्रसरकिसलयो मञ्जुमञ्जीरभृङ्गः।
भर्तुर्नृत्तानुकारे जयति निजतनुस्वच्छलावण्यवापी-
संभूताम्भोजशोभां विदधदभिनवो दण्डपादो भवान्याः॥

भवानी का चरणदंड विजयी है, जो स्वामी (शिवजी) के नृत्त के अनुकरण के समय अपने शरीर के स्वच्छ लावण्यरूपा वापी से उत्पन्न

भवान्याः' यहाँ 'तनु' दंडपाद से संबद्ध प्रतीत होती है और अपेक्षित है भवानी से संबद्ध"।

आप कहेंगे कि यह दूषण (अभवन्मतयोग) श्रुतिकटुत्वादि के समान केवल काव्य के ही विषय में है, न कि साधारण वाक्य में। तो यह उचित नहीं, क्योंकि शब्दव्युत्पत्ति में काव्य का अंतर्भाव नहीं है—अर्थात् शब्दव्युत्पत्ति केवल काव्य में ही हो और अन्यत्र नहीं ऐसा कोई नियम नहीं है। इसके अतिरिक्त उक्त व्युत्पत्ति यदि केवल काव्य के ही विषय में मानी जाय तो यह दोष होगा कि पूर्वोक्त वाक्य का प्रयोग 'मेरी पत्नी में आसक्त' और 'देवदत्त की माता का भक्त' इस तात्पर्य से करने वाले का आप उपहास नहीं कर सकते—उसे शुद्ध मानना पड़ेगा।

दूसरी बात यह है कि लक्षण में जो 'परस्पर का उपकार' लिखा है वह अपने (जिसका उपकार हो रहा है) से भिन्न में रहनेवाले प्रयत्न से सिद्ध होने पर ही चमत्कारी होता है, न कि अपना उपकार अपने आप करने पर, क्योंकि जैसे बरफ को ठंढा करने के लिए दूसरे का प्रयत्न अनावश्यक है उसी प्रकार अपना स्वार्थ भी अपने आप करने में भीं परस्पर का प्रयत्न अनावश्यक होने से चमत्कारिता का अभाव हो जाता है, किंतु प्रकृत उदाहरण में 'धार को पतली करने वाली' द्वारा अन्यमुखदर्शन के लिए प्रयुक्त धार के पतली करने और अँगुलियों को विरल करनेवाले द्वारा चिरकाल तक प्रयुक्त अंगुलियों को विरल करने का उपयोग अपने आप के उपकार में ही चमत्कारी है, न कि दूसरे

कमल की शोभा को धारण करता है, जिस कमल का जंघाकांड (पिंडली) बड़ी डंडी है, जो नख किरणों से सुशोभित केसरों की पंक्ति से कराल (भरा हुआ) है, ताजे आलते की कांति का विस्तार जिसके पल्लव हैं और सुंदर नूपुर जिसके भ्रमर हैं।

द्वारा किए जानेवाले (अपने) चिरकालदर्शन में। तात्पर्य यह कि धार गिरानेवाली इसलिए धार मंदी नहीं कर रही है कि पानी पीनेवाला इसका मुँह देर तक देख सके और इसी प्रकार जल पीनेवाला भी अंगुलियाँ इसलिए विरल नहीं कर रहा है कि धार गिरानेवाली का मुँह देर तक दीखता रहे। इसलिए यह इस अलंकार का अनुदाहरण ही है—इस तरह सहृदयों को विचार करना चाहिए।

अन्योन्यालंकार समाप्त

विशेषालंकार

लक्षण

विशेषालंकार प्रथमतः दो प्रकार का है (१) प्रसिद्ध आश्रय के बिना वर्णन किया जानेवाला आधेय यह एक प्रकार है और (२) एक आधेय का जिस किसी परिमित आधार में रहने पर भी एकसाथ अनेक आधारों में रहने के रूप में वर्णन किया जाय—यह दूसरा प्रकार है।

लक्षण का विवेचन

'एकसाथ (युगपद्)' इस विशेषण के कारण आगे कहे जाने-

वाले पर्याय अलंकार में अतिव्याप्ति नहीं होती। इससे यह भी सिद्ध है कि अन्य ग्रंथों के लक्षण अतिव्याप्तिग्रस्त ही हैं।

इस अलंकार का तीसरा प्रकार प्राचीनों ने यह लिखा है कि—

(३) किसी कार्य को आरंभ करनेवाले द्वारा असंभावित अशक्य अन्य वस्तु का बन जाना।

सो इस तरह इन तीनों में से कोई—एक होना विशेषालंकार का सामान्य लक्षण है।

यह प्राचीनों का कथन है।

इनमें से प्रथम भेद दो प्रकार है (क) आधेय का प्रसिद्ध आधार से भिन्न में रहने का वर्णन और (ख) निराधारत्वेन वर्णन। क्रम से उदाहरण, जैसे—

(१-क)

अये राजान्नाकर्णय कुतुकमाकर्णनयन !
त्वदाधारा कीर्तिर्वसति किल मौलौ दशदिशाम् ।
त्वदेकालम्बोऽयं गुणगणकदम्बो गुणनिधे !
मुखेषु प्रौढानां विलसति कवीनामविरतम् ॥

हे विशालनेत्र राजन् ! आप जिसके आधार हैं वह कीर्ति दशों दिशाओं के मस्तक पर निवास करती है; और हे गुणनिधे ! जिसके एक मात्र आप आलंबन हैं यह गुणावली का समूह प्रौढ कवियों के मुखों में निरंतर क्रीडा कर रहा है।

यहाँ (प्रसिद्ध आधार राजा के बिना) कीर्ति का दिशाओं के

मस्तक पर वर्णन किया गया है और इसी प्रकार गुणगणों का कवियों के मुखों में।

(१-ख)

युक्तं तु याते दिवमासफेन्दौ तदाश्रितानां यदभूद्विनाशः।
इदं तु चित्रं भुवनावकाशे निराश्रया खेलति तस्य कीर्तिः॥

आसफ खाँ रूपी चंद्रमा के स्वर्ग चले जाने पर उनके आश्रितों का जो विनाश हुआ यह तो उचित ही था, किंतु आश्चर्य यह है कि— लोकों (पृथ्वी आदि) के मध्य उनकी कीर्ति निराश्रय खेल रही है।

दूसरा प्रकार (यहाँ आधेय का अनेक आधारों में रहने का वर्णन) जैसे—

नयने सुदृशां, पुरो रिपूणां, वचने वश्यगिरां महाकवीनाम्।
मिथिलापतिनन्दिनीभुजान्तःस्थित एव स्थितिमाप रामचन्द्रः॥

भगवान् रामचंद्र ने मिथिलेशनंदिनी की भुजाओं के मध्य में स्थित रहते हुए ही सुनयनियों के नयन में, शत्रुओं के संमुख और वश्यवाक् महाकवियों के वचन में स्थिति प्राप्त की।

(यहाँ सीता के भुजांतररूपी परिमित आधार में स्थित होते हुए भी श्री रामचंद्रका सुनयनियों के नयन आदि अनेक आधारों में एक-साथ वर्णन किया गया है)

तृतीय प्रकार (किसी कार्य के आरंभ द्वारा अशक्य अन्य वस्तु का बन जाना) जैसे—

कोदण्डच्युतकाण्डमण्डलसमाकीर्णत्रिलोकीतलं
रामं दृष्टवतां रणे दशमुखप्राणापहारोद्यतम्।

दुर्दर्शोऽपि नृणामभूदुरुमरुद्वेगप्रचण्डीकृत-
ज्वालाभिर्जगतीतलं कवलयन्कालानलो गोचरः ॥

रण में रावण के प्राण लेने के लिए उद्यत अतएव धनुष से गिरे हुए बाणसमूह से त्रिलोकीतल को व्याप्त करनेवाले राम को जिन मनुष्यों ने देखा उन मनुष्यों के, महान् वायु के वेग से प्रचंड की हुई ज्वालाओं से पृथ्वीतल को कवलित करता हुआ दुर्दर्श भी प्रलयानल, (नयन-) गोचर हो गया ।

यहाँ राम के दर्शन करनेवालों के लिए 'कालानलदर्शन' रूपी 'अन्य अशक्य वस्तु का बन जाना' बताया गया है ।

इस अलंकार के विषय में प्राचीनों के अभिप्राय

शंका की जा सकती है कि—

लोभाद्वराटिकानां विक्रेतुं तक्रमानिशमटन्त्या ।
लब्धो गोपकिशोर्या मध्येरथ्यं महेन्द्रनीलमणिः ॥

कौड़ियों के लोभ से छाछ बेचने के लिए रात तक भटकती हुई गोपकिशोरी ने गली के बीच महान् इंद्रनीलमणि पा लिया ।

इस 'वक्ष्यमाण प्रहर्षण और विषमालंकार के संकर' में (उक्त) तृतीय भेद की अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि यहाँ 'दही बेचना आरंभ करनेवाली' को नीलमणि की प्राप्ति का वर्णन है, जो 'अननुरूप संसर्ग' और 'साक्षात् प्रयत्न न करने पर भी इष्टार्थ की प्राप्ति' दोनों में से कुछ भी कहा जा सकता है ।

इसका समाधान यह है कि—'अशक्य अन्य वस्तु का बन जाना' इसके साथ 'अशक्य वस्तु का अभेदाध्यवसान जिसका मूल हो' यह

विशेषण और है। सो 'कालानलो वीक्षितः' इस अभी अभी दिए हुए विशेषालंकार के उदाहरण में जैसे अशक्य अन्य वस्तुरूप कालानल का दर्शन 'राम और कालानल के अभेदाध्यवसान' द्वारा अथवा 'राम-दर्शन और कालानलदर्शन के अभेदाध्यवसान' द्वारा बनाया गया है वैसे 'दही बेचने को भटकनेवाली' के साथ 'महेंद्रनीलमणिदर्शन' का अभेदाध्यवसान नहीं है, अतः कोई दोष नहीं। यदि कहो कि भगवान् में नीलमणि के अभेदाध्यवसान से वह बना है, अतः फिर भी दोष निवृत्त नहीं हुआ, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि (लक्षण में) 'किसी कार्य को आरंभ करने वाले द्वारा; इस जगह जो कार्य विशेषणरूप से प्रविष्ट है उसके साथ 'अशक्य अन्य वस्तु का अभेद' विवक्षित है, न कि कहीं भी अभेदाध्यवसान होना, और प्रस्तुत उदाहरण में छाँछ बेचने के साथ नीलमणि के अभेद का अध्यवसान है नहीं।

'विशेष' का अन्य अलंकारों से भेद

यह विशेषालंकार का तृतीय भेद अतिशयोक्ति से भी गतार्थ नहीं होता, क्योंकि उक्त उदाहरण में विषय 'राम' का विषयी 'कालानल' द्वारा निगरण नहीं है। न यह रूपक से ही गतार्थ होता है, क्योंकि विषय और विषयी की समानाधिकरणता न होने से आरोप नहीं बनता। न स्मरणालंकार के द्वारा ही गतार्थ है, क्योंकि 'कालानल' का श्रवण 'देखना' क्रिया के कर्मरूप में है, अतः उसे 'स्मरण' का कर्म सिद्ध नहीं किया जा सकता। सो 'अशक्य अन्य वस्तु का बन जाना' विशेषालंकार का ही भेद है। यह है प्राचीनों का अभिप्राय।

प्राचीनों के अभिप्राय पर विचार

अब इस विषय में विचार किया जाता है—यह (तीसरा प्रकार) विशेषालंकार का भेद है यह कैसे जाना जाता है? क्योंकि रूपकादि के

समान इस अलंकार का कोई सामान्य लक्षण तो है नहीं, जिससे तदंतर्गत होने के कारण 'अशक्य अन्य वस्तु के करने' को हम विशेष का एक भेद स्वीकार करें। आप कहेंगे कि—'इन तीनों में से कोई एक' यह सामान्य लक्षण है, तो यह उचित नहीं, क्योंकि इसी प्रकार से ('कोई एक' कहकर) इसको अन्य किसी अलंकार का भेद भी सहज ही कहा जा सकता है। अनुगत लक्षण के बिना प्राचीनों की उक्ति तो राजाज्ञा मात्र है, उसकी अपेक्षा तो इसको पृथक् अलंकार ही कहना सुंदर है।

दूसरी बात यह है कि 'येन दृष्टोऽसि देव त्वं तेन दृष्टो हुताशनः' अथवा 'तेन दृष्टा वसुंधरा'—अर्थात् हे देव जिसने आपको (क्रोध के समय) देखा उसने अग्नि को देखा, अथवा (क्षमा के समय) पृथ्वी को देखा। 'इत्यादिक में 'अग्निदर्शन' अथवा 'वसुधादर्शन' आदि अन्य वस्तु के अशक्य और असंभावित न होने से प्रकृत (विशेष) अलंकार का संभव नहीं है, अतः यदि वहाँ निदर्शना स्वीकार की जाय तो 'येन दृष्टोऽसि देव त्वं तेन दृष्टः सुरेश्वरः' इत्यादि विशेषालंकार में भी उसी का आश्रय लेना चाहिए, क्योंकि—'अग्निरूप होने' और 'सुरेश्वररूप होने' इन दोनों में कोई चमत्कार का भेद नहीं है। सो इस तरह प्राचीनों के अनुसार हमने जो 'कोदंडच्युत०' इत्यादि उदाहरण दिया है वह भी विशेषालंकार के पथ पर आरूढ होने में असमर्थ ही है।

इसी से "त्वां पश्यता मया लब्धं कल्पवृक्षनिरीक्षणम्—आपको देखते हुए मैंने कल्पवृक्षका दर्शन प्राप्त किया" इत्यादि कुवलयानंदोक्त उदाहरण भी गतार्थ हो जाता है—अर्थात् वहाँ भी निदर्शना ही है, विशेष नहीं।

अतः तृतीय भेद का उदाहरण निम्नलिखित होना चाहिए—

किं नाम तेन न कृतं सुकृतं पुरारे
दासीकृता न खलु का भुवनेषु लक्ष्मीः।
भोगा न के बुभुजिरे विबुधैरलभ्या
येनार्चितोऽसि करुणाकर ! हेलयापि ॥

हे करुणाकर त्रिपुरारि ! जिसने खेल में भी आपकी अर्चना कर ली उसने कौन सुकृत न कर लिया, त्रिलोकी में कौन सी लक्ष्मी को दासी न बना ली और देवताओं से अलभ्य कौन से भोग न भोग लिए।

यहाँ संपूर्ण त्रिवर्ग की प्राप्ति 'अशक्यकरण' है, क्योंकि यहाँ 'भगवदर्चन' से 'सुकृत करने' आदि का सादृश्य विवक्षित नहीं है, जिससे कि निदर्शनादिक की संभावना की जाय (याद रखिए कि निदर्शना सादृश्यमूलक अलंकार है किंतु (अर्चन और त्रिवर्ग प्राप्ति में) कार्यकारणभाव विवक्षित है।

सो इस तरह अब 'अशक्य अन्य वस्तु के बनाने' में 'अभेदाध्यवसानमूलक' यह विशेषण अपेक्षित नहीं। आप कहेंगे कि 'दधि विक्रेतुमटन्त्या' इस पूर्वोक्त उदाहरण में अतिव्याप्ति हो जायगी तो यह कोई दोष नहीं, क्योंकि वहाँ प्रहर्षण और विषम के संकर के साथ विशेष का संकर हमें अभीष्ट है—यह अन्य विद्वान् कहते हैं।

विशेषालंकार समाप्त

———

व्याघात अलंकार

लक्षण

जहाँ एक कर्ता ने जिस कारण से कोई कार्य बनाया हो अथवा बनाना चाहा हो वह कार्य दूसरे कर्त्ता द्वारा उसी कारण से उसके विरुद्ध कार्य के बना देने द्वारा अथवा बना देने की इच्छा द्वारा बिगाड़ दिया जाय उसे व्याघात कहते हैं।

लक्षण का विवेचन

इस व्याघात में पूर्व कर्ता की अपेक्षा अन्य कर्ता में विलक्षणता प्रतीत होने के कारण व्यतिरेक की सिद्धि फल है। यह भी याद रखना चाहिए कि यहाँ कर्ता का अर्थ 'कार्य के उद्देश्य से प्रवर्तमान' यह है।

इस विवक्षा (कथन की इच्छा) का प्रयोजन अभी अभी कहा जा रहा है—

उदाहरण

दीनद्रुमान्वचोभिः खलनिकरैरनुदिनं दलितान्।
पल्लवयन्त्युल्लसिता नित्यं तैरेव सज्जनधुरीणाः ॥

दुष्टसमूहों द्वारा वचनों से प्रतिदिन दलित दीनजनरूपी वृक्षों को सज्जनों में अग्रणी लोग उल्लसित होकर नित्य उन्हीं (वचनों) के द्वारा पल्लवित करते हैं।

यहाँ श्रवण द्वारा उपनीत 'वचनत्व' रूप एक धर्म के द्वारा अभिन्न-रूप में स्वीकृत कठोर और मधुर वचनों की एकता के अध्यवसान से

आपाततः प्रतीत होनेवाला विरोध व्यक्तिगत रूप से भिन्न भिन्न कार्यों की कारणता का विचार करने से निवृत्त हो जाता है, अतः यह अलंकार भी विरोधमूलक है।

प्रत्युदाहरण

पाण्डित्येन प्रचण्डेन येन माद्यन्ति दुर्जनाः।
तेनैव सज्जना रूढा यान्ति शान्तिमनुत्तमाम्॥

जिस प्रचंड पांडित्य से दुर्जन लोग मदमत्त हो जाते हैं, उसी पांडित्य से सुप्रसिद्ध सज्जन लोग सर्वोत्तम शांति को प्राप्त करते हैं।

यहाँ दुर्जन और सज्जनों के (एक ही पांडित्य द्वारा, व्याकरणानुसार) 'मदकर्ता' और 'शमकर्ता' होने पर भी उस उद्देश्य से प्रवृत्ति नहीं है, अतः लक्षणगत 'कर्ता' इस विशेषण द्वारा (क्योंकि कर्त्ता का अर्थ 'कार्य के उद्देश्य से प्रवर्त्तमान' यह ऊपर बताया जा चुका है) इस श्लोक का संग्रह नहीं होता।

कहा जा सकता है कि इसको व्याघात का उदाहरण माना जाय तो क्या दोष है? उत्तर यह है कि आश्रयविशेष के स्वभाव की सहायता से एक ही कारण दो विरुद्ध कार्यों की उत्पत्ति करें इसमें बाधक न होने के कारण (अर्थात् ऐसा होना अविरुद्ध है, अतः) व्याघात का ही अभाव है। सो यह उदाहरण संगत नहीं होता, क्योंकि (केवल) लोकसिद्ध वस्तु (अर्थात् जिसमें कल्पना का पुट न हो वह) काव्यालंकार का स्थान नहीं हो सकती।

दूसरा व्याघात (अर्थात् बनाने चाहे को बिगाड़ना) जैसे—

विमुञ्चसि यदि प्रिय प्रियतमेति मां मन्दिरे
तदा सह नयस्व मां प्रणययन्त्रणायन्त्रितः।

अथ प्रकृतिभीरुरित्यखिलभीतिभङ्गक्षमा-
न जातु भुजमण्डलादवहितो बहिर्भावय ॥

हे प्रिय ! यदि मैं प्रियतमा हूँ इस कारण मुझे घर पर छोड़ रहे हैं तो प्रेम की वेदना से व्यथित आप मुझे साथ ही ले चलिए और यदि मैं स्वभावतः भीरु हूँ इस कारण छोड़ रहे हैं तो संपूर्ण भय के भंग करने में समर्थ भुजमंडल से, सावधान होकर, कभी बाहर न करिए।

यह दंडकारण्य में प्रवेश करने की इच्छा वाले भगवान् राम के प्रति भगवती जानकी का वाक्य है। (यहाँ 'प्रियतमात्व' अथवा 'भीरुत्व' जिन्हें राम 'घर पर छोड़ना चाहने' का कारण मानते हैं उन्हीं द्वारा 'घर पर नहीं छोड़ना' सिद्ध किया जा रहा है)

प्राचीनों का सिद्धांत और उस पर विचार

इस दोनों प्रकार के व्याघात में पूर्वकर्ता के अभीष्ट की बाधा समान है, यह प्राचीनों का सिद्धांत है। जैसा कि उनका उदाहरण है—

"दृशा दग्धं मनसिजं जीवयन्ति दृशैव याः।
विरूपाक्षस्य जयिनीस्ताः स्तुवे वामलोचनाः ॥

दृष्टि से दग्ध कामदेव को जो दृष्टि से ही जिलाती हैं, उन विरूपाक्ष (भोंड़ी आँख वाले—शिव) को जीतनेवाली सुनयनाओं की मैं स्तुति करता हूँ।"

इसपर विचार किया जाता है—उक्त उदाहरण में व्यतिरेक ही अलंकार है, क्योंकि 'जीतने वाली' 'विरूपाक्ष को' और 'सुनयना' इन

शब्दों से व्यतिरेक ही प्रकाशित होता है। कहा जा सकता है कि यहाँ व्यतिरेक के उत्थापकरूप में व्याघात स्थित है, किंतु इस तरह भी व्याघात की अलंकारता सिद्ध नहीं होती। कारण, अलंकार का उत्थापक अलंकार ही होना चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है। "आननेनाकलङ्केन जयतीन्दुं कलङ्किनम्'—अकलंक मुख से कलंकी चंद्रमा को जीत रही है" इत्यादि के समान केवल वस्तु से भी व्यतिरेक का उत्थापन सिद्ध है। व्याघात का उक्त प्रकार वाले व्यतिरेक से पूर्णतया मुक्त कोई विषय नहीं है, जिससे कि उसकी स्वतंत्रता स्वीकार करें। इस कारण यह सिद्ध है कि अलंकारांतर से अविनाभूत (अनिवार्य रूप से संबद्ध) अन्य अलंकारों के समान एक प्रकार का अवांतर चमत्कार इस अलंकार को भिन्न बनाता है। इस विषय में प्राचीनों की उक्ति ही शरण है—युक्ति तो कोई है नहीं।

अप्पय दीक्षित का खंडन

और जो—

"लुब्धो न विसृजत्यर्थं नरो दारिद्र्यशङ्कया।
दातापि विसृजत्यर्थं तयैव ननु शङ्कया॥

लोभी मनुष्य दारिद्र्य की शंका से धन का त्याग नहीं करता और दानी भी उसी शंका (दारिद्र्य की शंका) से धन का त्याग करता है।"

यह कुवलयानंद में उदाहरण दिया गया है, वह ठीक नहीं है। कारण, यहाँ व्याघात ही नहीं है, क्योंकि न तो दाता की इस क्रिया से लुब्ध के कार्य में बाधा पड़ती है और न दाता की बाधा डालने की इच्छा ही है। (इसी से नागेश का यह कथन कि "तात्कालिक और जन्मांतरीय दारिद्र्य की शंका के अभेदाध्यवसान से लक्षण का

समन्वय हो जाता है" यह भी दत्तोत्तर है, क्योंकि यहाँ वह शंका ही नहीं है)।

विरोधमूलक अलंकारों का उपसंहार

इस तरह श्लेष, अतिशयोक्ति आदि उपायों द्वारा उद्घाटित एवं किसी अंश में अभेदाध्यवसान से आरंभमात्र में उत्पन्न किया हुआ बिजली की चमक के समान अनुवृत्तिरहित केवल चमत्काररूप जो विरोध है तन्मूलक विरोधाभास से लेकर व्याघात पर्यंत अलंकारों का निरूपण किया गया।

इन अलंकारों की परस्पर भिन्नता में मतभेद

इस विषय में कुछ विद्वानों का मत है कि ये सब अलंकार भिन्न-भिन्न रूप की विचित्रता को धारण करते हुए भी विरोधाभास के ही भेद हैं, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं, जैसे कि सोने के कंकण आदि भेद।

दूसरा मत है कि-ऐसा मानने से जिनके अंदर सादृश्य रहता है वे रूपक, दीपक आदि भी उपमा के ही भेद हो जाँयगे, अतः बड़ी गड़बड़ होगी, इस कारण यह मानना चाहिए कि इनमें परस्पर केवल छाया का अनुसरण है, किंतु चमत्कार भिन्न-भिन्न है, अतः ये अलंकार भिन्न ही हैं।

व्याघात अलंकार समाप्त

———

शृंखलामूलक अलंकार—

शृंखला का लक्षण

पंक्तिरूप से निबद्ध अर्थों का पूर्व पूर्व का उत्तरोत्तर में अथवा उत्तरोत्तर का पूर्व पूर्व में संसृष्टत्व (संसर्गयुक्त होना) शृंखला कहलाता है।

वह संसृष्टत्व कार्य-कारणता, विशेषण-विशेष्यता आदि नाना रूप का होता है।

शृंखला की स्वतंत्रता पर विचार

यह शृंखला स्वतंत्र रूप में कोई अलंकार नहीं है, क्योंकि आगे कहे जाने वाले भेदों से गतार्थ हो जाती है, कारण उनके अतिरिक्त इसका कोई पृथक् विषय नहीं है। जैसे रूपकादिक में अभेदांश अथवा समानधर्मांश अनुप्राणक रूप में रहने पर भी पृथक् अलंकार नहीं है, इसी प्रकार शृंखला भी पृथक् अलंकार नहीं है—यह कुछ विद्वान् कहते हैं।

दूसरे विद्वान् इस युक्ति को सहन नहीं करते, क्योंकि ऐसा मानने से सावयवादि भेदों से रूपकालंकार और पूर्णा, लुप्ता आदि भेदों से उपमालंकार भी गतार्थ हो जायँगे—अतः वे भी स्वतंत्र अलंकार नहीं माने जा सकेंगे, क्योंकि विशेष से सर्वथा मुक्त सामान्य होता ही नहीं, जिससे उसका विषय पृथक् हो सके। इस कारण कारणमालादिक शृंखला के ही भेद हैं।

इन मतों के तत्त्व का विवेचन आगे किया जायगा।

कारणमाला

लक्षण

वही शृंखला, अनुगुणता (संसृष्टत्व) के कार्यकारणभाव रूप होने पर, कारणमाला कहलाती है।

कारणमाला के भेद

कारणमाला दो प्रकार की है (१) जहाँ पूर्व पूर्व कारण हों और पर पर कार्य हों और (२) जहाँ पूर्व पूर्व कार्य हों और पर पर कारण हों। क्रमशः उदाहरण; जैसे—

(१) लभ्येत पुण्यैर्गृहिणी मनोज्ञा
तया सुपुत्राः परितः पवित्राः ।
स्फीतं यशस्तैः समुदेति नूनं
तेनास्य नित्यः खलु नाकलोकः ॥

पुण्यों से मनोहर पत्नी मिलती है, उससे सर्वथा पवित्र पुत्र प्राप्त होते हैं, उनसे विस्तृत यश का उदय होता है और उससे स्वर्गलोक अनिवार्य है।

(यहाँ पूर्व-पूर्व कारण हैं और पर-पर कार्य; जैसे गृहिणी कारण है पुत्र कार्य; पुत्र कारण है यश कार्य और यश कारण है और अनिवार्य स्वर्ग कार्य) ।

(२) स्वर्गापवर्गौ खलु दानलक्ष्मी-
र्दानं प्रसूते विपुला समृद्धिः ।
समृद्धिमल्पेतरभागधेयं
भाग्यं च शंभो ! तव पादभक्तिः ॥

दान-लक्ष्मी स्वर्ग-अपवर्ग को उत्पन्न करती है, दान को विपुल समृद्धि उत्पन्न करती है, समृद्धि को महान् भाग्य उत्पन्न करता है और हे शम्भो ! भाग्य को आपके चरणों की भक्ति उत्पन्न करती है।

(यहाँ पूर्व-पूर्व कार्य और उत्तरोत्तर कारण हैं; जैसे स्वर्गापवर्ग कार्य हैं और दान-लक्ष्मी कारण, दान कार्य है और समृद्धि कारण, समृद्धि कार्य है और भाग्य कारण और भाग्य कार्य है और शंभु की चरणभक्ति कारण) ।

इस अलंकार में यदि आरंभ में कारण की उक्ति ही प्रस्तुत की जाय तो फिर उसका कारण और फिर उसका भी कारण इस तरह, अथवा प्रस्तुत वस्तु किसी का कारण है और उसका कार्य भी किसी का कारण है इस प्रकार; दोनों ही रूपों में कारणमाला उचित है और जब आरंभ में कार्य की उक्ति हो तब कार्य का कार्य और उसका भी कार्य इस प्रकार अथवा प्रस्तुत वस्तु किसी का कार्य है और उसका कारण भी किसी का कार्य है इस प्रकार कथन उचित है।

किंतु इस अलंकार में यह ध्यान रखना चाहिए कि—पूर्वोक्त भेदों में से चाहे कोई भी भेद हो, कार्यता अथवा कारणता के उपस्थापक जिस शब्द का आदि में प्रयोग किया गया हो उसी शब्द का अंत तक निर्वाह करना चाहिए। इस प्रकार क्रम से निबंधन आकांक्षा के अनुरूप होने के कारण सुंदर होता है, अन्यथा (अर्थात् पर्याय शब्दादि देने से) प्रक्रमभंग हो सकता है। जैसा कि (काव्यप्रकाश में उदाहृत) प्राचीनों के निम्नलिखित पद्य में है—

"जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते।
गुणाधिके पुंसि जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि संपदः॥

जितेंद्रियता विनय का कारण है; विनय से गुणों का प्रकर्ष प्राप्त होता है, अधिक गुण वाले पुरुष में जनता का अनुराग होता है और जनानुराग संपत्तियों का कारण है।"

यहाँ 'जितेंद्रियता विनय का कारण है' यह सुनकर 'जितेंद्रियता का भी कारण क्या है' अथवा 'विनय किसका कारण है' इस रूप में आकांक्षा का उदय होता है, क्योंकि श्रवण के अनुसार (सुनते समय) पहले कारण की ही उपस्थिति होती है।

यद्यपि कहीं कहीं ऐसी आकांक्षा भी होती है कि 'कारण तो जाना

पर इसका कार्य क्या है' यह आकांक्षा कार्यत्व और कारणत्व के (परस्पर) संबंधी पदार्थ होने के कारण श्रवण के अनंतर 'एक-संबंधिज्ञानम् अपरसंबंधिस्मारकं भवति' इस न्याय के अनुसार कार्यत्व की उपस्थिति द्वारा बैठा दी जानी चाहिए, किंतु ऐसी आकांक्षा सर्वत्र नहीं होती, (क्योंकि प्रथम श्रुत वस्तु ही आकांक्षा उठाने में प्रयोजक हो सकती है) इस स्थिति में 'विनय किसका कारण है' इस आकांक्षा की 'विनय से गुणों का प्रकर्ष प्राप्त होता है' यह वाक्य यद्यपि फलतः पूर्ति कर देता है, तथापि साक्षात् पूर्ति नहीं करता, अतः ऐसा कथन हृदयंगम नहीं है। इसी प्रकार 'गुणप्रकर्ष से क्या प्राप्त होता है' इस आकांक्षा में 'अधिक गुण वाले पुरुष में (जनानुराग होता है)' यह कथन भी वैसा ही है।

कहने का अभिप्राय यह है कि जिस रूप में और जिस पद के द्वारा आकांक्षा का उत्थान हो उसी रूप में और उसी पद द्वारा आकांक्षा की पूर्ति अपेक्षित है।

कहा जायगा कि यदि उसी पद की पुनरावृत्ति की जायगी तो 'कथितपदता' दोष होगा, तो इसका उत्तर यह है कि इस अलंकार में कथितपदता दोष नहीं है, प्रत्युत किसी अन्य पद द्वारा उस अर्थ के कहने पर जैसे रूपांतर से स्थित नट का पहिचानना कठिन होता है वैसे पहिचानने में रुकावट आने के कारण विवक्षित अर्थ की सिद्धि अकुंठित नहीं रहती, अतः दोष होगा, क्योंकि शब्द से जो अर्थ उपस्थित होता है उस अर्थ में 'प्रवृत्तिनिमित्त' (जैसे घट में घटत्व, गौ में गोत्व आदि) के समान शब्द भी विशेषणरूप से भासित होता है, जैसा कि कहा है—

"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।

ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जिसमें शब्द का अनुगम न हो।"

दूसरे, प्रत्येक शब्द का (चाहे वे पर्याय ही क्यों न हों) विशिष्ट अर्थ, स्वरूप से अभिन्न होने पर भी विशेषण के भेद से कुंड, गोलक आदि शब्दों के समान, विलक्षण प्रतीत होता है। तात्पर्य यह है कि—कुंड और गोलक दोनों ही 'जारज पुत्र' के नाम हैं, किंतु कुंड उसका नाम है जो पति की जीवितावस्था में जार से उत्पन्न हुआ हो और गोलक उसका नाम है जो पति के मर जाने पर जार से उत्पन्न हुआ हो। यहाँ जारजता के रूप में अभिन्न होने पर भी (स्त्री के) जीवितपतित्व और मृतपतित्व विशेषणों के कारण भिन्न अर्थों की प्रतीति होती है। वही बात प्रत्येक पर्याय शब्द में है।

आप कहेंगे कि—कुंड गोलक आदि पदों का प्रवृत्तिनिमित्त जीवितभर्तृकत्व और मृतभर्तृकत्व आदि विशेषणों से घटित है, अतः वहाँ पर भिन्नाकारवाली प्रतीति हो सकती है, किंतु ताम्र, शोण, रक्त इत्यादिक में तो ताम्र आदि शब्दों के शक्तत्वेन (शक्तिप्रतिपाद्य के रूप में) शक्यतानवच्छेदक होने के कारण (अर्थात् ताम्र आदि शब्द अपने वाच्य के शक्यतावच्छेदक में स्वस्वरूपेण प्रविष्ट नहीं होते) और जो गुणगत जातिविशेष (रक्तत्व आदि) शक्यतावच्छेदक है उसके अभिन्न होने के कारण (अर्थात् रक्तत्व, शोणत्व दो भिन्न भिन्न जातियाँ नहीं हैं) अतः अभिन्नाकार प्रतीति ही उचित है। तो यह आपका कथन सत्य है, किंतु आप यह भी सोचिए कि—

"उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च।
संपत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ॥

सूर्य ताम्रवर्ण ही उदय होता है और ताम्रवर्ण ही अस्त होता है। महापुरुषों की संपत्ति और विपत्ति में एकरूपता रहती है।"

इस जगह जिस प्रकार विलक्षणतासे शून्य एकरूपताका बोध होता है, वैसा **'उदेति सविता ताम्रो रक्त एवास्तमेति च'** यहाँ नहीं होता, यह सभीके अनुभवसे सिद्ध है। ऐसी स्थितिमें यद्यपि 'शब्द' प्रवृत्ति निमित्त (घटत्वादि) से भिन्न है, तथापि विलक्षणता की अन्यथानुपपत्ति के कारण और अनुभव के बल से शब्द में शक्य (अर्थ) की विशेषणता सिद्ध है, तब उसके अनुकूल ही शब्दों की व्युत्पत्ति की कल्पना करनी पड़ती है और वह व्युत्पत्ति सामान्य कार्यकारणभावरूप में अभिधा, लक्षणा आदि किसी वृत्ति के संबंध से अर्थविशिष्ट शाब्दबोध के रूप में और शब्दविशिष्ट अर्थ की उपस्थिति के रूप में होती है। और घटत्वादि तत्तत्प्रवृत्तिनिमित्त जिसमें विशेषण रहता है ऐसे बोध के रूप में तथा घटविशिष्ट पदज्ञानत्वादि के रूप में तो विशेष रूप से दूसरा कार्यकारणभाव होता है। इस तरह सामान्य-विशेष कार्यकारणभाव के द्वारा शब्द की भी शक्यार्थ में विशेषणता हो जाती है। सामान्य सामग्री विशेष सामग्री सहित ही ज्ञानजनक होती है अतः कोई दोष नहीं है।

अथवा (दो दो कार्यकारणभाव मानने की अपेक्षा यह सरल मार्ग है कि) अभिधादि वृत्ति के संबंध से घटादिविशिष्ट पदज्ञान के रूप में और घटादि पद तथा घटत्व दोनों जिसके विशेषण हैं ऐसे घटादि जिसके विशेष्य हैं ऐसी उपस्थिति के रूप में (शब्द और अर्थ का) कार्यकारणभाव है। और यह नियम है कि पदार्थोपस्थिति और शाब्द-बोध समानाकार होते हैं अतः शाब्दबोध में भी पद की प्रतीति होती है। यद्यपि घटपद से 'घटत्वप्रकारक घटविशेष्यक' शाब्दबोध ही माना जाता है, अतः पद का भी शाब्दबोध में प्रवेश करने से गौरव दोष दिखाया जा सकता है, तथापि यह जानना चाहिए कि अनुभव के बल से प्रामाणिक गौरव दोषावायक नहीं होता, अतः कोई दोष नहीं।

इस बात को हृदय में रखकर ही भर्तृहरि ने—

"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥

अर्थात् कोई ज्ञान ऐसा नहीं है जो बिना शब्द के अनुगम के हो। सब ज्ञान शब्द से अनुविद्ध सा ही प्रतीत होता है।" यह कहा है।

कारणमाला समाप्त।

एकावली

लक्षण

पूर्वोक्त शृंखला ही संसर्ग के विशेष्यविशेषणभावरूप होने पर एकावली कहलाती है।

विवेचन

एकावली दो प्रकार की है (१) पूर्व पूर्व के उत्तरोत्तर के प्रति विशेष्य होने पर (२) अथवा पूर्व पूर्व के उत्तरोत्तर के प्रति विशेषण होने पर। उनमें से पहले भेद में उत्तरोत्तर जो विशेषण है वह स्थापक और अपोहक भेदों से दो प्रकार का होता है। स्थापक का अर्थ है अपने संबंध के द्वारा विशेष्यतावच्छेदक का नियत करनेवाला और अपोहक का अर्थ है अपने व्यतिरेक (न रहने) द्वारा विशेष्यतावच्छेदक के व्यतिरेक का बोध उत्पन्न करने वाला।

(पूर्व पूर्व के विशेष्य होने का) उदाहरण—

स पण्डितो यः स्वहितार्थदर्शी, हितं च तद्यत्र परानपक्रिया।
परे च ते ये श्रितसाधुभावाः, सा साधुता यत्र चकास्ति केशवः॥

वह पंडित है जिसको अपनी हितकारी वस्तु का ज्ञान हो, हित वह है जिसमें दूसरे का अपकार न हो, दूसरे वे हैं जो सत्पुरुषतायुक्त हों और सत्पुरुषता वह है जिसमें भगवान् केशव शोभित हो रहे हों।

यहाँ पूर्व पूर्व का उत्तरोत्तर स्थापक है। अर्थात् हितार्थदर्शिता पांडित्य की स्थापक है, दूसरों का अपकार न करना हितार्थदर्शिता का स्थापक है—इत्यादि।

नार्यः स यो न स्वहितं समीक्षते न तद्धितं यन्न परानुतोषणम्।
न ते परे यैर्नहि साधुता श्रिता न साधुता सा नहि यत्र माधवः॥

वह सत्पुरुष नहीं है जो अपने हित की समीक्षा नहीं करता, वह हित नहीं है जिससे दूसरे को संतोष न हो, वे दूसरे नहीं हैं जिनने सत्पुरुषता का आश्रय नहीं लिया और वह सत्पुरुषता नहीं है जिसमें भगवान् माधव न हों।

यहाँ पूर्व पूर्व का उत्तरोत्तर अपोहक है। अर्थात् हितसमीक्षा का अभाव आर्यता के अभाव का बोधक है, परसंतोष का अभाव हित-समीक्षा के अभाव का बोधक है—इत्यादि।

यद्यपि स्थापक में भी अपोहकता प्रतीत होती है; जैसे—प्रथम उदाहरण में (जो अपनी हितकारी वस्तु को नहीं जानता वह पंडित नहीं है) इत्यादि; एवं अपोहक में भी स्थापकता प्रतीत होती है; जैसे—दूसरे उदाहरण में 'जो हित की समीक्षा करता है वह सत्पुरुष है' इत्यादि; तथापि प्रतीत होनेवाली अपोहकता और स्थापकता शब्द से उक्त नहीं होती, अतः कोई दोष नहीं।

(पूर्व पूर्व के विशेषण होने पर, जैसे)

धर्मेण बुद्धिस्तव देव शुद्धा बुद्ध्या निबद्धा सहसैव लक्ष्मीः ।
लक्ष्म्या च तुष्टा भुवि सर्वलोका लोकैश्च नीता भुवनेषु कीर्तिः ॥

हे देव ! आपकी बुद्धि धर्म से शुद्ध है, बुद्धि के द्वारा लक्ष्मी सहसा ही बांध ली गई हैं, लक्ष्मी के द्वारा पृथ्वी पर सब लोग संतुष्ट हैं और लोग आपकी कीर्ति सब लोकों में ले गए हैं ।

यहाँ पूर्व पूर्व अपने से अभ्यहित उत्तरोत्तर का विशेषण होता है ।

एकावली और मालादीपक का भेद

इसी एकावली के द्वितीय भेद में पूर्व पूर्व के द्वारा उत्तरोत्तर का जो उपकार किया जाता है वह (धर्म) यदि भिन्नरूप न होकर एक-रूप हो तो यही एकावली का भेद प्राचीनों के द्वारा मालादीपक के नाम से कहा जाता है । जैसा कि काव्यप्रकाशकार ने कहा है—

"मालादीपकमाद्यं चेद्यथोत्तरगुणावहम् ।

अर्थात् यदि पूर्व पूर्व उत्तर उत्तर का उपकार करे तो मालादीपक होता है ।"

माला और दीपक शब्दों में 'माला' शब्द का अर्थ है 'शृंखला' और 'दीप इव' इस व्युत्पत्ति के अनुसार दीपक शब्द का अर्थ है 'दीप के समान अर्थात् जो एक स्थान पर स्थित रहकर सबका उपकार करे' जैसा कि दीपक करता है । तदनुसार मालादीपक शब्द का संमिलित अर्थ हुआ 'सर्वोपकारक क्रियादि से सुशोभित एक देश में स्थित शृंखला', साधारण शब्दों में इसका अर्थ यह हुआ कि जिस शृंखला को एक ही धर्म सुशोभित करता हो वह मालादीपक है ।

सो इस तरह प्राचीनों द्वारा इसका लक्षण दीपकालंकार के प्रकरण में लिख देने मात्र से यह दीपक का भेद है यह भ्रम नहीं करना चाहिए, क्योंकि दीपक के गर्भ में सादृश्य रहता है यह सब आलंकारिकों की मानी हुई बात है और मालादीपक में शृंखला के अवयवभूत पदार्थों का परस्पर सादृश्य ही नहीं है, अतः इसकी दीपकता के कथन पर कैसे श्रद्धा की जाय? इतना ही नहीं, शृंखला में जो पदार्थ आते हैं वे प्रकृताप्रकृत रूप भी नहीं होते। इस चीज का हमने दीपक के प्रकरण में उदाहरण सहित विवेचन कर दिया है, अतः यहाँ अधिक परिश्रम की आवश्यकता नहीं।

इससे कुवलयानंदकार ने जो—

"दीपकैकावलीयोगान्मालादीपकमिष्यते।

अर्थात् दीपक और एकावली के योग से मालादीपक बनता है।"

यह कहा है, यह केवल भ्रांति का ही विलास है। इस पर विद्वानों को विचार करना चाहिए।

एकावली समाप्त

———

सार अलंकार

लक्षण

वही शृंखला संसर्ग के उत्कृष्टापकृष्टत्वरूप होने पर सार कहलाती है।

भेद

सार अलंकार दो प्रकार का होता है—(१) पूर्व पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर के उत्कृष्ट होने पर (२) पूर्व पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर के अपकृष्ट होने पर।

उदाहरण

संसारे चेतनास्तत्र विद्वांसस्तत्र साधवः।
साधुष्वपि स्पृहाहीनास्तेषु धन्या निराशयाः॥

संसार में चेतन, चेतनों में विद्वान्, विद्वानों में परोपकारी, परोपकारियों में स्पृहाहीन और स्पृहाहीनों में भी वासनाहीन धन्य हैं।

इस अलंकार के पुनः दो भेद कहे जाते हैं—(१) एकविषयक (२) अनेकविषयक। एकविषयक सारालंकार में अवस्थादि के भेद का आश्रय लेना आवश्यक है, क्योंकि उत्कर्ष और अपकर्ष बिना भेद के नहीं हो सकते और कोई भी वस्तु बिना अवस्थादि भेदक के अपनी अपेक्षया स्वयं न्यून अथवा अधिक नहीं हो सकती।

एकविषयक उत्तरोत्तर उत्कर्ष,

जैसे—

जम्बीरश्रियमतिलङ्घ्य लीलयैव
व्यानम्रीकृतकमनीयहेमकुम्भौ।
नीलाम्भोरुहनयनेऽधुना कुचौ ते
स्पर्धेते खलु कनकाचलेन सार्धम्॥

हे नीलकमलनयने! तुम्हारे स्तनों ने लीला से ही निम्बू की शोभा का अतिक्रमण करके सुंदर सुवर्णकलशों को नीचा दिखाया और अब वे निश्चय ही कनकाचल के साथ स्पर्धा कर रहे हैं।

यहाँ पूर्व पूर्व अवस्था से युक्त कुचों की अपेक्षा उत्तरोत्तर अवस्था-युक्त कुचों का ही उत्कर्ष वर्णन किया गया है, अतः (वर्णन का विषय केवल कुच होने से) यह एकविषयक सारालंकार है।

यद्यपि किसी के मत में परिमाणभेद से भी द्रव्यभेद कहा जा सकता है, तथापि उनके मत में भी 'कुचत्व' धर्म को लेकर अभेद के सहारे एकविषयता सहज ही सिद्ध की जा सकती है।

पर्याय से सार की गतार्थता नहीं है

यदि इस उदाहरण में आगे कहा जाने वाला एक आधार में क्रम से अनेक आधेयों की स्थिति के रूप में वर्णित 'पर्याय' अलंकार प्रतीत होता है तो उसे भी रहने दीजिए, उसके द्वारा 'पूर्व पूर्व की अपेक्षया उत्तरोत्तर का उत्कर्ष रूप' सार अलंकार अन्यथासिद्ध नहीं किया जा सकता—अर्थात् ऐसे स्थान पर सार अलंकार प्रधान होगा और पर्याया-लंकार गौण।

अनेकविषयक सारालंकार;

जैसे—

गिरयो गुरवस्तेभ्योऽप्युर्वी गुर्वी ततोऽपि जगदण्डम्।
जगदण्डादपि गुरवः प्रलयेऽप्यचला महात्मानः॥

पहाड़ भारी है, पृथ्वी उनसे भी भारी है, उनसे भी ब्रह्मांड भारी है, प्रलय में भी अचल रहनेवाले महात्मा ब्रह्मांड से भारी हैं।

यह अलंकार वेद में भी देखा जाता है—

"महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥

महान् से अव्यक्त पर है, अव्यक्त से पुरुष पर है, पुरुष से पर कुछ नहीं है वह अंतिम मर्यादा है और वही परम गति है।"

प्रथम उदाहरण में गुणकृत उत्कर्ष है और इसमें केवल स्वरूप-कृत है यह विशेषता है। कहा जायगा कि यहाँ भी गुणकृत उत्कर्ष कहना चाहिए। तो यह ठीक नहीं; क्योंकि पुरुष को निर्गुण माना जाता है। आप कहेंगे कि निर्गुण मानने पर भी विनाशरहितता आदि प्रतीयमान गुण ही उत्कर्षक होगा। तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि 'विनाशरहित' आदि गुण को ब्रह्मरूप अधिकरण से भिन्न मानने में कोई प्रमाण नहीं है।

इसी प्रकार अपकर्ष के भी उदाहरण समझने चाहिए।

सारकी शृंखलारूपता पर विचार

किंतु सार के विषय में यह समझना चाहिए कि—एक विषय में शृंखला सुंदर नहीं होती, अतः ऐसी शृंखला से अनुप्राणित सार सुंदरता को धारण नहीं करता, क्योंकि शृंखला 'स्वाभाविक भेद' की अपेक्षा रखती है—एक वस्तु की शृंखला नहीं हो सकती, अतः अवस्थादिकृत भेद में शृंखला का उल्लास नहीं होता। इसी कारण से इस विषय में दूसरे आलंकारिकों ने 'वर्द्धमानक' अलंकार स्वीकार किया है और उसका लक्षण "रूपधर्माभ्यामाधिक्ये वर्धमानकम्—अर्थात् एक ही वस्तु का रूप अथवा धर्म के द्वारा आधिक्य हो तो वर्ध-मानक होता है" यह बनाया है। अतः जिस प्रकार कारणमाला आदि का एकमात्र शृंखला ही विषय है वह बात सार के विषय में नहीं कही जा सकती, क्योंकि ऐसा मानने से एकविषयक सार में अन्य अलंकार स्वीकार करना पड़ेगा।

इस कारण 'गुणस्वरूपाभ्यां पूर्वपूर्ववैशिष्टये सारः—अर्थात् गुण अथवा स्वरूप के द्वारा पूर्व पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर के विशिष्ट होने पर सार अलंकार होता है।' यह सार का लक्षण उचित है। और वह

सार कहीं शृंखला से अनुप्राणित होता है तथा कहीं स्वतंत्र होता है, सो इस तरह अनेकविषयता और एकविषयता दोनों ठीक बैठ जाती हैं।

शृंखला स्वयम् पृथक् अलंकार नहीं है

इस तरह शृंखलाविषयक अलंकारों (कारणमाला, एकावली और सार) की 'विच्छित्ति' की विलक्षणता अनुभवसिद्ध होने के कारण पृथगलंकारता सिद्ध हो जाने पर विरोध, अभेद और साधर्म्य आदि के समान शृंखला में अनुप्राणकता ही उचित है, पृथगलंकारता नहीं। कहा जायगा कि तब पूर्णा, लुप्ता आदि उपमा के भेद भी पृथक् पृथक् अलंकार हो जायँगे तो इसका उत्तर यह है कि उनमें तो विच्छित्ति की की विलक्षणता नहीं है, किंतु उपमा की तिच्छित्ति ही है—ऐसा संप्रदाय है—अर्थात् सदा से माना जाता आया है, इसलिए बखेड़ा उठाना ठीक नहीं।

विच्छित्ति का लक्षण

कहा जायगा—कि यह विच्छित्ति क्या वस्तु है? इसका उत्तर यह है कि—अलंकारों के परस्पर विच्छेद अर्थात् विलक्षणता के हेतुरूप और जन्यतासंसर्ग से काव्य में रहनेवाली कवि की प्रतिभा अथवा कवि की प्रतिभा द्वारा जन्यत्व से प्रयुक्त चमत्कारिता का नाम ही विच्छित्ति है।

सार अलंकार समाप्त

तर्कन्यायमूलक अलंकार

काव्यलिंग

लक्षण

जो अर्थ प्रकृत अर्थ के उपपादक (समर्थक) के रूप में विवक्षित हो किंतु अनुमिति की कारणता से और सामान्यविशेषभाव से अस्पृष्ट हो वह काव्यलिंग कहलाता है।

लक्षण का विवेचन

'उपपादकता' का अर्थ प्रकृत निश्चय के उत्पादक ज्ञान का विषय होना है—अर्थात् जो वस्तु ऐसे ज्ञान का विषय हो जिस ज्ञान के द्वारा प्रकृत वस्तु का निश्चय हो जाय—वह उपपादक कहलाता है। इस लक्षण में 'अनुमिति की कारणता से अस्पृष्ट' यह भाग अनुमान अलंकार में अतिव्याप्ति न होने के लिये और 'सामान्यविशेषभाव से अस्पृष्ट' यह भाग अर्थांतरन्यास में अतिव्याप्ति न होने के लिये दिया गया है। उपमादि के निवारण के लिये 'उपपादक के रूप में' यह लिखा गया है। हेतु अलंकार में यह नियम है कि वहाँ हेतु (व्याकरण द्वारा निश्चित) पञ्चम्यन्तादि शब्दों द्वारा ही प्रतिपादित होना चाहिए, ऐसे 'हेतु अलंकार' के निवारण के लिए 'उपपादक के रूप में विवक्षित' कहा गया है, जिसका अभिप्राय यह है कि काव्यलिंग में हेतु पंचम्यंतादि शब्दों से बोधित नहीं होना चाहिए। अतः—

भयानकत्वात्परिवर्जनीयो दयाश्रयत्वादसि देव सेव्यः।

अर्थात् हे देव ! भयानकता के कारण आप वर्जन करने योग्य हैं और दयालुता के कारण सेवन करने योग्य हैं।

इत्यादि में यह अलंकार नहीं होता, क्योंकि आलंकारिकों ने जिस हेतु में हेतुता व्यंग्य रहती है, सुंदरता के कारण, उसी को काव्यलिंग माना है।

काव्यलिंग के भेद

काव्यलिंग सुबन्तार्थ (नामपद) तिङन्तार्थ (क्रियापद) के रूप में प्रथमतः दो प्रकार का है। इनमें से सुबन्तार्थरूप काव्यलिंग पुनः दो प्रकार का है—जिसका शरीर अन्य शब्द के अर्थ से विशेषित हो ऐसा और शुद्ध एकसुबंतार्थरूप। इनमें से भी प्रथम 'अर्थात् जिसका शरीर अन्यशब्दार्थ से विशेषित हो' उसके दो भेद हैं—साक्षात् अथवा परंपरया वाक्यार्थ से विशेषित और केवल सुबंतार्थ से विशेषित। इसी प्रकार तिङन्तार्थरूप काव्यलिंग के भी दो भेद हैं—एक 'साक्षात् अथवा परंपरा से अन्यवाक्यार्थ से विशेषित' और दूसरा 'केवल सुबंत के अर्थ से विशेषित'। तिङन्तार्थरूप काव्यलिंग का शुद्ध भेद तो असंभव है; क्योंकि कोई भी क्रिया कारक से अवश्य ही विशेषित होती है। शेष आगे निरूपण किया जायगा।

उदाहरण

विनिन्द्यान्युन्मत्तैरपि च परिहार्याणि पतितै-
रवाच्यानि व्रात्यैः सपुलकमपास्यानि पिशुनैः।
हरन्ती लोकानामनवरतमेनांसि कियतां
कदाप्यश्रान्ता त्वं जगति पुनरेका विजयसे॥

हे माता! पागलों से भी निंदनीय, पतितों से भी त्याज्य, व्रात्यों (संस्कारहीनों) से भी अवाच्य और पिशुनों (चुगलखोरों) से भी दूरी-करणीय ऐसे न जाने कितने लोगों के अपराधों को निरंतर हरण करती हुई भी कभी न थकने वाली तूँ एक ही जगत् में सर्वोत्कृष्ट है।

इस पद्य में भगवती भागीरथी का उत्कर्ष अनन्यसाधारण रूप में प्रतिपादित किया गया है—अर्थात् आपके समान और कोई नहीं है। ऐसा उत्कर्ष आपाततः घटित नहीं होता, अतः उसके उपपादन के लिए 'निरंतर सब लोगों के पाप हरण' के साथ 'श्रम का अभाव' हेतुरूप से ग्रहण किया गया है। यह श्रम का अभाव सुबंत ('अश्रांता' पद) का अर्थ है और 'हरंती' इस केवल सुबंत के अर्थ से विशेषित है—अर्थात् केवल सुबंत ही उसका विशेषण है और विशेषरूप है—अर्थात् विशेषरूप में ही विशेष का समर्थक है, सामान्यरूप में नहीं, अतः अर्थांतरन्यास की शंका भी नहीं है।

त्रपन्ते तीर्थानि त्वरितमिह यस्योद्धृतिविधौ
करं कर्णे कुर्वन्त्यपि किल कपालिप्रभृतयः ।
इमं तं मामम्ब ! त्वमय करुणाक्रान्तहृदये
पुनाना सर्वेषामघमथनदर्पं दलयसि ॥

हे अंब ! जिसके उद्धार करने में तीर्थ शीघ्र ही लज्जित होते हैं और शिवजी आदि देवता भी कान में उँगली डाल लेते हैं, ऐसे मुझको पवित्र करती हुई, हे करुणामय हृदयवाली, तुम सभी के पापनाशन के दर्प का दलन करती हो।

यहाँ सब देवता और तीर्थों के दर्प के दलन की सिद्धि के लिए 'स्वयम् अपना पवित्र करना' वक्ता ने लिखा है। यह वस्तु क्षुद्र है, अतः ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य की सिद्धि में असमर्थ होने के कारण अन्य विशेषणों की आकांक्षा रखती है, इसलिये 'तीर्थों का लज्जित होना' और 'शिवजी आदि का उँगली डाल कर कान बंद करना' ये दो वाक्यार्थ 'स्वयम् आप' (माम्)रूपी कर्म द्वारा विशेषक (विशेषित करनेवाले) के रूप में ग्रहण किए गए हैं। उनसे विशिष्ट होकर वैसा पवित्र

करना भागीरथी पर उपारूढ़ होकर उक्त कार्य के उपपादन करने में समर्थ हो जाता है, अतः (दर्पदलन का) हेतु है।

पद्मासनप्रमुखनिर्जरचित्तवृत्ति-
दुष्प्रापदिव्यमहिमन्भवतो गुणौघान्।
तुष्टूषतो मम नितान्तविशृङ्खलस्य
मन्तुं शिशोः शिव ! न मन्तुमिहासि योग्यः ॥

हे ब्रह्मादि देवताओं की चित्तवृत्ति से दुर्लभ दिव्य महिमावाले शिव ! आपके गुणसमूह की स्तुति करने की इच्छा वाले अत्यंत उच्छृंखल मुझ बालक के अपराध को मानने के योग्य आप नहीं हैं—आपको ऐसी उच्छृंखलता पर ध्यान नहीं देना चाहिए।

यहाँ शुद्ध एक सुबंत का अर्थ 'शिशुत्व' अपराध क्षमा करने में हेतु है। 'दिव्यमहिमत्व' और 'अचिंत्य माहात्म्य' जो कि सुबंतार्थ-विशेषितसुबंतार्थरूप हैं, ब्रह्मादि के चित्त द्वारा दुर्लभता में हेतु हैं। इसी प्रकार उक्त विशेषणों से विशिष्ट परमेश्वर के गुणों की स्तुति अपराध में हेतु है और वैसी स्तुति में उच्छृंखलता हेतु है, अतः यह पद्य शुद्ध सुबंतार्थ के उदाहरण में 'विशिष्ट सुबंतार्थ का भी उदाहरण' है।

तवालम्बादम्ब स्फुरदलघुगर्वेण सहसा
मया सर्वेऽवज्ञापुरपथमनीयन्त विबुधाः।
इदानीमौदास्यं यदि भजसि भागीरथि ! तदा
निराधारो हा रोदिमि कथय केषामिह पुरः ॥

हे माता ! आपका आश्रय लेकर अत्यंत अभिमानशाली मैंने सहसा सभी देवताओं को अवज्ञानगर के मार्ग पर पहुँचा दिया, हे

भागीरथि ! अब यदि आप उदासीनता धारण करती हैं तो हाय ! बताइए निराधार मैं किनके सामने जाकर रोऊँ !

यहाँ 'निराधार' आदि शब्दों से ध्वनित वक्ता में रहनेवाले 'सबके द्वारा द्वेष' में अपने द्वारा किया गया 'अवज्ञापुर के मार्ग पर ले जाना' रूपी सुबंतार्थ से विशेषित तिङन्तार्थ उपपादक है।

विश्वास्य मधुरवचनैः साधून्ये वञ्चयन्ति नम्रतया ।
तानपि दधासि मातः काश्यपि ! यातस्तवापि च विवेकः ॥

हे कश्यपपुत्रि माता पृथ्वी ! जो लोग मधुर वचनों से भरोसा देकर नम्रता द्वारा सत्पुरुषों को धोखा देते हैं, उनको भी तुम धारण करती हो (विदित होता है कि) तुम्हारा भी विवेक चला गया है।

यहाँ भी पृथ्वी के विवेकनाश के उपपादन में केवल तिङन्तार्थ 'धारण' का अथवा 'सुबंतार्थ से विशेषित धारण' जो कि 'जनधारण' रूप है, का असामर्थ्य है, अतः 'साधुओं को धोखा देने' रूप पूर्व वाक्यार्थ से विशेषित 'धारण' हेतु है, पूर्ववाक्यार्थ की 'धारण' के प्रति यह विशेषणता 'धारण' के कर्म ('तान्') के विशेषण होने के कारण परंपरया है, साक्षात् नहीं।

काव्यलिंग के ये भेद प्राचीनों के कल्पित पदार्थवाक्यार्थरूप दो भेदों के समान केवल चातुर्यमात्र से कल्पित हैं, विचित्रता की विशेषता इनमें नहीं है।

काव्यलिंग का अनुमान से भेद

अब यह विचार करिए कि अनुमान से—काव्यलिंग में क्या विशेषता है ? कहा जायगा कि—यह तो स्पष्ट है, जो लिंग (हेतु) 'व्याप्यत्व' और 'पक्षधर्मत्व' के द्वारा ज्ञायमान ही अर्थसाधक हो— वह अनुमान है और जो लिंग केवल स्वरूप से ज्ञायमान ही प्रस्तुत

अर्थ का उपपादक हो वह 'काव्यलिंग' कहलाता है—यह विशेषता है। तात्पर्य यह है कि अनुमान में हेतु का व्याप्यत्व (साध्य और हेतु का साथ रहना) और पक्ष (जिसमें साध्य का संदेह है) में रहना अनिवार्य है, किंतु काव्यलिंग में प्राकृतार्थ का उपपादनमात्र ही पर्याप्त है। तो यह कहना उचित नहीं, क्योंकि कोई भी पदार्थ युक्ति होने पर ही उपपादक हो सकता है और जब 'व्यभिचार' अथवा 'पक्ष में न रहना' इन दोनों में से किसी एक का भी ज्ञान होगा तब युक्ति हो नहीं सकती—युक्ति ही बिगड़ जायगी; जैसे पूर्वोक्त उदाहरण—'विनिन्द्या-न्युन्मत्तैः०' इस पद्य में जिस 'श्रमाभाव' (रूप हेतु) का वर्णन है। वह यदि उत्कर्ष से व्यभिचरित है—अर्थात् उससे उत्कर्ष सिद्ध नहीं होता—अथवा भागीरथी (पक्ष) में नहीं रहता है—यह ज्ञान हो जाय तो भागीरथी का सर्वोत्कर्ष कभी सिद्ध नहीं हो सकता और वह तभी सिद्ध हो सकता है जब यह ज्ञान हो कि वैसा श्रमाभाव सर्वोत्कर्ष से अव्यभिचरित है और भागीरथी में रहता है। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि सभी जगह उपपादन तभी हो सकता है जब कि हेतु का उपपाद्य (साध्य) से व्यभिचाररहितता का ज्ञान हो, जहाँ हेतु की अव्यभिचरितता का ज्ञान नहीं होगा वहाँ तो 'यह ऐसा होगा अथवा ऐसा नहीं होगा' इस रूप में संदेह ही होगा, अतः सिद्ध है कि आलं-कारिकों के 'उपपत्ति' 'समर्थन' आदि विलक्षण शब्दों के प्रयोग अनुमिति के मार्ग में ही आ जाते हैं।

कहा जायगा कि 'समर्थना' (समर्थन करना) दृढ प्रतीति का नाम है और अनुमिति दृढ प्रतीति नहीं है। तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जिस दृढ प्रतीति (जैसे भागीरथी में सर्वोत्कर्ष की दृढ प्रतीति) की आप बात कर रहे हैं वह प्रात्यक्षिक तो है नहीं, क्योंकि (किसी इंद्रिय द्वारा होनेवाले ज्ञान का नाम प्रत्यक्ष है और) इसमें इंद्रियसन्निकर्ष का अभाव है और शाब्द भी नहीं है, क्योंकि वहाँ अनुमान की सामग्री

(हेतु) ही बलवती है और इसी कारण मानस प्रतीति भी नहीं है। अतः दृढ प्रतीति मात्र कह देने से क्या फल हुआ?

इसके उत्तर में हम कहते हैं कि आपका कहना सत्य है। काव्यलिंग प्रस्तुत वस्तु का उपपादक होता है और उपपत्ति भी अनुमिति ही है, क्योंकि काव्यलिंग का हेतु यदि व्यभिचारी हो तथापि उस समय व्यभिचार की स्फूर्ति नहीं होती। किंतु इतने पर भी यहाँ 'अनुमानालंकार' का विषय नहीं है, क्योंकि 'अनुमानालंकार' का विषय वहाँ होता है जहाँ कवि श्रोता को जिस हेतु वाली अनुमिति के बोध की इच्छा से काव्य का निर्माण करता है उस लिंग (हेतु) वाला काव्य हो। इसका निष्कर्ष यह है कि जिस काव्य में अनुमान की प्रणाली से हेतु का ज्ञान श्रोता को प्रतीत हो और उसी के द्वारा अनुमिति का वर्णन हो वहाँ अनुमानालंकार होता है और काव्यलिंग के ज्ञान से जो अनुमिति उत्पन्न होती है उसका तो श्रोता को समझाना कवि को इष्ट नहीं। अतएव यहाँ अनुमिति काव्यव्यापार का विषय भी नहीं है। यह दूसरी बात है कि श्रोता को केवल कारणसामग्री के अधीन अनुमिति उत्पन्न हो जाती है, अतः अनुमिति के उत्पन्न हो जाने पर भी यह अनुमानालंकार का विषय नहीं है और 'तस्मिन्मणि-व्रातमहान्धकारे' इस (अनुमानालंकार के उदाहरणरूप में) आगे आनेवाले पद्य में तो श्रोता को अनुमिति का बोध करवाना कवि को इष्ट है, अतः वह अनुमान का विषय है। और सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि कविनिबद्ध किसी अन्य प्रमाता (ज्ञाता) में रहने-वाली अनुमिति अनुमानालंकार को बनाती है और महावाक्यार्थ के निश्चय के अनुकूल श्रोता में रहने वाली अनुमिति काव्यलिंग को बनाती है। सारांश यह कि जिस काव्य में कवि ने अनुमान करनेवाले का भी वर्णन किया हो वह अनुमानालंकार है और जहाँ केवल श्रोता

को ही अनुमान करना पड़े, कवि ने अनुमान का वर्णन न किया हो वहाँ काव्यलिंग है।

सो इस तरह यह सिद्ध हुआ कि काव्यलिंग में अतिव्याप्ति निवारण करने के लिए अनुमानालंकार के लक्षण में प्रविष्ट अनुमिति में 'काव्यव्यापार का विषय' यह विशेषण देना चाहिए, इस प्रकार दोनों का भेद स्पष्ट हो जाता है।

कुवलयानन्द और अलंकारसर्वस्व का खण्डन

कुवलयानंदकार ने जो

"समर्थनीयस्यार्थस्य काव्यलिङ्गं समर्थकम्[1]

अर्थात् समर्थनयोग्य अर्थ के समर्थक को काव्यलिंग कहते हैं"

यह लक्षण बनाया है। उसमें यदि 'सामान्यविशेषभाव से अनालिंगित' यह विशेषण न दिया जाय तो अर्थांतरन्यास में अतिव्याप्ति हो ही जायगी। और जो—

"यत्त्वन्नेत्रसमानकान्ति सलिले मग्नं तदिन्दीवरं
मेघैरन्तरितः प्रिये! तव मुखच्छायानुकारः शशी।
येऽपि त्वद्गमनानुकारिगतयस्ते राजहंसा गता-
स्त्वत्सादृश्यविनोदमात्रमपि मे दैवेन न क्षम्यते॥

हे प्रिये! जो नीलकमल तुम्हारे नेत्र के समान कांति वाला है वह जल में मग्न हो गया, तुम्हारे मुख की कांति का अनुकरण करने वाला चंद्रमा मेघों द्वारा ढक लिया गया और जिन राजहंसों की गति

---

१ कुवलयानंद में 'समर्थनम्' पाठ है।

तुम्हारे गमन का अनुकरण करती है वे भी चले गये। दैव (मेरे लिए) तुम्हारे सादृश्य के विनोदमात्र को भी नहीं सहन करता।

मृग्यश्च दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षास्तवागतिज्ञं समबोधयन्माम्।
व्यापारयन्त्यो दिशि दक्षिणस्यामुत्पक्ष्मराजीनि विलोचनानि ॥

राम कहते हैं कि हे सीते! दर्भांकुरों की परवाह न करती हुई मृगियाँ भी तुम्हारे गति न जाननेवाले मुझे, दक्षिण दिशा की तरफ जिनके पलकों की पंक्तियाँ उठी हुई हैं ऐसे नेत्रों को व्यापृत करती हुई, समझा रही थीं।

यहाँ प्रथम उदाहरण में अनेकवाक्यार्थरूप तीन चरणों का अर्थ (नील कमल का डूब जाना, चंद्रमा का मेघ में छिप जाना और राज-हंसों का चला जाना) चतुर्थ चरण के अर्थ (दैव सहन नहीं करता) में हेतु है और दूसरे उदाहरण में 'समझाने में व्यापृत करती हुई' इस प्रकार मृगियों के विशेषणरूप में आया हुआ अनेक पदों का अर्थ हेतु के रूप में कहा गया है।"

यह अलंकारसर्वस्वकार ने कहा है और कुवलयानंदकारने इसका अनुमोदन किया है। ये दोनों ही ठीक नहीं। कारण, अनुमान और अर्थांतरन्यास के विषय में हेत्वलंकार (काव्यलिंग) नहीं होता—यह सर्वसम्मत है, अन्यथा उनका उच्छेद ही हो जायगा और यह है अनुमान का ही विषय, क्योंकि प्रथम पद्य के चतुर्थ चरण में 'दैव' रूपी पक्ष में 'नायिका के अंगों के सादृश्य के दर्शन से उत्पन्न होने वाले सुख की असहिष्णुता' रूपी 'साध्य' की सिद्धि 'तत्तत् अंगों के सादृश्य के आधार की विघटकता' रूपी हेतु द्वारा स्पष्ट प्रतीत हो रही है। इस अनुमान का प्रयोग इस प्रकार होगा—'दैव नायिका के अंग के सादृश्य के दर्शन से उत्पन्न मेरे अभीष्ट सुख का असहिष्णु है, क्योंकि नायिका

के तत्तत् अंगों के सादृश्य के आधार का विघटक है, जैसे मेरे शत्रुरूप यज्ञदत्तादिक।'

'मृग्यश्च' इस दूसरे पद्य में यद्यपि वक्ता में रहनेवाले 'समझाने' का 'ज्ञायमान मृगियों के नेत्र का व्यापार' उत्पादक है तथापि यह उत्पादकता अनुमिति की कारणता से अतिरिक्त नहीं है, अतः (यहाँ भी) अनुमानालंकार ही उचित है।

हाँ इतनी विशेषता अवश्य है कि पूर्व पद्य में अनुमिति व्यंग्य है और यहाँ 'समबोधयन्—समझा रहीं थीं' से वाच्य है—अर्थात् 'समझा रहीं थीं' का अर्थ है 'अनुमान करवा रही थीं'। इस अनुमान का प्रयोग 'मृगियाँ दक्षिणानिल के संपर्क[1] से युक्त हैं, क्योंकि वे दक्षिण की ओर विलक्षण नेत्र व्यापार से युक्त हैं' यह है और विलक्षणता उठी हुई पलकों की पंक्तियों के द्वारा बतायी हुई समझनी चाहिए।

काव्यलिंग की अलंकारता

काव्यलिंग के विषय में कहा जाता है कि काव्यलिंग अलंकार नहीं है, क्योंकि इसमें विचित्रतारूप विच्छित्तिविशेष का अभाव है। 'विच्छित्तिविशेष' का अर्थ है 'जन्यता संसर्ग से कवि का प्रतिभाविशेष' अथवा 'कविप्रतिभा से निर्मितता के कारण होनेवाला चमत्कार-विशेष' जैसा कि पहले कहा जा चुका है। इन दोनों में से एक का भी यहाँ सम्भव नहीं है, क्योंकि हेतुहेतुमद्भाव का नाम काव्यलिंग है और वह है वस्तुसिद्ध, अर्थात् प्रत्येक वस्तु में रहनेवाला स्वभावसिद्ध

१—यहाँ लेखाशुद्धि प्रतीत होती है, क्योंकि 'दक्षिणानिल के संपर्क की न तो पद्य में ही चर्चा है और न उक्त संपर्क की सिद्धि से यहाँ कोई प्रयोजन ही है, पर दोनों संस्करणों में यही पाठ है। शुद्ध पुस्तकांतर के अभाव में इसे शुद्ध करना संभव नहीं। —अनुवादक।

धर्म, अतः उसमें 'कविप्रतिभा से निर्मितता' का संबंध ही नहीं है और जब 'कविप्रतिभा से निर्मितता' का संबंध नहीं है तो चमत्कार भी दुर्लभ है।

यदि कहा जाय कि 'श्लेषादि के मिश्रण से यहाँ भी विच्छित्ति-विशेष है' तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि वह विच्छित्तिविशेष श्लेषादि के अंश के कारण होता है (न कि हेतुहेतुमद्‌भाव के कारण), अतः फिर भी काव्यलिंग की अलंकारता सिद्ध न हो सकी।

जहाँ पर उपस्कारक की विचित्रता से उस उपस्कारक द्वारा उपस्कार्य की विचित्रता विलक्षण हो वहाँ भले ही उपस्कारक की अपेक्षा उपस्कार्य की पृथगलंकारता हो, जैसे अतिशयोक्ति की तथा हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा की अलंकारता। किंतु जहाँ उपस्कारक (श्लेष) की विचित्रता में ही विश्राम हो जाता है वहाँ उपस्कार्य अलंकार नहीं ही है, जैसे प्रस्तुत (अर्थात् काव्यलिंग) में।

कहा जायगा कि तब तो प्राचीनों से स्वीकृत अनेक अलंकार अन-लंकार हो जायँगे, तो वे कहते हैं कि होने दो, हमारा क्या बिगड़ा? अतः उनका कहना है कि काव्यलिंग 'निर्हेतुरूप दोषाभाव' ही है, अलंकार नहीं।

काव्यलिंग समाप्त

———

अर्थान्तरन्यास

लक्षण

सामान्य से विशेष का अथवा विशेष से सामान्य का जो समर्थन होता है उसे अर्थान्तरन्यास कहते हैं।

लक्षण का विवेचन

समर्थन का अर्थ है 'यह ऐसा होगा या ऐसा न होगा' इस संदेह-का प्रतिबंध करने वाली 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार की दृढ प्रतीति अर्थात् निश्चय।

इस अलंकार में प्रकृत सामान्य और विशेष की समर्थनीयता और अप्रकृत विशेष और सामान्य की समर्थकता प्रायः देखी जाती है।

अर्थान्तरन्यास के भेद

यह समर्थन दो प्रकार का होता है (१) साधर्म्य द्वारा और (२) वैधर्म्य द्वारा

(१) सामान्य से विशेष का समर्थन, साधर्म्य द्वारा; जैसे

करिकुम्भतुलामुरोजयोः क्रियमाणां कविभिर्विशृङ्खलैः।
कथमालि शृणोषि सादरं विपरीतग्रहणा हि योषितः॥

हे सखि! उच्छृंखल कवियों द्वारा की जानेवाली स्तनों की करिकुंभ (हाथी के सिर) से तुलना को आदरपूर्वक कैसे सुन लेती हो। निश्चय ही स्त्रियाँ उलटा समझती हैं अर्थात् भ्रमयुक्त होती हैं।

इस पद्य में जिससे कहा जा रहा है उसके द्वारा किए जाने वाले 'अपने कुचों की करिकुंभ से तुलना के सादर श्रवण की अनुचितता' प्रतिपादन की गई है। अनुचितता तभी बन सकती है जब ऐसा सुनना

उसका अनिष्टसाधन हो और अनिष्टसाधनता 'वैसा सुनना इष्टसाधन है इस बुद्धि से श्रवण करने वाली कांता' के भ्रमयुक्त हुए बिना बन नहीं सकती, अतः 'स्त्रीत्व' द्वारा भ्रमयुक्तता का प्रतिपादन किया जा रहा है और वह 'भ्रमयुक्तत्व', जिसे समझाया जा रहा है उस 'स्त्री-विशेष की भ्रमयुक्तता' रूप विशेष का, 'सामान्य' तथा समर्थक है। तात्पर्य यह है कि यहाँ 'सभी स्त्रियाँ भ्रमयुक्त होती हैं' इस सामान्य के द्वारा 'तेरा भ्रमयुक्त होना ठीक ही है' इस विशेष का समर्थन किया गया है।

(२) विशेष से सामान्य का समर्थन साधर्म्य द्वारा; जैसे

उपकारमेव कुरुते विपद्गतः सद्गुणो नितराम्।
मूर्च्छां गतो मृतो वा रोगानपहरति पारदः सकलान्॥

सद्गुणी विपद्ग्रस्त होने पर भी अत्यंत उपकार ही करता है। मूर्च्छित अथवा मृत भी पारद (पारा) सब रोगों का अपहरण करता है।

यहाँ विपद्ग्रस्त सद्गुणी द्वारा किया जाने वाला उपकार सामान्य एवं प्रकृत है, उसका 'मूर्च्छित अथवा मृत पारद द्वारा किया जाने वाला रोग का अपहरण' विशेष है और उदाहरणरूप होने से समर्थक भी है।

सामान्य से विशेष का समर्थन साधर्म्य द्वारा

(३) यदि पारद-वृत्तांत को प्रकृत माना जाय और पूर्वार्ध उत्तरार्ध को उलट दिया जाय तो सामान्य द्वारा विशेष की समर्थकता भी इसी उदाहरण में हो सकती है।

अथवा; जैसे—

अहन्नेको रणे रामो यातुधानाननेकशः ।
असहाया महात्मानो यान्ति कांचन वीरताम् ॥

अकेले राम ने रण में अनेक राक्षसों को मारा । महात्मा लोग असहाय होने पर अनिर्वचनीय वीरता को प्राप्त कर लेते हैं ।

(४) यहाँ विशेष का समर्थक सामान्य है, यदि उलट दिया जाय तो सामान्य का समर्थक विशेष हो जायगा ।

वैधर्म्य द्वारा समर्थन

(५-६) यदि 'असहायाः०' इस उत्तरार्द्ध को हटाकर 'नूनं सहायसंपत्तिमपेक्षन्ते बलोज्झिताः' (निश्चय ही सहायसंपत्ति की अपेक्षा निर्बल करते हैं—बलवान को उसकी कोई आवश्यकता नहीं) ऐसा बना देने पर पूर्वार्धगत विशेष का उत्तरार्धगत 'सामान्य' वैधर्म्य द्वारा समर्थक हो जाता है, और दोनों अर्द्धों को उलट देने पर अर्थात् पूर्वार्ध को उत्तरार्ध और उत्तरार्ध को पूर्वार्ध बना देने पर दुर्बल वृत्तांत के प्रकृत हो जाने की अवस्था में विपरीतता हो जायगी अर्थात् पूर्वार्धगत सामान्य का उत्तरार्धगत विशेष वैधर्म्य द्वारा समर्थक हो जायगा ।

अर्थान्तरन्यास के शाब्द और आर्थ भेद

इस अलङ्कार में शाब्द और आर्थ दोनों प्रकार का 'सामर्थ्य-समर्थकभाव' अलङ्कारता का निमित्त है, काव्यलिङ्ग में 'हेतुहेतुमद्-भाव' के समान केवल आर्थ ही नहीं है । इनमें से जहाँ 'हि' 'यत्' 'यतः' इत्यादि कारणवाचक शब्दों का अभाव हो तो आर्थ अर्थान्तर-न्यास होता है । आर्थ अर्थान्तरन्यास का उदाहरण है 'मूर्छा गतो मृतो वा०' और जहाँ 'हि' 'यत्' 'यतः' आदि का ग्रहण हो वहाँ

शाब्द अर्थान्तरन्यास होता है। उसका भी उदाहरण 'विपरीतग्रहणा हि योषितः' इसमें दिया जा चुका है।

अथवा; जैसे—

भवत्या हि व्रात्याधमपतितपाखण्डिपरिष—
त्परित्राणस्नेहः श्लथयितुमशक्यः खलु यथा।
ममाप्येवं प्रेमा दुरितनिवहेष्वम्ब ! जगति
स्वभावोऽयं सर्वैरपि खलु यतो दुष्परिहरः॥

हे माता ! जैसे आप से व्रात्यों (संस्कारहीनों), अधमों, पतितों और पाखण्डियों के समूह की रक्षा का प्रेम शिथिल नहीं किया जा सकता, वैसे ही जगत में मेरा भी पापसमूहों में प्रेम है, क्योंकि यह स्वभाव सभी के लिए दुस्त्यज है।

यहाँ भगवती भागीरथी का और स्तुतिकर्ता का वृत्तान्त विशेष हैं, उनका समर्थक है चतुर्थचरण से प्रतिपाद्य (स्वभाव की दुस्त्यजतारूपी) सामान्य उसकी समर्थकता 'यतः (क्योंकि)' द्वारा उक्त है (अतः यह अर्थान्तरन्यास शाब्द है)।

अलङ्कारान्तर से भेद

कहा जायगा कि 'सामान्य अर्थ विशेष अर्थ का समर्थक हो' इस कथन का पर्यवसान अन्त में इसी अर्थ में होता है कि सामान्य का व्याप्तिज्ञान विशेष की अनुमिति का प्रयोजक है, यदि ऐसा न माना जाय तो (उक्त उदाहरणों में) 'स्वभावादि के दुस्त्यजत्वादि' का व्यभिचार ज्ञात होने पर भी सामान्य अर्थ विशेष अर्थ का समर्थक होने लगेगा, जो स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस विषय में प्राचीनों का जो यह प्रवाद है कि 'समर्थक द्वारा प्रतीति का स्पष्टीकरणमात्र होता

है', यह न सोचें तब तक ही सुंदर है। अतः यह भेद अनुमान से अतिरिक्त नहीं होता—अर्थात् अर्थान्तरन्यास की अनुमान में अतिव्याप्ति होती ही है। हाँ, विशेष अर्थ से सामान्य अर्थ का समर्थनरूप अर्थान्तरन्यास का भेद अतिरिक्त हो सकता है, क्योंकि वह 'अधिकरण-विशेष में आरूढ़ सहचरज्ञान से उत्पन्न होनेवाले व्याप्तिज्ञान की दृढता' के रूप में प्रतीत होता है, (अतः लिंगपरामर्शजन्य नहीं कहा जा सकता) तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि यह आपकी दलील कवि सुन रहा है जो काव्यालिंगालंकार में यह जान चुका है कि 'कविनिबद्ध अन्य ज्ञाता में रहनेवाली अनुमिति अनुमानालंकार का विषय है' तदनुसार यहाँ दोनों ही अर्थान्तरन्यास के भेदों में अनुमानालंकार का प्रसंग ही नहीं है, कारण, अर्थांतरन्यास में कविनिबद्ध ज्ञाता का वर्णन नहीं रहता।

उदाहरणालंकार से विशेषता

आप कहेंगे कि इतने पर भी विशेष द्वारा सामान्य का समर्थन अर्थांतरन्यास का भेद नहीं हो सकता, क्योंकि पूर्वोक्त उदाहरणालंकार से ही वह गतार्थ हो जाता है। तो यह उचित नहीं; क्योंकि इवादि के प्रयोग का अभाव ही इसमें उससे विलक्षणता है।

कहा जायगा कि ऐसा होने पर भी वाचक के अभाव से इसे आर्थ उदाहरणालंकार कहा जा सकता है, न कि अर्थान्तरन्यास का भेद। तो हम कहते हैं कि अर्थांतरन्यास और उदाहरण में विलक्षणता यह है कि सामान्य अर्थ के समर्थक विशेषवाक्यार्थ की दो गतियाँ हैं (१) केवल अनुवाद्य अंश में विशेषता हो और विधेयांश तो सामान्यगत ही रहे, यह एक (२) और अनुवाद्य विधेय दोनों अंशों में विशेषता हो, यह दूसरी। इनमें से पहली दशा उदाहरणालंकार का विषय है और दूसरी अर्थांतरन्यास के भेद का विषय है। सो इस तरह

'मूर्च्छा गतो मृतो वा निदर्शनं पारदोऽत्र रसः' इस उदाहरणालंकार में आए हुए विशेष (पारद) में 'उपकारमेव कुरुते (उपकार ही करता है ।' यह पूर्वार्धगत सामान्य में आई हुई ही क्रिया यथोक्त रूप से (ज्यों की त्यों) विधेय है, और 'रोगानपहरति पारदः सकलान्' इस अर्थांतरन्यास में आए हुए विशेष में तो पृथक् ग्रहण किए हुए विशेष (रोगानपहरति—रोगों का हरण करता है) के रूप में विधेय है। इससे यह सिद्ध हुआ कि अर्थांतरन्यास के लक्षण में जो 'विशेष के द्वारा' यह लिखा है उसका अर्थ 'अनुवाद्य और विधेय दोनों अंशों में 'विशेष' यह समझना चाहिए। सो उदाहरणालंकार में अतिव्याप्ति नहीं होगी। तात्पर्य यह कि जहाँ विशेष द्वारा समर्थन हो वहाँ समर्थक भाग अनुवाद्य और विधेय दोनो अंशों में केवल विशेष रूप हो तो अर्थांतरन्यास होता है और यदि अनुवाद्य अंशमात्र विशेष हो और विधेयांश सामान्यगत ही रहे तो उदाहरणालंकार होता है।

यदि कहा जाय कि यह थोड़ी सी विशेषता उदाहरणालंकार से इसकी पृथक् अलंकारता सिद्ध नहीं कर सकती, किंतु इसे उसका विशेष (भेद) मात्र सिद्ध करती है, तो इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि उदाहरणालंकार अर्थांतरन्यास का, प्रतिवस्तूपमा दृष्टांत का और अतिशयोक्ति रूपक का ही भेद है। इतना ही नहीं, तब तो यह भी कहा जा सकता है कि स्मरण, भ्रांतिमान् और संदेह भी आर्थी उपमा ही है, क्योंकि उनमें भी थोड़ा सा ही भेद है। (अतः प्राचीनों के भेदों को मान लेना ही उचित है, अन्यथा बड़ी गड़बड़ मचेगी।)

दूसरी बात यह है कि उदाहरणालंकार प्राचीनों के मन को संतुष्ट नहीं करता, उनने उपमा से ही इसका निरास कर दिया है, अतः उनके मत में तो 'विशेष से सामान्य के समर्थन' को अर्थांतरन्यास के अतिरिक्त अन्यत्र प्रवेश करने को अवकाश ही नहीं है। (तात्पर्य यह

कि जो लोग उदाहरणालंकार नहीं मानते, उनकी दृष्टि से तो आपकी युक्ति व्यर्थ ही है, अतः जो हमने बताया है वही ठीक है।

समर्थ्य-समर्थक के क्रम पर विचार

अर्थांतरन्यास में 'प्रतिज्ञा' और 'हेतु' अवयवों[1] के समान समर्थनीय और समर्थक वाक्यों की पूर्वापरता आकांक्षा के क्रम से प्राप्त है—यह नहीं मानना चाहिए, क्योंकि यहाँ यह नियम नहीं है कि 'समर्थनीय' की अनुपपत्ति द्वारा (अर्थात् जिसका समर्थन कर रहे हैं वह सिद्ध नहीं होता, अतः) उठाई हुई आकांक्षा हो तभी 'समर्थक' का कथन हो। कारण, अनुपपत्ति न होने पर भी कवि लोग प्रतीति की विशदता के लिए समर्थक वाक्य कह दिया करते हैं। सो इस तरह यह सिद्ध हुआ कि समर्थनीय और समर्थक वाक्यों की विपरीतता होने पर भी अर्थात् समर्थक वाक्य के प्रथम और समर्थनीय वाक्य के द्वितीय होने पर भी कोई दोष नहीं। जैसे—

दीनानामथ परिहाय शुष्कसस्या-
न्यौदार्यं वहति पयोधरो हिमाद्रौ।
औन्नत्यं विपुलमवाप्य दुर्मदानां
ज्ञातोऽयं क्षितिप! भवादृशां विवेकः॥

१—इसका अभिप्राय यह है कि न्यायशास्त्र में अनुमान करने के लिए 'पंचावयव वाक्य' का प्रयोग किया जाता है—अर्थात् उस वाक्य के पाँच अवयव होते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। वे यथाक्रम आते हैं, क्योंकि उनमें से एक के बोलते ही दूसरे की आकांक्षा हो जाती है। उदाहरणार्थ जैसे आप कहें कि 'पर्वत में अग्नि

बादल गरीबों की सूखती हुई फसलों को छोड़कर हिमालय पर अपनी उदारता दिखलाता है। हे राजन्, विपुल उन्नतता को प्राप्त कर आपके ऐसे दुर्मदों का यह विवेक विदित है।

यह दान द्वारा असंमानित अर्थात् जिसका दान से संमान नहीं किया गया उस विद्वान् का राजा के प्रति कोप-वचन है। इसमें उत्तरार्धगत सामान्य प्रस्तुत है और पूर्वार्धगत विशेष उसका समर्थक है।

इस तरह अप्रकृतों द्वारा प्रकृत के समर्थन के उदाहरण दिए गए हैं। (किंतु इस अलंकार में) प्रकृत से प्रकृत का समर्थन (भी हो सकता है) जैसे—

'कस्तृप्येन्मामिकस्तन्वि ! रमणीयेषु वस्तुषु।
हित्वान्तिकं सरोजिन्याः पश्य याति न षट्पदः ॥

हे कृशांगि ! रमणीय वस्तुओं से किसकी तृप्ति होती है ? देखो, भौंरा कमलिनी के समीप से नहीं हटता।

जलक्रीड़ा के समय 'दूर हटिए' इस तरह कहती कामिनी के प्रति यह नायक की उक्ति है। यहाँ दोनों वृत्तांत प्रकृत हैं।

कहीं प्रकृत से अप्रकृत का समर्थन भी संभव है, परंतु वह अप्रकृत अंत में जाकर प्रकृत में ही पर्यवसन्न हो जाता है, उसका अप्रकृतत्व केवल ऊपरी है, क्योंकि सर्वथा ही अप्रकृत के समर्थन का प्रसंग नहीं आता। जैसे—

है' यह आपका प्रतिज्ञा नामक अवयव हुआ। तो झट दूसरा पूछेगा कि—क्यों ? तब आपको कहना पड़ेगा, क्योंकि 'वहाँ धुआँ है' यह हेतु नामक अवयव हुआ इत्यादि। अतः उनका आकांक्षानुसार क्रम से आना आवश्यक है वह बात यहाँ नहीं है।

प्रभुरपि याचितुकामो भजेत वामोरु ! लाघवं सहसा ।
यदहं त्वयाधरार्थी सपदि विमुख्या निराशतां नीतः ॥

ये वामोरु ! याचना की चाहनावाला स्वामी भी सहसा लाघव को प्राप्त हो जाता है, यतः 'अधर' (का चुंबन) चाहनेवाले मुझे विमुख हुई तुमने तत्काल निराश कर दिया ।

यहाँ कामिनी और कामी के प्रस्तुत वृत्तांतरूपी 'विशेष' द्वारा 'अप्रस्तुत' 'सामान्य'रूप दाता और याचक के वृत्तांत का समर्थन किया जा रहा है ।

अलंकारसर्वस्व और उसकी टीका का खंडन

अलंकारसर्वस्वकारने अर्थांतरन्यास के 'कारण से कार्य का और कार्य से कारण का समर्थन' ये दो भेद भी निरूपण किए हैं, सो उचित नहीं, क्योंकि यह काव्यलिंग का विषय है, अन्यथा—

"वपुःप्रादुर्भावादनुमितमिदं जन्मनि पुरा
पुरारे न क्वापि क्वचिदपि भवन्तं प्रणतवान् ।
नमन् मुक्तः सम्प्रत्यतनुरहमग्रेप्यनतिमान्
महेश ! क्षन्तव्यं तदिदमपराधद्वयमपि ॥

हे त्रिपुरारि ! शरीर के आविर्भाव से मैंने यह अनुमान कर लिया कि मैंने पूर्व जन्म में कहीं और कभी आप को प्रणाम नहीं किया था । इस समय भी नमस्कार करते ही मुक्त होकर शरीररहित हो जाने के कारण आगे भी प्रणामरहित हो रहा हूँ । हे महेश ! मेरे ये दोनों अपराध क्षमा करने योग्य हैं ।"

यह सब आलंकारिकों का संमत काव्यलिंग का उदाहरण असंगत हो जायगा; क्योंकि उत्तरार्ध में दोनों वाक्यार्थ (प्रणाम करने से मुक्त

हो जाना और शरीररहित होना) (प्रणाम न करने के) कारणरूप हैं, अतः यह अर्थांतरन्यास का उदाहरण हो जायगा ।

और जो विमर्शिनीकार ने कहा है कि—"विशेष द्वारा सामान्य का समर्थन होने पर भी जहाँ सामान्य वाक्यार्थ उपपादन की अपेक्षा रखता है वहाँ अर्थांतरन्यास होता है और जहाँ स्वतःसिद्ध के ही विशद करने के लिए उसके एकदेशरूप विशेष का ग्रहण किया जाता है वहाँ उदाहरणालंकार होता है, जैसे—'निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवांकः' इस जगह ।" वह भी उचित नहीं । क्योंकि—

"निजदोषावृतमनसामतिसुन्दरमेव भाति विपरीतम् ।
पश्यति पित्तोपहतः शशिशुभ्रं शङ्खमपि पीतम् ॥

जिनका मन अपने ही दोषों से ढका हुआ है उनको अतिसुंदर भी विपरीत अर्थात् असुंदर प्रतीत होता है । पित्त से उपहत (पांडुरोगी) मनुष्य चंद्रमा के समान श्वेत शंख को भी पीला देखता है ।"

इस प्राचीनसंमत उदाहरण में सामान्य वाक्यार्थ के असंदिग्ध होने के कारण उपपादन की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि 'दोष से भ्रम होता है' इस विषय में पामर पुरुष को भी संशय नहीं होता जिससे कि उपपादन की आवश्यकता हो ।

कहा जायगा कि तर्क के स्थलों के समान यहाँ भी आहार्य संदेह तो हो ही सकता है, तो यह उचित नहीं; क्योंकि ऐसे आहार्य संशय का तो आपके बताए उदाहरणालंकार में भी साम्राज्य है, अतः हमारी बताई हुई व्यवस्था का ही अनुसरण करना चाहिए ।

विकस्वरालंकार का खंडन

कुवलयानंदकारने तो—

"यस्मिन् विशेषसामान्यविशेषाः स विकस्वरः ।

अर्थात् जहाँ विशेष, सामान्य और विशेष हों वह विकस्वरालंकार है" यह लिखा है और—

"अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम्।
एको हि दोषो गुणसंनिपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः।

कुमारसंभव में हिमालय का वर्णन है। कालिदास कहते हैं कि—हिमालय अनंत रत्नों का उत्पत्तिस्थान है, अतः बर्फ उसकी सुंदरता का नाशक नहीं हुआ। गुणों के समूह में एक दोष डूब जाया करता है, जैसे चंद्रमा की किरणों में कलंक।"

यह उदाहरण दिया है। इसके अनंतर—

"कर्णारुन्तुदमन्तरेण रणितं गाहस्व काक! स्वयं
माकन्दं मकरन्दशालिनमिह त्वां मन्महे कोकिलम्।
धन्यानि [1]स्थलसौष्ठवेन कतिचिद्वस्तूनि कस्तूरिकां
नेपालक्षितिपालभालतिलके[2] पङ्के न शङ्केत कः॥

हे काक! तुम कर्णपीड़ाजनक शब्द को छोड़कर मकरंद से सुशोभित किसी आम पर स्वयं उछल-कूद करो, तुम्हें हम कोयल समझेंगे। कुछ वस्तुएँ स्थल की सुंदरता से प्रशस्त हो जाती हैं। नेपालनरेश के भालतिलकस्थ कीचड़ में किसे कस्तूरी की शंका न होगी।"

यह द्वितीय उदाहरण देकर लिखा है कि—"प्रथम उदाहरण में उपमा की रीति से और इस उदाहरण में अर्थांतरन्यास की रीति से विकस्वरालंकार है।"

१-२—कुवलयानंद में 'स्थलवैभवेन' और 'भालपतिते' पाठ है।

यह भी निःसार है, क्योंकि 'उपकारमेव कुरुते' इस हमारे उदाहरणालंकार के उदाहरण में (आपके बताए विशेष, सामान्य और विशेष में) प्राथमिक 'विशेष' न होने से (अर्थात् विशेष और सामान्य मात्र होने से) आपके बताए विकस्वरालंकार का संभव नहीं है, अतः आपको भी कोई (नया) अलंकार कहना ही पड़ेगा, (क्योंकि 'निदर्शनम्' लिखने के कारण केवल समर्थक सामान्य तो वहाँ है नहीं, अतः अर्थांतरन्यास नहीं हो सकता ।) ऐसी दशा में आपके (पूर्वोदाहरण में) 'अर्थांतरन्यास' और 'उदाहरण' की तथा (द्वितीय उदाहरण में) अर्थांतरन्यास के दोनों भेदों की संसृष्टि से ही आपके बताए उदाहरणों की गतार्थता हो जाती है, अतः नवीन अलंकार का स्वीकार अनुचित है, अन्यथा उपमादि के भेद भी जब अंगांगिभाव से सन्निविष्ट हों, तब भी अन्य अलंकार की कल्पना होने लगेगी, और

"वीक्ष्य रामं घनश्यामं ननृतुः शिखिनो वने ।

अर्थात् मेघ के समान श्याम राम को देखकर वन में मोर नाचने लगे ।"

उपमा द्वारा पोषित इस भ्रांति में भी अन्य अलंकार की प्रसक्ति होगी । वहाँ भी कोई नया अलंकार मानना पड़ेगा ।

अर्थांतरन्यास समाप्त

———

अनुमान अलंकार

लक्षण

अनुमितिरूपी ज्ञान के करण (पूर्णतया साधक) को अनुमान कहते हैं।

अनुमिति का अर्थ है जिसमें अनुमितित्व धर्म हो। अनुमितित्व एक प्रकार की जाति है जिसका साक्षी है 'मैं अनुमान करता हूँ' यह साक्षात्कार। अथवा व्याप्ति जिसका प्रकार है ऐसी पक्षधर्मता के, अर्थात् प्रथमतः निश्चित रूप से ज्ञात वस्तु के संदिग्ध स्थान पर किए गए, निश्चय से उत्पन्न ज्ञान को अनुमिति कहते है। इस अनुमिति का कारण 'व्याप्ति जिसका प्रकार है ऐसे लिंग (हेतु) का निश्चय है' यह एक पक्ष का मत है। दूसरों का मत है कि 'व्याप्यत्व से निश्चीयमान लिंग अर्थात् हेतु ही अनुमिति का कारण है'। यह है साधारण अनुमान का लक्षण।

यही अनुमान जब कवि की प्रतिभा से उल्लिखित होने के कारण चमत्कारी हो जाता है तब अनुमान नामक काव्यालंकार कहलाता है।

उदाहरण

जैसे—

तस्मिन्मणिव्रातहतान्धकारे पुरे निशालोपविधानदक्षे।
सद्यो वियुक्ता दिवसावसानं कोकाः सशोकाः कथयन्ति नित्यम्।

वह पुर मणिसमूह से अंधकार नष्ट कर देने के कारण रात्रि का लोप कर देने में निपुण है, अतः वहाँ नित्य ही शोकसहित तत्काल वियुक्त चकई-चकवे दिवस का अवसान कहते हैं। अर्थात् चकई-चकवे के वियोग से ही वहाँ जनता को दिवसावसान का पता चलता है— अंधेरा तो होता ही नहीं।

यहाँ 'कहने' का अर्थ है 'स्पष्ट बोध'। वह अनुमितिरूप है, क्योंकि यह बोध 'चकई-चकवे के वियोग' रूप लिंग के व्याप्यत्वेन निश्चय रूप (अर्थात् जब रात पड़ती है तभी चकई चकवे वियुक्त होते हैं—यह निश्चित है इस निश्चयरूप) करण द्वारा उत्पन्न होता है।

इस अनुमिति में 'अंधकारविशेष' (किसी समय और किसी प्रदेश के अंधकार)के अभाव को अंधकारसामान्याभाव (समस्त अंधकार के अभाव) के रूप में अध्यवसित कर लेने पर 'रात्रि के लोप करने में निपुणता' सिद्ध हो जाने पर 'दिवसावसान की सिद्धि का अभाव' हो जाता है तत्प्रयुक्त है, अर्थात् उसके कारण है, दिवसावसान की अनुमिति। तात्पर्य यह कि मणियों द्वारा नष्ट होनेवाले किसी स्थान के अंधकार को समस्त अंधकार मानकर उस पुर में रात्रि का अदर्शन सिद्ध किया जा रहा है, उस रात्रि के अदर्शन से सिद्ध होता है 'दिवस का अंत न होना' और उस 'दिवस के अंत न होने' की सिद्धि के कारण 'दिवसावसान की अनुमिति' करनी पड़ती है, इसलिए यह अनुमिति कवि की प्रतिभा से उल्लिखित है, वास्तविक नहीं।

यहाँ आगे कहा जाने वाला 'उन्मीलित अलंकार' है—यह नहीं समझना चाहिए; क्योंकि उसकी भी अनुमानरूपता ही सिद्ध की जायगी—अर्थात् वह भी अनुमानांतर्गत ही है; अतः उसमें अतिव्याप्ति दोष नहीं है।

अथवा; जैसे—

अम्लायन्यदरातिकैवकुलान्यग्लासिषुः सत्वरं
दैन्यध्वान्तकदम्बकानि परितो नेशुस्तमां तामसाः।
सन्मार्गाः प्रसरन्ति साधुनलिनान्युल्लासमातन्वते
तन्मन्ये भवतः प्रतापतपनो देव! प्रभातोन्मुखः॥

हे देव ! जो कि शत्रुरूपी कुमुदकुल म्लान हो गए, दीनतारूपी अंधकारसमूह क्षीण हो गए, तामस (निशाचर प्राणी) लुप्त हो गए, सन्मार्ग फैल रहे हैं, सत्पुरुषरूपी कमल उल्लास को प्राप्त हो रहे हैं, अतः मैं मानता हूँ कि आपका प्रतापरवि प्रभातोन्मुख है—अर्थात् उदय हो रहा है।

प्रथम उदाहरण में लिंग लिंगी दोनों शुद्ध (अमिश्रित) हैं और इस उदाहरण में रूपक से अनुप्राणित हैं यह विशेषता है। कवि-प्रतिभोल्लिखितता तो दोनों में स्पष्ट ही है।

उत्प्रेक्षा और अनुमान में भेद

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि जहाँ लिंगलिंगियों (हेतु-हेतुमानों) की विद्यमानता हो वहाँ मन्ये, शंके, अवैमि, जाने इत्यादि पद अनुमिति के बोधक होते हैं और जहाँ उत्प्रेक्षा के निमित्त सादृश्यादि की सत्ता हो वहाँ वे उत्प्रेक्षा के बोधक होते हैं यह इन दोनों में भेद है, अतः—

मन्मथामात्यमायान्तमहं मन्ये महामहम्
चक्षुश्चमत्कृतिं धत्ते यदहो किल कोकिलः।

मैं महोत्सवरूप काम का अमात्य (वसन्त) आ रहा है, यह मानता हूँ, क्योंकि कोयल नेत्रों के चमत्कार का विधान कर रही है—नेत्रों को आनन्द देने लगी है।

इत्यादिक में अनुमान है, उत्प्रेक्षा नहीं (क्योंकि यहाँ किसी से सादृश्य की संभावना नहीं है)।

अनुमान के भेद

यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि (१) जहाँ 'मन्ये' इत्यादि वाचक पदों का ग्रहण हो वहाँ वाच्य अनुमान होता है; जैसे अभी लिखे

('मन्मथामात्य०' इस) उदाहरण में, (२) जहाँ वक्ति, कथयति इत्यादि लक्षक पदों का ग्रहण है, वहाँ लक्ष्य अनुमान होता है; जैसे 'कोकाः सशोकाः०' इत्यादि पूर्वोक्त उदाहरण में, और जहाँ (३) उन दोनों में से किसी एक का भी ग्रहण न हो तथा साध्य द्वारा अनुमिति का आक्षेप हो वहाँ प्रतीयमान (आक्षिप्त) अनुमान होता है; जैसे 'अम्लायन्०' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य का चतुर्थ चरण 'तद् भावी तव देव संप्रति महोमार्तण्डबिम्बोदयः' (हे देव ! अतः इससमय आपके प्रतापसूर्य के मंडल का उदय होनेवाला है) इस तरह बना देने पर, और (४) जहाँ साध्य का भी ग्रहण न हो और लिंगमात्र का ग्रहण हो, साध्य ऊपर से समझा जाय, वहाँ ध्वन्यमान अनुमान होता है; जैसे—

गुञ्जन्ति मञ्जु परितो गत्वा धावन्ति संमुखम् ।
आवर्तन्ते निवर्तन्ते सरसीषु मधुव्रताः ॥

तलइयों में भौंरें मंजु गुंजार कर रहे हैं, चारों ओर जाकर संमुख दौड़ रहे हैं, आते हैं और लौट जाते हैं ।

यहाँ शरदागमरूपी साध्य का अनुमान ध्वनित होता है ।

निष्कृष्ट लक्षण

इस तरह यह व्यवस्था पूर्वोक्त '(अनुमिति का) करण अनुमान है' इस सिद्धांत में संगत नहीं होती, क्योंकि यदि 'ज्ञायमान लिंग' को करण माना जाय तो केवल वाच्यता ही होगी, और यदि 'लिंगज्ञान' को करण माना जाय तो वह वाच्य तथा लक्ष्य दोनों ही रूपों में न हो सकेगा । अतः—

अनुमिति ही अनुमान है—अर्थात् जहाँ कविप्रतिभानिर्मित अनुमिति हो वहाँ अनुमानालंकार होता है ।

यह निष्कृष्ट लक्षण होना चाहिए, क्योंकि अनुमिति वाच्य, लक्ष्य, प्रतीयमान और ध्वन्यमान सब तरह की हो सकती है।

कहा जायगा कि तब इस अलंकार का नाम अनुमित्यलंकार होना चाहिए, अनुमानालंकार नहीं; सो यह कुछ नहीं, क्योंकि अनुमान-शब्द अनुपूर्वक माधातु से ल्युट् प्रत्यय होने पर बनता है और ल्युट् प्रत्यय का करण के समान ही भाव अर्थ में भी विधान है, अतः अनुमान शब्द के 'अनुमिति का करण' और 'अनुमिति' दोनों अर्थ होनेमें कोई बाधा नहीं।

अनुमान समाप्त

यथासंख्यालंकार

लक्षण

नामग्रहण के क्रम से अर्थों का संबंध (अन्वय) यथासंख्य कहलाता है।

विवेचन

'यथासंख्यं' शब्द में 'यथा' के अर्थ में अव्ययीभाव समास है और यथा शब्द का अर्थ है पदार्थानतिवृत्ति—अर्थात् पदार्थ का अतिक्रमण न करना, अतः यहाँ 'यथासंख्य' का अर्थ हुआ संख्या का अतिक्रमण न करना। जिसका अभिप्राय है—पहले का पहले से ही संबंध, दूसरे का दूसरे से ही संबंध इत्यादि क्रम से संबंध होने पर यथा-

संख्य होता है। सो इस तरह 'यथासंख्य' शब्द का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ ही लक्षण है।

उदाहरण

यौवनोद्गमनितान्तशङ्किताः शीलशौर्यबलकान्तिलोभिताः।
संकुचन्ति विकसन्ति राघवे जानकीनयननीरजश्रियः॥

यौवन के उद्गम से अत्यंत शंकित और शील, शौर्य, बल तथा कांति के कारण लोभित जानकी के नयनकमलों की छटाएँ रामचंद्र के विषय में संकुचित और विकसित हो रही हैं।

यहाँ नयनों की छटाएँ यौवनोद्गम के कारण अत्यंत शंकित होकर संकुचित हो रही हैं और शील, शौर्य, बल और कांति से लोभित होकर विकसित हो रही हैं, अतः प्रथम क्रिया का प्रथम विशेषण से विशिष्ट-कर्ता के साथ अन्वय तथा द्वितीय क्रिया का द्वितीय विशेषण से विशिष्ट कर्ता के साथअन्वय है और वह अन्वय शाब्द है, क्योंकि विशेषण और विशेष्य का समास न होने के कारण शब्दों का भी क्रिया के साथ अन्वय है। यहाँ 'लज्जा और औत्सुक्य की संधि' प्रधान व्यंग्य है। अथवा; जैसे—

द्रुमपङ्कजविद्वांसः सर्वसन्तोषपोषकाः।
मुधैव हन्त हन्यन्ते कुठारहिमदुर्जनैः॥

सब के संतोष को पुष्ट करनेवाले वृक्ष, कमल और विद्वान्, खेद है कि, कुठार, हिम और दुर्जनों द्वारा व्यर्थ ही मारे जाते हैं।

यहाँ यथासंख्यालंकार 'दीपक' का अंग रूप है, क्योंकि प्रकृत और अप्रकृत का एक धर्म 'मारे जाते हैं' में अन्वय है।

अथवा जैसे—

'वृन्दा-पितृगहनचरौ कुसुमायुधजनन-हननशक्तिधरौ।
अरि-शूललाञ्छितकरौ भीतिं मे हरिहरौ हरताम् ॥'

वृंदावन और पितृवन (श्मशान) में विचरनेवाले, कामदेव के जनन और हनन की शक्ति धारण करनेवाले, चक्र तथा शूल से चिह्नित कर वाले हरिहर मेरा भय हरण करें।

यहाँ हरि और हर दोनों के पक्ष में 'आर्थ यथासंख्य' है, क्योंकि पहले समस्त का समस्त से अन्वय हो लेने पर अवयवों का अन्वय पीछे से प्रतीत होता है।

इत्यादिक यथासंख्य अलंकार का अपरिमित विषय है।

क्रम से अन्वयबोध पर विचार

अब यह सोचिए कि यथासंख्य अलंकार में जो क्रम से अन्वय-बोध होता है इसका नियामक कौन है ?

(१) इस विषय में कुछ लोगा का कहना है कि 'योग्यताज्ञान ही अन्वयबोध का नियामक है' जैसा कि 'वृन्दापितृगहनचरौ' यहाँ हरि में श्मशानचारिता और हर में वृंदावनचारिता बाधित है, अतः अन्वयबोध नहीं होता। तब हरि में वृंदावनचारिता और हर में श्मशान-चारिता की योग्यता के कारण उत्पन्न होनेवाला इनका अन्वयबोध अंत में क्रमिक अन्वयबोध के रूप में पर्यवसित हो जाता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए।

(२) दूसरे कहते हैं कि योग्यताज्ञान को नियामक मानने पर इस अलंकार में 'क्रमभंग' को दोष नहीं कहा जा सकता, क्योंकि—

कीर्तिप्रतापौ भातस्ते सूर्याचंद्रमसाविव।

(आपके कीर्ति और प्रताप सूर्य-चंद्रमा के समान शोभित होते हैं)

इत्यादि में कीर्ति में चंद्रमा की और प्रताप में सूर्य की सदृशता की योग्यतावशात् ही प्रतीति उत्पन्न हो जायगी, वे क्रम से लिखे जाँय अथवा नहीं। इसका उत्तर यह तो आप दे नहीं सकते कि क्रमिक ही योग्य होता है और क्रमहीन अयोग्य, जिससे यहाँ मुख्यार्थ की क्षति हो, क्योंकि योग्यता तो क्रम और व्युत्क्रम की परवा करती नहीं। परंतु यहाँ मुख्यार्थ की क्षति अनुभवसिद्ध है। अतः कहना पड़ेगा कि (परस्पर) अन्वय रखने वाले समान संख्या वाले पदार्थों के ज्ञान का 'संख्या के अनुसार अन्वय बोध' ही कार्यता का अवच्छेदक होता है— अर्थात् ऐसे पदार्थों का अन्यथा बोध होता ही नहीं (यही नियामक है)। ऐसी स्थिति में 'कार्तिप्रतापौ' इस उदाहरण में यथाश्रुत पदार्थों का 'संख्या के अनुसार अन्वयबोध' बाध के निश्चय से पराहत है, अतः मुख्यार्थ की क्षति होने के कारण क्रमभंग की दोषता का साम्राज्य है— अर्थात् यहाँ क्रमभंग को दोष मानना ही पड़ेगा।

कहा जायगा कि अन्वय रखनेवाले समसंख्य पदार्थों का यदि संख्यानुसार अन्वयबोध व्युत्पत्तिसिद्ध है तो 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' यह (पाणिनि का) सूत्र व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि उक्त सूत्र के उदाहरण 'लोमादि-पामादि-पिच्छादिभ्यः शनेलचः' इत्यादिकों में (पूर्वोक्त) लौकिक सामग्री के बल से ही संख्यानुसार अन्वयबोध सिद्ध है, (तात्पर्य यह कि जब अन्यथाबोध बाधित ही है तो फिर सूत्र बनाने की आवश्यकता ही क्या रह गई) अतः सूत्र व्यर्थ हो जाता है। किंतु जो विद्वान् योग्यतामात्र के बल से यथासंख्यान्वयबोध सिद्ध करते हैं उनके मन में तो जो केवल शास्त्र द्वारा समझनेवाले हैं (जिनको लक्ष्यों का ज्ञान नहीं है) उनको 'किस प्रकृति से किस प्रत्यय का संबंध है' इस रूप में योग्यता का ज्ञान न होने से उनके संख्यानुसार

अन्वयबोध के लिए 'यथासंख्यम्' यह सूत्र है (अतः योग्यताज्ञान की नियामकता ही उचित है) तो यह ठीक नहीं, क्योंकि हमारे हिसाब से भी जो लोग पूर्वोक्त व्युत्पत्ति मे रहित हैं—अर्थात् जिनको यह पता नहीं है कि 'अन्वय रखने वाले समसंख्य पदार्थों का संख्यानुसार ही बोध होता है' वैसे लोगों के बोध के लिए सूत्र की सार्थकता है।

'यथासंख्य' को अलंकार मानना चाहिए या नहीं ?

यहाँ यह समझना चाहिए कि—यथासंख्य के अन्वयबोध को किसी भी प्रकार होने दीजिए—चाहे योग्यता के बल से हो अथवा बोध के बल से ? इस विषय में हमें आग्रह नहीं, किंतु विचारणीय यह है कि 'यथासंख्य' अलंकार-पदवी को कैसे प्राप्त कर सकता है ? क्योंकि इस लोकसिद्ध वस्तु में अलंकारता के जीवनमूल 'कविप्रतिभा-निर्मितत्व' की लेशमात्र भी उपलब्धि नहीं है, जिससे कि इसे अलंकार कहना किंचित् भी उचित हो सके, अतः यथासंख्य 'क्रमभंगरूप दोष' का अभाव ही है। ऐसी स्थिति में भट्ट उद्भट के मतानुयायियों के कथन खोटे पैसे के समान सुंदरतारहित ही हैं—उनका कोई मूल्य नहीं। इससे 'यथासंख्य' को ही 'क्रमालंकार' के नाम से व्यवहार करने-वाले वामन की वाणियों की भी व्याख्या हो जाती है। यह है नवीनों का मत।

यथासंख्य समाप्त

———

पर्याय अलंकार

लक्षण

(१) एक पर्याय है—क्रम से अनेक अधिकरणवाला एक आधेय और (२) दूसरा पर्याय है – क्रम से अनेक आधेयवाला एक अधिकरण। इन दोनों से भिन्न से भिन्न होना अर्थात् इन दोनों में से कोई एक होना पर्याय का सामान्य लक्षण है।

लक्षण का विवेचन

पर्याय शब्द का यौगिक अर्थमात्र पर्याय का लक्षण नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से अतिव्याप्ति हो जाती है। 'परावनुपात्यय इणः' (३-३-३८) इस पाणिनि की स्मृति से (परि+इण्+घञ्=पर्याय) घञ् के उपाधिरूप में (अनुपात्यय =) 'क्रमप्राप्त का अनतिक्रमण' मात्र कहा गया है; उससे 'किसका अनतिक्रमण' यह प्रतीत नहीं होता। न दूसरा ही कोई लक्षण बन सकता है, क्योंकि 'इन दोनों में से एक' न कहने पर लक्षण का निर्वचन ही नहीं हो सकता।

उक्त दोनों लक्षणों में से प्रथम लक्षण में 'क्रम से' इसलिए कहा गया है कि पूर्वोक्त विशेषालंकार के द्वितीय भेद में अतिव्याप्ति न हो। वहाँ अनेक आधारोंमें आधेयका एकसाथ ही संबंध होता है, अतः 'क्रम से' कहने के कारण अतिव्याप्ति नहीं होती और द्वितीय लक्षणमें 'क्रम से' इसलिए कहा गया है कि आगे कहे जानेवाले समुच्चयालंकार में अतिव्याप्ति न हो, क्योंकि वहाँ एक अधिकरण में अनेक आधेयों का एक साथ अन्वय होता है, क्रम से नहीं।

उदाहरण

आयाता कमलासनस्य भवनाद् द्रष्टुं त्रिलोकीतलं
गीर्वाणेषु दिनानि कानिचिदथो नीत्वा पुनः कौतुकात्।

भ्रान्त्वा भूवलये महाकविकुलोपास्या तवास्याम्बुजे
राजन्संप्रति सत्यधामनि गिरां देवी सुखं वर्तते ॥

सरस्वती ब्रह्मलोक से त्रिलोकीतल देखने के लिए आई। इसके बाद उसने कुछ दिन देवताओं में बिताए, तदनंतर कौतुक से महाकविसमूह द्वारा उपासनीय हुई। वह भूमंडल में भ्रमण करके इस समय, हे राजन्, सत्य के निवासस्थान तुम्हारे मुखकमल में सुख से निवास कर रही है।

यहाँ प्रथम चरण में अधिकरण आर्थ (अर्थप्राप्त) है, क्योंकि विश्लेष के अवधिभूत (जहाँ से विश्लेष हुआ) ब्रह्मलोक में पंचमी द्वारा औपश्लेषिक अधिकरण आक्षिप्त हो जाता है। कारण उपश्लेष के बिना विश्लेष सिद्ध नहीं होता—जिसका उपश्लेष ही नहीं उसका विश्लेष कैसा ?

यदि पचमी से अधिकरण का आक्षेप न मानकर 'ब्रह्मलोक में निवास करके आई' इस तरह 'ल्यब्लोपे पंचमी' मानी जाय तब भी ल्यबन्त अर्थ की क्रिया के अधिकरण में पंचमी लाक्षणिक होगी, अतः फिर भी अधिकरण आर्थ ही रहेगा, क्योंकि 'ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च—यह वार्तिक निरूढ लक्षणा का समर्पक है' ऐसा सिद्धांत है।

अन्य तीनों चरणों में तो शाब्द अधिकरण है।

अथवा; जैसे—

मकरालयस्य कुक्षौ स्थित्वा सदनेऽमृताशिनां च चिरम्।
संप्रति निर्दोषे ते राजन्वदनाम्बुजे सुधा वसति ॥

हे राजन्, पहले मकरालय (समुद्र) की कुक्षि में (अर्थात् दुखदायी मगरों के साथ) और फिर अमृत भोजन करने वाले (देवताओं)

के सदन (घर+दुःखदायक) में बहुत समय तक रह कर सुधा इस समय निर्दोष आपके मुखारविंद में वास करती है।

पूर्व उदाहरण में अवरोह (ब्रह्मलोक से भूमंडल तक आगमन) है और इस उदाहरण में आरोह (समुद्र से देव लोक तक गमन) है; और पूर्व पूर्व के त्याग में अरुचि के बीज (मगरों का और अपने—अमृत के—खानेवालों का स्थान होने) का ग्रहण है; यह इस उदाहरण में विशेषता है।

यह तो हुआ प्रथम पर्याय का उदाहरण। अब दूसरा पर्याय; जैसे—

विदूरादाश्चर्यस्तिमितमथ किंचित्परिचया-
दुदञ्चचाञ्चल्यं तदनु परितः स्फारितरुचि।
गुरूणां संघाते सपदि मयि याते समजनि
त्रपाचूर्णत्तारं नयनयुगमिन्दीवरदृशः॥

गुरुजनों के समूह में बैठी हुई कमलनयनी के दोनों नेत्र तत्काल मेरे पहुँचने पर दूर से देखते ही आश्चर्य से निश्चल हो गये, तदनंतर कुछ परिचय होने से उनमें चंचलता उत्पन्न हुई, उसके बाद चारों ओर कांति फैलने लगी और तब लज्जा से कनीनिकाएँ (तारे) घूमने लगीं?

यहाँ किसी खुले स्थल में गुरुजनों की सेवा करती हुई और बहुत दिनों से परदेश गए हुए—जिसके आगमन की संभावना नहीं थी—ऐसे प्रिय को अकस्मात् देखनेवाली नायिका के नयनयुगलरूपी एक अधिकरण में विशेषणरूप से आए हुए निश्चलता आदि आधेयों के एक साथ असंभव होने से तथा (दूरत्व आदि) कारणों के क्रमवश क्रमिकता है।

अथवा; जैसे—

प्रथमं श्रितकञ्जकोरकाभावथ शोभामनुभूय कन्दुकानाम् ।
अधुना श्रयितुं कुचौ यतेते दयिते ते करिशावकुम्भलीलाम् ॥

हे प्रिये ! पहले तुम्हारे कुच कमलमुकुल की आभा धारण करते थे, फिर कंदुकों की शोभा का अनुभव करके अब वे हाथी के बच्चे के कुंभस्थल की लीला के आश्रयणार्थ प्रयत्न कर रहे हैं ।

यहाँ भी कुचत्वधर्म से एकीकृत कुचरूप अधिकरण में परिमाण-विशेषों का क्रमिकत्व है (अतः पर्याय है) और यदि कुचों के पूर्व पूर्व स्वरूप की अपेक्षा उत्तरोत्तर स्वरूप का उत्कर्ष प्रतीत होता है तो एकविषयक सारालंकार भी होने दीजिए (अर्थात् पर्याय और सार का संकर है) । कहा जायगा कि तब पर्याय बाधित हो जायगा, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि पर्याय का विषय है कुचरूप अधिकरण में परिमाणों की क्रमिकता, और सार का विषय है परिमाण का उत्तरोत्तर उत्कर्ष, अतः बाध्यबाधकभाव नहीं है ।

कुवलयानंद का खंडन

और जो कि कुवलयानंदकारने—

"बिम्बोष्ठ एव रागस्ते तन्वि पूर्वमदृश्यत ।
अधुना मृगशावाक्षि हृदयेऽप्येष दृश्यते ॥

हे कृशांगि ! पहले तुम्हारे बिंबोष्ठ में ही राग (रंग) दिखाई देता था, किंतु अब हे मृगनयने ? यह (राग–स्नेह) हृदय में भी दिखाई देता है ।"

इसे 'विकास-पर्याय' के नाम से कहा है, वह चिंतनीय है । क्योंकि एक के संबंध के नाश होने के अनंतर दूसरे का संबंध होने पर ही लोक में पर्याय पद का प्रयोग होता है । और

"श्रोणीबन्धस्त्यजति तनुतां सेवते मध्यभागः
पद्भ्यां मुक्तास्तरलगतयः संश्रिता लोचनाभ्याम् ।
धत्ते वक्षः कुचसचिवतामद्वितीयं तु वक्त्रं
त्वद्गात्राणां गुणविनिमयः कल्पितो यौवनेन ॥

कटिभाग कृशता को छोड़ रहा है और मध्य भाग उसका सेवन कर रहा है, चरणों ने चंचल गतियाँ छोड़ दी हैं और नेत्रों ने ले लीं हैं, वक्षःस्थल कुचों की सहायता ले रहा है और मुख अद्वितीय (अनुपम + सहायकरहित) हो रहा है। उसके (नायिका के) अंगों के गुणों का यौवन ने विनिमय (परस्परपरिवर्तन) कर दिया है।"

इस काव्यप्रकाश के उदाहृत पर्याय में और

"नन्वाश्रयस्थितिरियं तव कालकूट !
केनोत्तरोत्तरविशिष्टपदोपदिष्टा ।
प्रागर्णवस्य हृदये वृषलक्ष्मणोऽथ
कण्ठेऽधुना वससि वाचि पुनः खलानाम् ॥

हे कालकूट (विष) ! तुम्हें उत्तरोत्तर विशिष्ट पद वाली आश्रयों की इस स्थिति का किसने उपदेश दिया है ? पहले तुम समुद्र के हृदय में थे, फिर शिवजी के कंठ में आए, अब दुष्टों की वाणी में रहते हो।"

इत्यादि अलंकारसर्वस्वकार के उदाहृत पर्याय में वैसा ही देखा भी गया है, अतः इस अलंकार के लक्षण में भी 'क्रम' पद से वैसी ही विवक्षा उचित है। इस कारण यहाँ ('बिंबोष्ठ एव' इस पद्य में) एक विषय वाला सारालंकार ही उचित है, जिसे कि अलंकाररत्नाकरादिक 'वर्धमानक' अलंकार कहते हैं और आपने उसका उल्लेख नहीं किया है।

शुद्ध क्रमालंकार

यहाँ यह समझना चाहिए कि—

प्रथमं चुम्बितचरणा जङ्घाजानूरुनाभिहृदयानि ।
आश्लिष्य भावना मे खेलतु विष्णोर्मुखाब्जशोभायाम् ॥

पहले जिसने विष्णु के चरण का चुंबन किया है ऐसी मेरी भावना, (उनके) पिंडली, घुटने, जाँघ, नाभि और हृदय का आलिंगन करके मुख-कमल की शोभा में खेले ।

यहाँ पर्याय अलंकार नहीं है; कारण पर्याय में उत्तरोत्तर संबंध से पहले पूर्व पूर्व का त्याग विवक्षित है, वह यहाँ है नहीं; क्योंकि यहाँ वक्ता को अपनी मुखविषयक भावना की सर्वांगविषयकता अभिप्रेत है, केवल मुखमात्रविषयकता नहीं । तात्पर्य यह कि वक्ता मुख के ध्यान के समय भी पूर्व अंगों के ध्यान को छोड़ना नहीं चाहता, अतएव 'खेले' यह कहा है, न कि मग्न हो जाय ।

इसी तरह—

पूर्वं नयनयोर्लग्ना ततो मग्ना मनस्यभूत् ।
अथ सैव प्रियस्यासीत्सर्ववेदनगोचरा ॥

जो पहले नेत्रों में लगी, फिर मन में मग्न हुई, अब वही प्रियतमा प्रिय के संपूर्ण ज्ञान का विषय बन गई ।

यहाँ भी उक्त रीति से पर्यायालंकार नहीं है, न सारालंकार ही है, क्योंकि उत्तरोत्तर उत्कर्ष अथवा अपकर्ष का अभाव है, अतः ऐसे स्थलों में शुद्ध क्रमालंकार अतिरिक्त है, यह भी कहा जाता है ।

पर्याय के विषय में ज्ञातव्य

यहाँ एक बात और याद रखनी चाहिए—जहाँ आधार, आधेय, उनके संबंध अथवा क्रम, इनमें से कहीं भी कविकल्पना की अपेक्षा हो वहीं यह अलंकार होता है, और जहाँ सर्वांश में लोकसिद्धता हो वहाँ कोई अलंकार नहीं होता। अतएव काव्यप्रकाशकारने 'श्रोणीबन्ध०' और अलंकारसर्वस्वकार ने 'प्रागर्णवस्य०' ये पूर्वोक्त उदाहरण दिए हैं। इन दोनों ही उदाहरणों में आधार के भेद से भिन्न आधेयों को एकता के अध्यवसान से एक कर दिया गया है। हमारे दिए हुए उदाहरणों में तो क्रम भी कल्पित है, क्योंकि ब्रह्मलोक में स्थित देवता से 'हमारी वाणी' का और समुद्र में स्थित सुधा से 'वाणी के माधुर्य' का अभेद अथवा वैसा क्रम लोकसिद्ध नहीं है। ऐसी स्थिति में—

"अधुना पुलिनं तत्र यत्र स्रोतः पुराभवत्।

जहाँ पहले प्रवाह था वहाँ अब पुलिन है।"

यह कुवलयानंद का उदाहरण 'यत्र पूर्वं घटस्तत्राधुना पटः—जहाँ पहले घट था वहाँ पट है' इस वाक्य के समान लौकिकोक्तिमात्र है, अतः उदाहरण देने योग्य नहीं ही है।

पर्याय अलंकार समाप्त

———

परिवृत्ति अलंकार

लक्षण

दूसरे की किसी वस्तु के लेने सहित दूसरे को अपनी किसी वस्तु के समर्पण को परिवृत्ति कहते हैं। जिसे दूसरे शब्दों में क्रय अर्थात् खरीदना कहा जा सकता है।

परिवृत्ति के भेद

परिवृत्ति प्रथमतः दो प्रकार की है—सम परिवृत्ति और विषम परिवृत्ति। समपरिवृत्ति के भी दो भेद हैं—उत्तमों से उत्तमों की और न्यूनों से न्यूनों का। इसी प्रकार विषम परिवृत्ति के भी दो भेद हैं—उत्तमों से न्यूनों की और न्यूनों से उत्तमों की। क्रम से उदाहरण

अङ्गानि दत्त्वा हेमाङ्गि! प्राणान्क्रीणासि चेन्नृणाम्।
युक्तमेतन्न तु पुनर्लोचनाम्बुरुहद्वयम्॥

हे सुवर्णाङ्गि! यदि तुम अंगों को देकर मनुष्यों के प्राण खरीद लेती हो तो यह उचित है, किंतु नेत्ररूपी दो कमल देकर प्राण ले लेती हो यह उचित नहीं।

यहाँ पूर्वार्ध में सम परिवृत्ति है और उत्तरार्ध में तो विषम परिवृत्ति है ही।

आस्थिमालामयीं दत्त्वा मुण्डमालामयीं तनुम्।
गृह्णतां त्वत्पुरस्थानां को लाभः स्मरशासन॥

हे कामारि! अस्थिमालामय शरीर देकर मुण्डमालामय शरीर ग्रहण करनेवाले तुम्हारे नगर—काशी में रहने वालों को क्या लाभ है?

गरिमाणमर्पयित्वा लघिमानं कुचयुगात्कुरङ्गदृशाम् ।
स्वीकुर्वते नमस्ते यूनां धैर्याय निर्विवेकाय ।

तरुणों के विवेकरहित धैर्य, तुम्हें नमस्कार है, जो तुम अपने गौरव का समर्पण करके मृगनयनियों के कुचयुग से लघुता का स्वीकार करते हो ।

किमहं कथयामि योषितामधरं बिम्बफलं समर्प्य याः ।
सुरसानि हरन्ति हा ! विदुषां पुण्यफलानि सत्वरम् ॥

स्त्रियों से मैं क्या कहूँ जो अधर (निम्नकोटि के+ओष्ठरूपी) बिंबफल को देकर, खेद है कि, विद्वानों के सुरस (रसीले+स्वर्गसुखद) पुण्य फलों को (पवित्र फलों को + पुण्य के फलों को) तत्काल हरण कर लेती हैं ।

विवेचन

इन उदाहरणों में लेन-देन का व्यवहार कविकल्पित ही है, वास्तव नहीं । जहाँ वास्तव लेन-देन हो वहाँ यह अलंकार नहीं होता । जैसे—

"क्रीणन्ति प्रविकचलोचनाः समन्तान्
मुक्ताभिर्बदरफलानि यत्र बालाः ।

जहाँ विकसित लोचनवाली बालाएँ मोतियों के द्वारा बेर खरीदती हैं ।" (यहाँ वास्तविक पुरसमृद्धि का वर्णन है, अतः अलंकार नहीं है)

अलंकारसर्वस्व का खण्डन

दूसरी बात यह समझनी चाहिए कि लक्षण में 'दूसरे के लिए किसी वस्तु का समर्पण' इतने तक विवक्षित है, न कि 'अपनी किसी

वस्तु का त्याग मात्र' अर्थात् केवल अपनी वस्तु छोड़ देने से परिवृत्ति अलंकार नहीं होता और न किसी की कोई वस्तु ले लेने मात्र से किंतु वही वस्तु दूसरे को दे दें तब होता है। अन्यथा किसी वस्तु को छोड़कर—

किशोरभावं परिहाय रामा
बभार कामानुगुणां प्रणालीम्।

रमणी ने किशोरता को छोड़कर काम के अनुकूल पथ स्वीकार किया।

यहाँ अतिव्याप्ति हो जायगी।

यदि कहा जाय कि यह भी परिवृत्ति का उदाहरण ही है तो यह उचित नहीं, क्योंकि 'पूर्वावस्था छोड़कर उत्तरावस्था का ग्रहण करना' वास्तव में अलंकार ही नहीं है। ऐसी स्थिति में अलंकारसर्वस्वकार ने जो—

"विनिमयोऽत्र किंचित् त्यक्त्वा कस्यचिदादानम्।

अर्थात् विनिमय का अर्थ यहाँ 'कुछ छोड़कर किसी का कुछ ले लेना है" यह परिवृत्ति का लक्षण बताया है और—

"किमित्यपास्याभरणानि यौवने धृतं
त्वया वार्धकशोभि वल्कलम्।

कुमार संभव में शिव जी पार्वती से कह रहे हैं—तुमने यौवन में आभूषण छोड़कर बुढ़ापे में शोभा देनेवाला वल्कल क्यों धारण किया है?"

यह उदाहरण दिया है। ये दोनों ही ठीक नहीं हैं।

परिवृत्ति समाप्त

परिसंख्यालंकार

लक्षण

सामान्यतः प्राप्त वस्तु का किसी विशेषता के कारण (अर्थात् कोई विशेषता दिखाने के लिए) अन्यों से पृथक् करना परिसंख्या कहलाता है।

लक्षण का विवेचन

[मीमांसादर्शन के अनुसार विधि तीन प्रकार की होती है—(१) अपूर्व विधि (२) नियम विधि और (३) परिसंख्या विधि। (जिनका विवरण आगे मूल में ही दिया जा रहा है।) इनमें से] साहित्य शास्त्र में (जिस लक्षण का ऊपर निर्वचन किया गया है उस) लक्षण के अंतर्गत होने के कारण नियम विधि भी परिसंख्या ही है; क्योंकि नियम विधि और परिसंख्या विधि में केवल इतना ही अंतर है कि नियम विधि वैकल्पिक रूप से प्राप्त में लगती है और परिसंख्या विधि एकसाथ प्राप्त में। किंतु दोनों ही विधियों में अपने से अतिरिक्त का निवारण अपेक्षित है। इस अवांतर विशेषता की यहाँ विवक्षा नहीं है।

इसी अवांतर भेद को न मानने के कारण वैयाकरणों के मत में 'परिसंख्या' भी 'नियम' शब्द से कही जाती है। इसीलिए उनका सिद्धांत है कि "कृत्तद्धितसमासाश्च" (१-२-४६) इस पाणिनिसूत्र में समासग्रहण नियम के लिए है; अन्यथा वहाँ समास में मीमांसकों की मानी हुई नियमविधि उपपन्न नहीं होती, क्योंकि समास में वैकल्पिक प्रातिपदिक संज्ञा प्राप्त नहीं है, "अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्" (१-२-४५) यह सूत्र समास और समास से भिन्न दोनों प्रकार के

पदसमूहों में एक साथ ही प्राप्त है, अतः मीमांसकों के अनुसार वहाँ परिसंख्या होनी चाहिए, नियम नहीं। (सारांश यह कि जैसे वैयाकरण लोग परिसंख्याविधि को नियमविधि के अंतर्गत मानते हैं वैसे ही साहित्यशास्त्र में नियम को परिसंख्या के अंतर्गत माना जाता है।)

किंतु मीमांसकों के यहाँ नियम और परिसंख्या की परिभाषा भिन्न-भिन्न है।

जैसा कि वे कहते हैं—

"विधिरत्यन्तमप्राप्ते नियमः पाक्षिके सति।
तत्र चान्यत्र च प्राप्ते परिसंख्येति गीयते॥

सर्वथा अप्राप्त में अपूर्व विधि, वैकल्पिक प्राप्त में एकत्र नियमन को नियमविधि और एकसाथ उसमें और अन्य में (दोनों जगह प्राप्त होने पर अन्यत्र वर्जन को) परिसंख्या विधि कहते हैं।"

अपूर्व विधि का उदाहरण है "**स्वर्गकामो यजेत**—जिसको स्वर्ग की इच्छा हो वह यज्ञ करे" इत्यादि, क्योंकि यहाँ यज्ञादि किसी दूसरी प्रकार से प्राप्त नहीं है।

नियम विधि का उदाहरण है "**व्रीहीन् अवहन्ति**—धान कूटता है" "**समे देशे यजेत**–समतल भूमि में यज्ञ करे" इत्यादि। यहाँ प्रथम उदाहरण में पुरोडाशनिर्माण में फलप्राप्ति के लिए चावल का तुष-रहित होना आवश्यक है, उसका संपादन अवघात (ऊँखल मूसल से कूटना) द्वारा अथवा नखों द्वारा या पत्थर आदि अन्य प्रकार से भी हो सकता है, इनमें से ऊखल मूसल द्वारा संपादन करने से ही फल-प्राप्ति हो सकती है, अतः यहाँ नियम विधि है। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में सम देश तथा विषम देश दोनों में यज्ञ हो सकता है,

तथापि समदेश में करने से ही फल प्राप्ति होती है विषम देश में नहीं, अतः यह भी नियम विधि है।

परिसंख्या विधि का उदाहरण है **'इमामगृभ्णन्रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्ते**—'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य' इस मंत्र से अश्वाभिधानी को ग्रहण करता है' **'पंच पंचनखा भक्ष्याः**—पाँच पंचनख-प्राणी खाने योग्य हैं' इत्यादि। यहाँ प्रथम उदाहरण के मंत्र में 'रशना ग्रहण (रस्सी पकड़ना)' इस लिंग (ज्ञापक) के द्वारा घोड़े और गदहे दोनों की रस्सियों का पकड़ना एकसाथ प्राप्त होता है, उनमें से 'अश्व की रस्सी के अतिरिक्त अन्य रस्सी के पकड़ने का वर्जन' इस वाक्य से सिद्ध होता है। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में 'पंचनख प्राणियों में से शास्त्रोक्त पाँच प्राणियों के अतिरिक्त प्राणियों के भक्षण का वर्जन' सिद्ध होता है। (यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि नियम और परिसंख्या में इतना ही अंतर है कि नियम में विधि की प्रधानता होती है और परिसंख्या में निषेध की।)

सारांश यह कि पूर्वोक्तरीत्या यहाँ नियम विधि और परिसंख्या विधि को एक ही समझना चाहिए। इस भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए कि मीमांसकों के समान यहाँ परिसंख्यालंकार में नियम विधि वाले उदाहरण नहीं आ सकते।

परिसंख्या के भेद

परिसंख्या प्रथमतः दो प्रकार की है—शुद्धा और प्रश्नपूर्विका। इनमें से प्रत्येक आर्थी और शाब्दी होने से यह चार प्रकार की हो जाती है।

उदाहरण

आर्थी शुद्धा; जैसे—

सेवायां यदि साभिलाषमसि रे लक्ष्मीपतिः सेव्यतां
चिन्तायामसि सस्पृहं यदि चिरं चक्रायुधश्चिन्त्यताम्।

आलापं यदि कांक्षसे मधुरिपोर्गाथा तदालप्यतां
स्वापं वाञ्छसि चेन्निरर्गलसुखे चेतः सखे ! सुप्यताम् ॥

हे सखे चित्त ! यदि तुझे सेवा की अभिलाषा है तो लक्ष्मीपति (विष्णु) की सेवा कर, यदि चिंतन की इच्छा है तो देर तक चक्रायुध (विष्णु) की चिंता कर, यदि बातचीत करने की इच्छा है तो मधुसूदन (विष्णु) की कथा की बात कर, यदि सोना चाहता है तो प्रतिबंधरहित सुख (मोक्ष) में जाकर सो।

यहाँ जिन वाक्यों में 'यदि' लगा हुआ है उन वाक्यों में आई हुई सेवादिक क्रियाएँ रागप्राप्त (स्वभावतः चित्त के अनुराग के विषय) हैं उनके कर्मकारक परमेश्वर और अन्य विषय दोनों प्राप्त हैं। ऐसी स्थिति में 'लोट्' लकार के अर्थ (विधि अथवा आज्ञा) से रचित वाक्यार्थ की व्यर्थता होने लगती है, क्योंकि जो वस्तु अपने-आप करता ही है उसके लिए विधान अथवा आज्ञा कैसी ? अतः 'अन्य विषय की सेवा न की जाय' इत्यादि रूप में 'अन्य विषयों में उक्त क्रियाओं की कर्मकारकता की निवृत्ति' तात्पर्य-विषय (वक्ता के अभीष्ट) के रूप में कल्पित की जाती है। अतः अर्थतः प्राप्त होने से यह परिसंख्या आर्थी और प्रश्नपूर्वक न होने से शुद्धा है।

प्रश्नपूर्विका आर्थी; जैसे—

किं तीर्थं ? हरिपादपद्मभजनं, किं रत्नमच्छा मतिः,
किं शास्त्रं ? श्रवणेन यस्य गलति द्वैतान्धकारोदयः।
किं मित्रं सततोपकाररसिकं ? तत्त्वावबोधः सखे,
कः शत्रुर्वद ? खेददानकुशलो दुर्वासनासंचयः ॥

हे सखे ! तीर्थ क्या है ? भगवान् के चरणकमल का भजन।

रत्न क्या है ? स्वच्छ बुद्धि। शास्त्र क्या है ? जिसके सुनने से द्वैत रूपी अंधकार का उदय निवृत्त हो जाय। निरंतर उपकार में रसिक मित्र कौन है ? तत्त्वज्ञान। कष्ट देने में निपुण शत्रु कौन है ? दुर्वासनाओं का संचय।

इस उदाहरण में 'भगवच्चरण भजनादिक ही तीर्थादिक है, अन्य नहीं' यह अर्थ तात्पर्य का मर्यादा से प्रतीत होता है (शब्द से नहीं), अतः यह आर्थी परिसंख्या है और प्रश्नपूर्वक होने से प्रश्नपूर्विका।

शाब्दी शुद्धा; जैसे—

तीर्थं गङ्गा तदितरमपां निर्मलं संघमात्रं
देवौ तस्याः प्रसवनिलयौ नाकिनोऽन्ये वराकाः।
सा यत्रास्ते स हि जनपदो मृत्तिकामात्रमन्य-
त्तां यो नित्यं नमति स बुधो बोधशून्यस्ततोऽन्यः॥

तीर्थ गंगा है, उससे भिन्न (अन्य तीर्थ) तो केवल जल का निर्मल संघ मात्र है। देव दो ही हैं—एक गंगा के उत्पत्तिस्थान (हरि) और दूसरे निवासस्थान (हर), और बेचारे तो स्वर्ग-निवासी हैं। जनपद वही है जहाँ गंगा हैं, अन्य स्थान मृत्तिका मात्र हैं। गंगा को जो नित्य प्रणाम करता है वह ज्ञानवान् है उससे भिन्न जन अज्ञानी हैं।

यहाँ मात्र (केवल) आदि पदों से अन्यत्र तीर्थत्वादि की निवृत्ति प्रतीत होती है; इसलिए शाब्दी परिसंख्या है और प्रश्नपूर्वक होने से शुद्धा है।

शाब्दी प्रश्नपूर्विका; जैसे—

किं मित्रमन्ते सुकृतं न लोकाः
किं ध्येयमीशस्य पदं न तोकाः।

किं काम्यमव्याजसुखं न भोगाः
किं जल्पनीयं हरिनाम नान्यत् ॥

अंत में मित्र कौन है? सुकृत, न कि लोग। (अंत में) ध्यान किसका करना चाहिए? ईश्वर के चरण का, न कि बाल-बच्चों का। चाहना किसकी करनी चाहिए? निष्कपट सुख (मोक्ष) की, न कि भोगों की। बोलना क्या चाहिए? भगवन्नाम, और कुछ नहीं।

यहाँ 'न कि लोग' इत्यादि से अन्य की निवृत्ति स्पष्ट है, अतः शाब्दी और प्रश्नपूर्वक होने से प्रश्नपूर्विका है। यह प्राचीनों का मत है।

परिसंख्या की अलंकारता

अन्य विद्वानों का तो कहना है कि जब व्यावृत्ति (अन्यों से पृथक्करण) आर्थी हो तभी परिसंख्यालंकार होता है; अन्यथा तो शुद्ध परिसंख्या ही है। जैसे कि हेतु के आर्थ होने पर हेत्वलंकार होता है, अन्यथा केवल हेतु। अतः इसके दो ही भेद हैं।

दूसरे विद्वानों का कहना है कि व्यावृत्ति के आर्थी होने पर भी अलंकारता नहीं होती, अन्यथा, 'पंच पंचनखा भक्ष्याः' 'समे यजेत' इन पूर्वोक्त परिसंख्या के उदाहरणों में और 'रात्सस्य' (पा० ८।२।२४) इत्यादि में भी अलंकारता होने लगेगी। किंतु जहाँ पूर्वोक्त व्यावृत्ति कविप्रतिभानिर्मित हो वहीं परिसंख्या अलंकाररूप होती है; जैसे—"यस्मिन् शासति वसुमतीपाकशासने महानसेषु संतापः, शरधिहृदयेषु सशल्यता, मञ्जीरेषु मौखर्यम्, भेरीषु ताडनम्, कामिनीनां कुन्तलेषु कौटिल्यम्, गतिषु मान्द्यम्—जिस राजा के शासन के समय 'संताप' रसोईघरों में था; 'सशल्यता' (बाण की नोकों के

साथ रहना) तरकसों के हृदयों में थी, 'मुखरता' (अधिक बोलना) नूपुरों में थी, 'ताडन' (पीटना) भेरियों में था, 'कुटिलता' कामिनियों के कुंतलों में थी, और 'मंदता-' (धीमापन ÷ मूर्खता) गतियों में थी।" इत्यादिकों में। क्योंकि यहाँ प्रथमांत ('संताप आदि) शब्दों का अर्थ कवि की प्रतिभा द्वारा एकत्र किया गया है, अतः उसके द्वारा वह जिस (अभाव) का प्रतियोगी है उस (संताप आदि) की निवृत्ति बताई गई है।

सो इस प्रकार 'सेवायां यदि समिलाषमसि' इस पूर्वोक्त उदाहरण में 'अन्य कोई सेवा के योग्य नहीं है' इस अर्थ की प्रतीति होने के कारण परिसंख्या भले ही रहे, किंतु परिसंख्यालंकार नहीं है, क्योंकि यहाँ वास्तव व्यावृत्ति होने के कारण कवि की प्रतिभा की अपेक्षा नहीं है और 'किं तीर्थं हरिपादपद्मभजनम्०' इस उदाहरण में तो प्रश्नपूर्वक दृढारोप रूपक है, अन्यथा न विषं विषमित्याहुर्ब्रह्मस्वं विषमुच्यते' यहाँ भी परिसंख्या होने लगेगी। हाँ, उक्त उदाहरण के 'किं शास्त्रं०' इस अंश में केवल परिसंख्या है; क्योंकि यहाँ आरोप्य कोई नहीं है। इसी प्रकार 'तीर्थं गंगा०' इस उदाहरण में भी शुद्ध परिसंख्या ही है, क्योंकि पूर्वोक्त हेतु के कारण (मात्र आदि पद होने से) वह तो आर्थी भी नहीं है। अतः 'महानसेषु संतापः' इत्यादिक गद्य ही परिसंख्यालंकार का उदाहरण है—अन्यत्र (परिसंख्या भले ही हो) अलंकारता नहीं है।

परिसंख्या समाप्त

———

अर्थापत्ति अलंकार

लक्षण

किसी पदार्थ से न्यायसाम्य होने पर अन्य अर्थ के आपादन को अर्थापत्ति कहते हैं।

'न्याय' शब्द का अर्थ यहाँ पर कारण है। तात्पर्य यह कि जहाँ कारणों की समानता के कारण दूसरी वस्तु अपनेआप उपस्थित हो जाय वहाँ अर्थापत्ति होती है।

भेद

अर्थापत्ति प्रथमतः चार प्रकार की होती है—प्रकृत से प्रकृत की, अप्रकृत से अप्रकृत की, प्रकृत से अप्रकृत की और अप्रकृतसे प्रकृत की। इनमें से प्रत्येक के अर्थांतर के साथ समानता, न्यूनता और अधिकता इन तीन भेदों के कारण बारह प्रकार की होती है। उक्त बारह भेद भावत्व और अभावत्व के कारण दो दो प्रकार के होते हैं; अतःइस के चौबीस भेद हो जाते हैं। उनमें से कुछ के उदाहरण दिए जा रहे हैं।

प्रकृत से अप्रकृत का आपादन समानता से; जैसे—

लीलालुण्ठितशारदापुरधियामस्मादृशानां पुरो
विद्यासद्मविनिर्गलत्कणमुषो वल्गन्ति चेद्बालिशाः।
अद्य श्वः फणिनां शकुन्तशिशवो, दन्तावलानां शशाः,
सिंहानां च सुखेन मूर्धनि पदं धास्यन्ति सालावृकाः॥

जिनने सरस्वती के नगर के ज्ञान को खेल ही खेल में लूट लिया है ऐसे हम लोगों के सामने यदि विद्यामंदिर से गिरते हुए कणों के

चुराने वाले मूर्ख लोग रोब जमाते हैं तो आज या कल पक्षियों के बच्चे साँपों के, खरगोश हाथियों के और सियार सिंहों के शिर पर अनायास पैर रक्खेंगे।

यहाँ प्रकृत के द्वारा अप्रकृत का आपादन किया जा रहा है और प्रकृत अप्रकृत की समानता तथा मालारूपता है।

प्रकृत से अप्रकृत का आपादन अधिकता से; जैसे—

यदि ते चरणाम्बुजं हृदा वहतो मे न हतो विपद्गणः।
अथ चण्डकरेण मण्डिते दिनमध्येऽपि जितं तमोगणैः॥

हे भगवन्! यदि आपके चरणकमल को हृदय में धारण करते हुए भी मेरा विपत्समूह न नष्ट हुआ तो सूर्य से मंडित दिन के बीच तमसमूह का विजय हो गया।

यहाँ 'न नष्ट हुआ' इस 'विद्यमानता' रूप प्रकृत अर्थ से 'विजय हो गया', जिसका अर्थ है 'सर्वोत्कर्ष से रहना', इस आपादन किए जा रहे अप्रकृत अर्थ की अधिकता है।

यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिए कि—विपत्समूह की केवल स्थिति के द्वारा तमस्समूह की केवल स्थिति का आपादन उचित है, न कि उत्कर्ष प्राप्त करना; क्योंकि ऐसा होना अनुरूप नहीं है। शंका न करने का कारण यह है कि भगवच्चरण के सन्निधान में यदि एक विपत्समूह की स्वस्थता रह सकती है तब सूर्य के सन्निधान में अनेक तमस्समूहों का विजय उचित ही है, इस लिए कोई दोष नहीं।

प्रकृत के अभाव से अप्रकृत के अभाव का आपादन न्यूनता से; जैसे—

सदैव स्नेहार्द्रे सुरतटिनि निष्किंचनजने
यदि त्वं नाधत्से सुरभिरिव वत्से मयि कृपाम् ।
तदा चिन्तारत्नत्रिदशपतिभूमीरुहमुखा
ददीरन्नर्थिभ्यः किमिति कणभिक्षामपि जडाः ॥

हे सुरनदि ! यदि आप सदैव प्रेम से भींगे मुझ अकिंचन जनपर, अपने बछड़े पर गाय के समान, कृपा नहीं करती हो तो चिंतामणि, कल्पवृक्ष आदि जड पदार्थ याचकों को कणभिक्षा भी क्यों देंगे ।

यहाँ अभाव से अभाव का आपादन है और स्नेहार्द्र गंगारूप प्रकृत-पदार्थ से चिंतामणि आदि अप्रकृतों की जडता बताने के कारण न्यूनता दिखाई गई है ।

उक्त उदाहरणों में आपाद्यमान अप्रकृत है ।

प्रकृत से प्रकृत का आपादन न्यूनता से; जैसे—

मामनुरक्तां हित्वा यदि राजन्पुरुषसिंह ! यातोऽसि ।
मुक्त्वा वनमिदमेष्यति वनलक्ष्मीमत्र किं चित्रम् ॥

हे पुरुषसिंह राजन्, मुझ अनुरक्त (पत्नी) को छोड़कर यदि तुम चले गए हो तो यह वन भी वनलक्ष्मी को छोड़कर चला जायगा इसमें क्या आश्चर्य है ।

यह राजा नल के द्वारा जंगल में छोड़ी हुई दमयंती की, ध्यान में प्राप्त नल के प्रति, उक्ति है । यहाँ आपादन किया जानेवाला वन का वृत्तांत भी समीपवर्ती होने के कारण प्रकृत ही है, अतः आपादक और आपाद्यमान दोनों ही प्रकृत हैं । नपुंसक होने के कारण पुरुषसिंह की अपेक्षा वन की न्यूनता दिखाई गई है । अतएव 'क्या आश्चर्य है' यह

कहा गया है, जिसका अभिप्राय यह है कि—सिंह के समान पुरुष जब अपनी पत्नी को छोड़ सकते हैं तब नपुंसक छोड़ दे इसमें आश्चर्य ही क्या ?

अप्रकृत से प्रकृत का आपादन न्यूनता से; जैसे—

उदुम्बरफलानीव ब्रह्माण्डान्यत्ति यः सदा।
सर्वगर्वापहः कालस्तस्य के मशका वयम् ॥

सबके अभिमान का नष्ट करने वाला जो काल उदुंबरफलों के समान ब्रह्मांडों को सदा खाता रहता है, उसके लिए हम मच्छर कौन हैं।

यहाँ अप्रकृत ब्रह्मांडभक्षण के द्वारा प्रकृत समस्त प्राणियों की अनित्यता कैमुतिक न्याय से प्रतिपादन की जा रही है।

प्रकृत से प्रकृत का और अप्रकृत से अप्रकृत का आपादन; जैसे—

न भवानिह मे लक्ष्यः क्षत्रवर्णविलोपिनः।
के वा विटपिनो राम ! कुलाचलभिदः पवेः ॥

हे राम ! इस जगत् में क्षत्रिय वर्ण के नष्ट करनेवाले मेरे तुम लक्ष्य नहीं हो—तुम्हें मैं क्या निशाना बनाऊँगा। कुल पर्वतों के तोड़नेवाले वज्र के लिए वृक्ष क्या हैं ?

यह राम के प्रति परशुराम की उक्ति है।

यहाँ प्रतिवस्तूपमा महावाक्य का अर्थ है और इस श्लोक के पूर्वार्ध में इसका उपमेय वाक्यार्थ और उत्तरार्ध में उपमान वाक्यार्थ हैं। उनमें से उपमेय वाक्यार्थ की अर्थापत्ति में आपादन किया जानेवाला

और उसका कारणभूत ये दोनों अर्थ प्रकृत हैं और उपमानवाक्यार्थ की अर्यापत्ति में दोनों अप्रकृत। इस प्रकार और उदाहरण भी सोच लेने चाहिए।

अर्थापत्ति पर विचार

इस अर्थापत्ति का मीमांसकों की मानी अर्थापत्ति में समावेश नहीं है। मीमांसकों की अर्थापत्ति में आपतित अर्थ के बिना आपादक अर्थ की अनुपपत्ति होती है, (जैसे—पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते—देवदत्त पुष्ट है और दिन में नहीं खाता, यह आपादक अर्थ है और रात्रि-भोजन आपतित अर्थ है यहाँ रात्रिभोजन के बिना देवदत्त की पुष्टता उपपन्न नहीं होती) किंतु यहाँ तादृश अनुपपत्ति का अभाव है।

न अनुमान में ही इसका समावेश है, क्योंकि आपादक अर्थ और आपतित अर्थ की समानाधिकरणता न होने से उनके व्याप्यत्व और पक्षधर्मत्व का यहाँ कोई प्रश्न ही नहीं है और बिना इन दोनों के अनुमान होता ही नहीं।

कहा जायगा कि आपकी अर्थापत्ति में भी तुल्यकारणत्व से अर्थान्तर की सिद्धि होती है, अतः जिस कारण से एक अर्थ (आपादक) की सिद्धि हुई है उसी कारण को लिंगरूप मानकर दूसरे (आपाद्यमान) अर्थ का अनुमान कर लिया जायगा, तो यह उचित नहीं, क्योंकि यहाँ जो अर्थांतरसिद्धि है वह अनुमितिरूप नहीं है। कारण, अर्थापत्ति के ज्ञान का आकार 'यह अर्थ भी हो सकता है' यह है, और अनुमिति में 'यह अर्थ होता ही है' यह निश्चय होता है।

यद्यर्थातिशयोक्ति में भी इसका अंतर्भाव नहीं होता, क्योंकि उसके दोनों भागों का विश्राम विपरीत अर्थ में ही होता है, किंतु यहाँ वैसा नहीं है, क्योंकि आपादक अर्थ सिद्ध है और आपतित

होने वाले अर्थ की संभावना की जा रही है; अतः यथाश्रुत में ही विश्राम है।

इसलिए 'जिस न्याय (कारण)' से एक अर्थ सिद्ध हुआ उसी न्याय से दूसरा अर्थ भी सिद्ध हो सकता है' यही इस अर्थापत्ति का रूप है।

प्राचीनों से मतभेद

इस अर्थापत्ति में दूसरा (आपाद्यमान) अर्थ लोक में विद्यमान न होने पर भी कवि द्वारा यदि अपनी प्रतिभा से कल्पना करके लाया जाता है तो अलंकारता होती है। जैसे—पूर्वोक्त 'फणिनां शकुंतशिशवः—पक्षियों के बच्चे सापों के शिर पर पैर रक्खेंगे' इत्यादि में, अन्यथा तो केवल कैमुतिकन्यायता होती है। जैसे—'उदुंबरफलानीव—गूलर के फलों के समान' इत्यादिक पूर्वोक्त उदाहरण में।

हमने जो पहले ये उदाहरण दिये हैं, वे प्राचीन रीति से हैं, अतएव वहाँ हमने 'कैमुतिक' न्याय से यह शब्द लिखा है।

सो इस तरह अलंकारसर्वस्वकार ने जो "**कमपरमवशं न विप्रकुर्युर्विभुमपि तं यदमी स्पृशन्ति भावाः**—ये चित्तवृत्तियाँ जब सर्वसमर्थ (शिव जी) को भी स्पर्श करती हैं तो अन्य किस परतंत्र प्राणी को तंग नहीं कर सकतीं" और "**अवस्थेयं स्थाणोरपि भवति सर्वामरगुरोर्विधौ वक्रे मूर्ध्नि स्थितवतिवयं के पुनरमी**—'वक्रेविधौ'[1] (वक्र-विधि अथवा विधु) जब शिर पर स्थित हो तब सब देवताओं के गुरु शिवजी की भी यह दशा होती है तो फिर ये हम कौन हैं।" इत्यादि उदाहरण दिए हैं वे अत्यंत हृदयंगम नहीं हैं।

१—यहाँ संस्कृत में 'विधौ' शब्द श्लिष्ट है; क्योंकि विधि शब्द और विधु शब्द दोनों का सप्तमी का एकवचन 'विधौ' होता है।

और कुवलयानंदकार ने जो अर्थापत्ति का "कैमुत्येनार्थसंसिद्धिः काव्यार्थापत्तिरिष्यते—कैमुत्य न्याय से किसी वस्तु के सिद्ध करने को काव्यार्थापत्ति कहते हैं" यह लक्षण बनाया है। वह ठीक नहीं है, क्योंकि कैमुतिक न्याय न्यून अर्थ के विषय में ही हुआ करता है, अतः उसकी अधिकार्थवाली अर्थापत्ति में अव्याप्ति है। जैसे—

तवाग्रे यदि दारिद्र्यं स्थित भूप! द्विजन्मनाम्।
शनैः सवितुरप्यग्रे तमः स्थास्यत्यसंशयम्॥

हे राजन्, यदि तुम्हारे सामने ब्राह्मणों की दरिद्रता रह गई तो धीरे-धीरे सूर्य के सामने तम भी रहने लगेगा, इसमें कोई संदेह नहीं।

यहाँ 'धीरे-धीरे' शब्द की महिमा से राजा के आगे दारिद्र्य की अपेक्षा 'सूर्य के सामने तम की स्थिति कठिनता से ही हो सकती है' यह बात, विदित हाने पर भी, न्याय की समानता से ही आपादन की जाती है; कैमुतिक[1] न्याय से नहीं।

अर्थापत्ति समाप्त

१—नागेश ने लिखा है कि—'तवाग्रे यदि०' इस उदाहरण में आगे निरूपण की जानेवाली संभावना (यह अलंकार रसगंगाधर के उपलब्ध भाग में नहीं है) अथवा यद्यर्थातिशयोक्ति अलंकार है। कहा जायगा कि यद्यर्थातिशयोक्ति में आपाद्य और आपादक की विपरीत अर्थ में विश्रांति होती है, और यहाँ तो आपादक सिद्ध है और आपाद्य की संभावना की जा रही है—यह भेद है तो उत्तर यह है कि—जैसे तुमने अर्थापत्ति के न्यूनता और अधिकता से भेद कल्पित किए हैं उसी

विकल्पालंकार

लक्षण

दो विरोधियों की पाक्षिक (जब एक प्राप्त हो तब दूसरा प्राप्त न हो ऐसी) प्राप्ति को विकल्प कहते हैं।

लक्षण का विवेचन

एक धर्मी में अपने-अपने प्रापक प्रमाणों से प्राप्त, अतएव तुल्यबल, विरुद्धों की, विरोधी होने के कारण ही, एकसाथ प्राप्ति असंभव होने से अंततः पाक्षिक प्राप्ति होती है।

यह अलंकार समुच्चयालंकार का प्रतिपक्षी है, जैसे व्यतिरेक उपमा का प्रतिपक्षी है। और यहाँ जिनका विकल्प किया जा रहा है, उनकी सदृशता अलंकारता का बीज है, क्योंकि उसे लेकर ही (विकल्प में) चमत्कार उल्लसित होता है, अन्यथा केवल विकल्प होता है, विकल्पालंकार नहीं। जैसे—'जीवनं मरणं वास्तु नैव धर्मंत्यजाम्यहम्'—जीवन

प्रकार 'यद्यर्थातिशयोक्ति' के भी वैसे भेद कल्पित करने में बाधा नहीं है। कहा जायगा कि तब 'कैमुत्य से अर्थसिद्धि' अर्थापत्ति को भी यद्यर्थातिशयोक्ति का भेद होने दीजिए। तो इसका उत्तर यह है कि प्राचीनों के अनुरोध से अर्थापत्ति को पृथक् माना गया है। यदि कहा जाय कि कैमुत्यकृत चमत्कार को भी उक्त भेद का साधक ही होने दीजिए, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि कैमुत्यकृत चमत्कार की अलंकार-भेदकता छिपाई नहीं जा सकती।

(तब तो 'अधिकता' से होने वाले भेद को यद्यर्थातिशयोक्ति में घुसेड़ना बलात् दीक्षित जी का समर्थनमात्र ही न हुआ ?)

—अनुवादक

रहे अथवा मरण हो, मैं धर्म नहीं छोड़ता' इत्यादि में, क्यों कि यहाँ जीवन और मरण की सदृशता की प्रतीति नहीं है।

उदाहरण

प्राणानर्पय सीतां वा गृध्रांस्तर्पय वा द्विजान्।
यमं भजस्व रामं वा यथेच्छसि तथाचर॥

रावण के प्रति यह उक्ति है—प्राणों का अर्पण कर अथवा सीता का, गृध्रों को तृप्त कर अथवा ब्राह्मणों को, यम की सेवा कर अथवा राम की, जैसी इच्छा हो वैसा कर।

यहाँ अर्पण, तर्पण और सेवन तीन क्रियाएँ हैं उनके कर्मरूप में मानरक्षणरूपी प्रमाण से यथाक्रम प्राप्त हैं—प्राण, गृध्र और यम। और इसी प्रकार जीवनरक्षणरूपी प्रमाण से कर्मरूप में प्राप्त हैं—सीता, ब्राह्मण और राम। इनका (विरुद्धता के कारण) एक साथ होना संभव नहीं है—अर्थात् प्राण का अर्पण करना हो तो सीता का अर्पण प्राप्त नहीं है और सीता का अर्पण करना हो तो प्राण का अर्पण प्राप्त नहीं है इत्यादि, अतः एक के अनंतर ही दूसरे की प्राप्ति हो सकती है।

तीनों क्रियाओं के दोनों दोनों कर्मों (प्राण सीता और गृध्र) का क्रियाफल (दूसरे के अधीन करना, संतुष्ट करना और सेवा करना) रूपी समान धर्मों के द्वारा साहश्य है।

एक शंका और उसका उत्तर

कहा जायगा कि यहाँ अर्प, तर्प आदि धातुओं के अर्थ—फल ('दूसरे के अधीन करना' आदि) के रूप में धर्म की एकता होने के कारण जिस प्रकार कर्मों का साहश्य प्रतीत होता है उसी प्रकार 'जीवनं

मरणं वास्तु' इत्यादिक पूर्वोक्त उदाहरण में भी 'होने' रूपी धर्म की एकता होने से उस क्रिया के कर्ता जीवन और मरण का भी सादृश्य प्रतीत होना उचित है। तो हम कहेंगे कि उचित है, पर प्रतीत नहीं होता। आप कहेंगे—किस कारण ? हम कहेंगे—कवि का तात्पर्य न होने से, क्योंकि यहाँ 'मरण और जीवन समान है' यह कवि का अभिप्रेत नहीं, किंतु जैसे 'जहर खा लीजिए और इसके घर मत खाइए' यहाँ 'धर्म के लिए मरना भी अच्छा है न कि धर्मत्याग' इस प्रकार 'निषिद्ध के विषय में द्वेष की अधिकता' कवि को अभिप्रेत है, और 'मरण' का ग्रहण इसी के लिए होने से (सादृश्य के) अधिकरण (मरण) के अविवक्षित होने के कारण सादृश्य की निष्पत्ति ही नहीं है वैसे ही यहाँ पर भी 'मरण' अविवक्षित है, तब सादृश्य होगा किसका ?

विकल्पालंकार पर विचार

यह अलंकार कहीं 'लुप्त समानधर्म' को लेकर सादृश्य के व्यंग्य होने पर भी होता है; जैसे भगवद्गीता में—

"हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।

भगवान् कहते हैं कि—हे अर्जुन ! या तो मरने पर स्वर्ग मिलेगा या जीतोगे तो पृथ्वी भोगोगे।"

यहाँ पृथ्वीभोग और स्वर्गप्राप्ति का 'उत्तमता' के कारण सादृश्य विवक्षित है। सो इस तरह यह विकल्प कुछ विद्वानों के मत से धातुओं के अर्थों (भोग और प्राप्ति) का है और दूसरे विद्वानों के मत से आख्यातों (प्रत्ययों) के अर्थों (कर्ताओं अथवा कर्मों) का है। पर दोनों ही प्रकारों से यह विकल्प 'पृथ्वी और स्वर्ग' का नहीं है यह निश्चित है,

क्योंकि जब तक पृथ्वी और स्वर्ग का कारकत्व से क्रिया के साथ अन्वय न हो तब तक विकल्प नहीं बन सकता—यह जान लेना चाहिए।

अब यदि कोई कहे कि यहाँ दोनों धातुओं के अर्थों नें 'कर्तारूप' साधारणधर्म प्रत्यय के द्वारा उक्त है, अतः धर्म की लुप्तता कैसे कही जा सकती है। तो इसका उत्तर यह है कि कर्त्तारूप साधारणधर्म को लेकर सादृश्य सुंदररूप में सिद्ध नहीं होता; अन्यथा 'हतो वा नरकं गन्ता जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्—या तो मरने पर नरक जाओगे या जीतोगे तो पृथ्वी भोगोगे' यहाँ भी सादृश्य की प्रतीति होने लगेगी, अतः धर्म की लुप्तता ही मानना उचित है।

अलंकारसर्वस्व पर विचार

अलंकारसर्वस्वकार ने जो यह लिखा है कि—

"भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी नीलोत्पलस्पर्धिनी
ध्यानालम्बनतां समाधिनिरतैर्नीतेहितप्राप्तये।
लावण्यस्य महानिधी रसिकतां लक्ष्मीदृशोस्तन्वती
युष्माकं कुरुतां भवार्तिशमनं नेत्रे तनुर्वा हरेः॥

भगवान् के दोनों नेत्र वा तनु (शरीर) आपकी संसारबाधा का शमन करें ('तनु' के पक्ष में—करे) जो भक्ति नम्रों के देखने के प्रेमी हैं, ('तनु' के पक्ष में—है) जो नील कमल से स्पर्धा करने वाले हैं ('तनु' के पक्ष में-वाली है) जो हितप्राप्ति के लिए ('तनु' के पक्ष

१—स्मरण रहे कि 'कुरुताम्' परस्मैपद में लोट् का द्विवचन है और आत्मनेपद में लोट् का एकवचन। इसी प्रकार अन्यत्र भी वचन-भेद, लिङ्गभेद समझिए।

में—ईहित (अभीष्ट) प्राप्ति के लिए) योगियों द्वारा ध्यान का अवलंबन बनाए गए हैं ('तनु' के पक्ष में—बनाई गई) जो लावण्य के ('तनु' के पक्ष में—की) महानिधि हैं ('तनु' के पक्ष में—है) और जो लक्ष्मी के नेत्रों की रसिकता का विस्तार करते हैं ('तनु' के पक्ष में—करती है)।

यहाँ विकल्प है और 'उत्तमता' (रूपी सादृश्य) के कारण (भवार्तिशमनरूपी) तुल्य प्रमाण द्वारा श्लिष्टता है।"

यह विचारणीय है, क्योंकि संसारबाधा के शमन में तनु और दोनों नेत्र, इन दोनों के एक साथ कर्ता होने के विरोध का अभाव है—वे दोनों एक साथ संसारबाधा का शमन कर सकते हैं, इसमें कोई विरोध नहीं है, अतः विकल्प उठता ही नहीं, क्योंकि उनने (अलंकारसर्वस्वकार ने) ही लिखा है कि 'विरोध होने पर विकल्प होता है।' आप कहेंगे कि—शरीर में नेत्रों का भी समावेश है, अतः उनका पृथक् कथन है। वह सूचित करता है कि वक्ता को तनु और नेत्रयुगल में विरोध अभिप्रेत है, पर यह ठीक नहीं; क्योंकि वास्तव विरोध ही विकल्प का उत्थापक होता है, अतः केवल विवक्षा के कारण माना जानेवाला विकल्प अप्रयोजक है और विकल्प की यहाँ सुंदरता भी नहीं है।

वस्तुतः तो यहाँ भी 'सकलकलं पुरमेतज्जातं सम्प्रति सुधांशुबिम्बमिव' इत्यादि के समान श्लेषमूला उपमा ही अलंकार है। और 'तनुर्वा' इसका 'तनु के समान' अर्थ है। 'वा स्याद्विकल्पोपमयोः' इस कोश के अनुसार 'वा' शब्द यहाँ 'इव' के अर्थ में है। कहा जायगा कि 'लिंग और वचन का भेद' उपमा में दोष है, पर यह उचित नहीं, क्योंकि जहाँ साधारणधर्म की उपमान के साथ लगाने और उपमेय के साथ लगाने में विरूपता हो जाती है—भिन्नरूपता करनी पड़ती है, वहीं

लिंगवचनभेद की दोषता स्वीकार की गई है, जैसे—"हंसीव धवलश्चन्द्रः सरांसीवामलं नभः—अर्थात् हंसी के समान चंद्रमा सफेद है और सरोवरों के समान आकाश निर्मल है।" यहाँ 'हंसी धवला है चंद्र धवल है, सरोवर निर्मल हैं और आकाश निर्मल है', इस प्रकार साधारणधर्म की उपमान और उपमेय में द्विविधता से ही प्रतीति होने के कारण उपमा की सम्यक् निष्पत्ति नहीं होती (सो वह बाधा यहाँ है नहीं, क्योंकि श्लेष के द्वारा एक वचन-द्विवचन और स्त्रीलिंग-नपुंसकलिंग एकरूप कर दिए गए हैं।) कहा जायगा कि तब 'सरांसीव नभः—सरोवरों के समान आकाश' इत्यादिक लुप्तोपमा में वचनभेद दोष कैसे माना जाता है—वहाँ तो जब धर्म लिखा ही नहीं है तो भिन्नरूपता किसकी? तो इसका उत्तर यह है कि वहाँ भी व्यंग्य साधारणधर्म की विरूपता से ही दोष का होना स्वीकृत है। तात्पर्य यह है कि लुप्तोपमा में भी समानधर्म रहता तो है ही, पर व्यंग्य रहता है। उस धर्म को जब लगाया जायगा तब तो विरुद्धता हो ही जायगी। आप कहेंगे कि व्यंग्य साधारणधर्म में तो वाचक शब्द का ही स्पर्श नहीं है, सो लिंग का स्पर्श तो सुतरां नहीं होता, अतः विरूपता का कोई प्रश्न ही नहीं। तो यह ठीक नहीं क्योंकि यह माना जाता है कि प्रत्येक अर्थ शब्दसहित ही प्रतीत होता है, जैसा कि कहा गया है—

"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।

ऐसा कोई बोध नहीं होता जिसके साथ शब्द न लगा हो।"

अथवा साधारणधर्म की प्रतीति श्रुतार्थापत्ति के द्वारा स्वीकार करने पर शब्द की ही कल्पना की जाती है, अर्थ का तो उसके द्वारा अभिधानमात्र होता है, अतः विरूपता है ही।

ऐसी स्थिति में 'राजते, भासते' इत्यादि तिङन्त[1] से प्रतिपाद्य साधारणधर्म में जिस प्रकार लिंग-वचन-भेद दोष नहीं होता, वही बात उक्त उदाहरण (भक्तिप्रह्व०) में भी है। इसी कारण "यस्मिन्नति सरसो जनो जनपदाश्च—जहाँ का लोक अतिसरस=अत्यंत रसिक है और जनपद (प्रांत) अतिसरस्=बहुत सरोवर वाले हैं" यह तुल्य-योगिता (वचनभेद होने पर भी) संगत हो जाती है, अन्यथा तुल्य-योगिता के गर्भ में उपमा रहती है, अतः उपमा के दोषयुक्त होने पर तुल्ययोगिता भी दोष युक्त होने लगेगी। एक तो यह समाधान है और दूसरा समाधान यह है कि श्लिष्टवर्णन में धर्म के लिंगवचन-भेदादि दोष हैं ही नहीं। अतः प्रतिप्रसव (निर्दोषत्व) हो जाता है।

विकल्प समाप्त

———

1—स्मरण रहे कि—संस्कृत में क्रिया में लिंगभेद नहीं होता।

समुच्चयालङ्कार

लक्षण

पदार्थों के एकसाथ अन्वय को समुच्चय कहते हैं।

लक्षण का विवेचन

यहाँ 'एकसाथ' का ग्रहण क्रम से प्राप्त होने के निवारणार्थ है। अर्थात् जहाँ पदार्थों के अन्वय में कोई समय का क्रम न हो वहाँ समुच्चयालंकार होता है। अतः कुछ समयभेद होने पर भी समुच्चय का भंग नहीं होता।

समुच्चय के भेद

समुच्चय प्रथमतः दो प्रकार का है, भिन्न धर्मियों वाला और एक धर्मी वाला। एक धर्मी वाले के भी दो भेद हैं कारणत्व से अतिरिक्त संबंध से एक धर्मी में अन्वय वाला और कारणता से एक धर्मी में अन्वय वाला। इस तरह तीन प्रकार के समुच्चय में पहले दो (भिन्न धर्मियों वाले और कारणतातिरिक्त संबंध से एक धर्मी वाले) भेदों में गुणों, क्रियाओं और गुणक्रियाओं का और तीसरे (कारणता से संबंध वाले) भेद में रमणीयों, अरमणीयों और रमणीयारमणीयों का समन्वय होता है।

समाधि अलंकार से भेद

इस अलंकार में आगे कहे जाने वाले समाधि अलंकार की शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जहाँ एक कारण के द्वारा कार्य सिद्ध होते समय अकस्मात् आपड़नेवाले दूसरे कारण द्वारा सौकर्य आदि के रूप में अतिशय का संपादन किया जाता है वह समाधि का विषय है और इस समुच्चय के (तृतीय) भेद का तो विषय वह है जहाँ एक

कार्य के संपादन के लिए अनेक (कारण), खलिहान में कबूतरों की तरह ऊपरतले, गिरते हैं और कार्य में कोई अतिशय नहीं होता।

क्रम से उदाहरण

भिन्न धर्मियों में गुणों का एक साथ अन्वय; जैसे—

प्रादुर्भवति पयोदे कज्जलमलिनं बभूव नभः।
रक्तं च पथिकहृदयं कपोलपाली मृगीदृशः पाण्डुः॥

बादल के प्रकट होते ही आकाश काजल सा मलिन, पथिकों का हृदय रक्त (लाल + अनुरक्त) और मृगनयनी की कपोलभित्ति सफेद हो गई।

भिन्न धर्मियों में एक साथ क्रियाओं का अन्वय; जैसे—

उदितं मण्डलमिन्दो रुदितं सद्यो वियोगिवर्गेण।
मुदितं च सकलयुवजनचूडामणिशासनेन मदनेन॥

चंद्रमंडल का उदय हुआ, तत्काल वियोगिवर्ग रो पड़ा और समस्त युवकशिरोमणियों का शासक कामदेव प्रसन्न हो गया।

एक धर्मी में एकसाथ गुणों का अन्वय; जैसे—

आताम्रा सिन्धुकन्याधवचरणनखोल्लासिकान्तिच्छटाभि-
र्ज्योत्स्नाजालैर्जटानां त्रिपुरविजयिनो जातजाम्बूनदश्रीः।
स्वाभाव्यादच्छमुक्ताफलरचितलसद्गुच्छसच्छायकाया
पायादायासजालादमरसरिदघव्रातजातश्रमान्नः॥

भगवान् विष्णु के चरणनखों की उल्लासयुक्त कांतिच्छटाओं से रक्त वर्ण, शिव जी की जटाओं के कांति-समूह से सुवर्ण की शोभा से युक्त

और स्वभावतः स्वच्छ मोतियों से बनाए गुच्छों के समप्रभ शरीर वाली गंगा, पाप समूह से थके हुए हमलोगों की, कष्ट समूह से, रक्षा करे।

यहाँ यद्यपि हरिचरण के नखों से संसर्ग के समय हरजटा से संसर्ग नहीं है, इसलिए रक्तवर्ण और पीतवर्ण का एकसाथ होना संभव नहीं है, तथापि साहजिक श्वेतता के साथ उनमें से प्रत्येक का एक साथ रहना संभव है ही, इसलिए कोई दोष नहीं।

एक धर्मी में क्रियाओं का एक साथ अन्वय; जैसे—

देव ! त्वां परितः स्तुवन्तु कवयो लोभेन किं तावता
स्तव्यस्त्वं भवितासि यस्य तरुणश्चापप्रतापोऽधुना।
क्रोडान्तः कुरुतेतरां वसुमतीमाशाः समालिङ्गति
द्यां चुम्बत्यमरावतीं च सहसा गच्छत्यगम्यामपि ॥

हे देव ! कवि लोग ! लोभ के कारण चारों ओर से आपकी स्तुति करें, पर इतने मात्र से क्या आप स्तुतियोग्य हो जाओगे ! जिनके धनुष का तरुणप्रताप वसुमती (पृथ्वी) को अपने क्रोड (भुजाओं के बीच) में भरता है, दिशाओं का आलिंगन करता है, द्यौः का चुम्बन करता है (आकाश का स्पर्श करता है) और अगम्या (गमन के अयोग्य+प्राप्ति के अयोग्य) अमरावती (इंद्रपुरी) (से) में सहसा गमन करता है। (ऐसे स्त्रीसंगी के स्वामी आप स्तुतियोग्य कैसे हो सकते हैं)

भिन्न धर्मियों में कारणता संबंध सेरमणीयों का अन्वय; जैसे—

समुत्पत्तिः पद्मारमणपदपद्मामलनखा-
न्निवासः कन्दर्पप्रतिभटजटाजूटभवने।
अथायं व्यासङ्गः पतितजननिस्तारणविधे-
र्न कस्मादुत्कर्षस्तव जननि जागर्ति जगतः।

गंगाजी की स्तुति है—हे जननि ! लक्ष्मीरमण भगवान् विष्णु के चरणकमल के निर्मल नख से आपकी उत्पत्ति है, कामदेव के शत्रु शिवजी के जटाजूटरूपी भवन में आपका निवास है और पतितजनों के निस्तार की विधि में यह आपकी लगन है; फिर आपका (सब) जगत् से उत्कर्ष क्यों न जागरित रहे ?

यहाँ तीनों में से एक के द्वारा भी उत्कर्ष की उत्पत्ति संभव है, तथापि तीनों कारण उत्कर्षोत्पत्ति के लिए मानो स्पर्धा से गिर रहे हैं, अतः रमणीय हैं।

भिन्न धर्मियों में कारणरूप से अरमणीयों का अन्वय; जैसे—

पाटीरद्रुभुजङ्गपुङ्गवमुखोद्भूता वपुस्तापिनो
वाता वान्ति दहन्ति लोचनममी ताम्रा रसालद्रुमाः ।
श्रोत्रे हन्त किरन्ति कूजितमिमे हालाहलं कोकिला
बाला बालमृणालकोमलतनुः प्राणान्कथं रक्षतु ॥

चंदनवृक्षों के सर्पराजों के मुख से उत्पन्न, शरीर को संतप्त करने वाले, वायु चल रहे हैं, ये (पल्लवों से) ताम्रवर्ण आम्र के वृक्ष नेत्रों को जला रहे हैं और हाय ! ये कोकिलाएँ कूजितरूपी हालाहल (विष) कानों में डाल रही हैं, ऐसे समय, बालमृणालसदृश कोमल शरीर वाली बाला कैसे प्राणों की रक्षा करे !

यहाँ भी जीवननाश के लिए गिर रहे तीनों अरमणीय हैं।

भिन्न धर्मियों में कारणरूपसे रमणीयारमणीयों का अन्वय; जैसे—

जीवितं मृत्युनालीढं संपदः श्वासविभ्रमाः ।
रामाः क्षणप्रभारामाः शल्यान्येतानि देहिनाम् ॥

जीवन मृत्यु से ग्रस्त है, संपत्तियाँ श्वास का विलास (क्षणिक) हैं और सुंदरियाँ बिजली के समान सुंदर (क्षणिक सौंदर्य वाली) हैं, ये देहधारियों के लिए शल्य (भाले की नोकें) हैं।

यहाँ जीवन आदिक स्वभाव से रमणीय हैं इसलिए हटाए नहीं जा सकते और विशेषणों (मृत्यु से ग्रस्तत्व आदि) के प्रभाव से अरमणीय होने के कारण दुःखजनक हैं, अतएव शल्यतुल्य हैं ।

यहाँ रमणीयारमणीय शब्द में कर्मधारय समास माना जाता है, द्वन्द्व नहीं—अर्थात् 'रमणीयारमणीय' का अर्थ रमणीय होते हुए अरमणीय है, रमणीय और अरमणीय नहीं। अन्यथा सहचरभिन्नत्व दोष हो जायगा।

इसी तरह **अरमणीयरमणीयों** (अरमणीय होते हुए भी रमणीयों) का एक कार्य उत्पन्न करने के लिए आ गिरने पर **समुच्चय** हो सकता है; जैसे—

शरीरं ज्ञानजननं रोगो विष्णुस्मृतिप्रदः।
विपद्वैराग्यजननी त्रयं सुखकरं सताम् ॥

शरीर ज्ञान का उत्पादक है, रोग विष्णु की स्मृति देनेवाला है और विपत्ति वैराग्य की जननी है; तीनों सत्पुरुषों के सुखदायी हैं।

शरीरादिक स्वभावतः अरमणीय हैं तथापि विशेषणों के प्रभाव से रमणीय हो गये हैं ।

भेदों पर विचार

कहा जा सकता है कि (केवल) रमणीयों के समुच्चय में और (केवल) अरमणीयों के समुच्चय में समालंकार से और रमणीयारमणीयों के समुच्चय में विषमालंकार से संकीर्ण होने के कारण ये समुच्चय के भेद उचित नहीं हैं; क्योंकि संकर होना किसी भेद का

प्रयोजक नहीं है, अन्यथा सभी अलंकारों के अनंत भेद हो जायँगे। इसका उत्तर यह है कि पूर्वोक्त 'समुत्पत्तिः पद्मारमणा०' और 'पाटीरद्रु भुजंग०' इन उदाहरणों में समालंकार विवक्षित नहीं है—कवि का वहाँ यह अभिप्राय नहीं है कि 'हरिचरण के नख से उत्पत्ति, हर के जटा-जूट में निवास और पतितों के निस्तारण का व्यासंग, इनका परस्पर योग योग्य है', किंतु कवि का अभिप्राय यह है कि 'भगवती भागीरथी के उत्कर्ष को उत्पन्न करने के लिए तीनों जागरूक हैं' और (इसी प्रकार दूसरे पद्य में) न यही कवि को अभिप्रेत है कि 'मलयपवन, आम्रवृक्ष और कोकिलकूजितों का योग योग्य है' किंतु 'तीनों बाला के प्राणनाश के लिए बद्धपरिकर हैं' यह अभिप्रेत है, अतएव 'हंत' इस शब्द से उक्त खेद उपपन्न होता है। यदि समालंकार कवि को अभि-प्रेत होता तो तीनों का योग योग्य होने के कारण खेद अनुपपन्न होता। अब यदि कहा जाय कि 'तीनों मारकों का योग बाला के लिए अननुरूप है' इस रूप में विषमालंकार के अभिप्राय से खेद की उपपत्ति हो सकती है, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि ऐसा मानने पर भी 'तीनों के योग वाले अंश' में समालंकार की तो (पूर्वोक्तरीत्या) अत्यंत अप्रतीति है और विषमालंकार (जो बताया जा रहा है उस) की 'बाला' रूपी (तीनों से) बाह्य अंश (अर्थात् जिनका समुच्चय है उनसे भिन्न) को लेकर स्थिति बनती है, अतः समुच्चय असंकीर्ण ही रहा।

इसी प्रकार 'जीवितं मृत्युनालीढम्' इत्यादि उदाहरणों में भी 'जीवन आदि रमणीयों का मृत्यु से आलीढ होना आदि अनुचित है' यही कवि का विवक्षित है। रमणीय वस्तुओं की अचिरस्थायिता स्वभाव-सिद्ध है और वह कवि के अभिलषित के अनुरूप न होने के कारण शल्यता की प्रयोजक है, अतः तृतीय भेद की भी विषम से संकीर्ण होने

के कारण अन्यथासिद्धि नहीं है—अर्थात् वह भेद भी संकीर्णता से नहीं बना है, किंतु शुद्ध समुच्चय का है।

इससे जो रत्नाकर ने यह लिखा है कि—

"सद्योगासद्योगसदसद्योगैर्नसमुच्चयः प्रभेदवान्। समविषम संकरेणैवान्यथासिद्धेः—अर्थात् समुच्चय रमणीयों के योग, अरमणीयों के योग, रमणीयारमणीयों के योग इन भेदों से युक्त नहीं है, क्योंकि समालंकार और विषमालंकार के संकर से ही ये भेद अन्यथा-सिद्ध हैं।" यह परास्त हो जाता है (क्योंकि पूर्वोक्तरीत्या समुच्चयांशमें 'सम' और 'विषम' अलंकारों का प्रवेश ही नहीं है)।

समुच्चय समाप्त

समाधि अलंकार

लक्षण

किसी एक कारण से उत्पन्न होनेवाले कार्य में अन्य कारण के आकस्मिक आ जाने से उत्पन्न सौकर्य को समाधि कहते हैं।

लक्षण का विवेचन

वह सौकर्य कहीं कार्य की अनायास सिद्धि के द्वारा होता है और कहीं सांगसिद्धि के द्वारा। समुच्चय से समाधि का भेद तो पहले (समुच्चयालंकार में) बताया ही जा चुका है।

उदाहरण

आयातैव निशा मनो मृगदृशामुन्निद्रमातन्वती
मानो मे कथमेष संप्रति निरातङ्कं हृदि स्थास्यति ।
ऊहापोहमिमं सरोजनयना यावद्विधत्तेतरां
तावत्कामनृपातपत्रसुषमं बिम्बं बभासे विधोः ॥

ज्योंही कमलनयनी यह ऊहापोह कर रही थी कि मृगनयनियों के मन को जागरित करती हुई रात्रि आ ही गयी, अब यह मान निःशंकतया मेरे हृदय में कैसे रहेगा, त्योंही राजा कामदेव के छत्र की शोभा के समान शोभा वाला चंद्र बिंब चमक उठा ।

यहाँ मान का विनाश रात्रि के समीप आने से सिद्ध हो रहा था कि चंद्रोदय के कारण उसकी अनायास सिद्धि हो गई ।

अथवा जैसे—

स्मरदीपदीप्तदृष्टेर्घनान्धकारेऽपि पतिगृहं यान्त्याः ।
झटिति प्रादुरभूवन्सख्यादिव चञ्चलाः परितः ॥

कामदेवरूपी दीपक से जिसकी दृष्टि प्रदीप्त हो रही थी ऐसी अभिसारिका घने अंधकार में भी पति के घर जा रही थी, कि मानो मित्रता के कारण, बिजलियाँ तत्काल चारों ओर प्रकट हो गई ।

यहाँ निर्विघ्न पतिगृह पहुँचने में आकस्मिक अन्य कारण उपस्थित होने से (मित्रतारूपी) हेतु की उत्प्रेक्षा की गई है, अतः यह उदाहरण उत्प्रेक्षा से संकीर्ण है और पूर्व उदाहरण शुद्ध ।

नवप्रसंगं दयितस्य लोभादङ्गीकरोति स्म यदा नताङ्गी ।
श्लथं तदालिङ्गनमप्यकस्माद्घनो निनादैर्घनतां निनाय ॥

नतांगी ने प्रिय के नवीन संगम को लोभ के कारण ज्यों ही स्वीकार किया, त्यों ही उस शिथिल आलिंगन को बादल ने अकस्मात् गर्जनों द्वारा दृढ बना दिया।

यहाँ बादल के गर्जनों से आलिंगन की 'सांगता' की सिद्धि है और पहले दोनों पद्यों में 'अनायासकार्यसिद्धि' है।

प्रत्युदाहरण

कथय कथमिवाशा जायतां जीविते मे
मलयभुजगवान्ता वान्ति वाताः कृतान्ताः।
अयमपि बत गुञ्जत्यालि माकन्दमौलौ
मनसिजमहिमानं मन्यमानो मिलिन्दः॥

हे सखि! कहो मेरे जीवन की आशा कैसे हो सकती है? जब कि मलयाचल के सर्पों द्वारा उगले हुए (जहरीले) वायु चल रहे हैं और कामदेव की महिमा को मानने वाला यह भ्रमर भी आम की मंजरी पर बैठ कर गूँज रहा है।

यहाँ जीवननाश के प्रति 'वायु चलने' और 'भौंरे के गूँजने' दोनों के ऊपरतले पड़नेवाले हेतु होने के कारण एक के आकस्मिक न होने से प्रस्तुत अलंकार का विषय नहीं है, किंतु (वायु और भ्रमर) कर्तृरूप भिन्न धर्मो वाली 'चलने' और 'गूँजने' रूप क्रियाओं के समुच्चय से संकीर्ण, जीवननाशरूपी एककार्यरूप एक धर्मी वाली (जीवननाश की) कारणभूत उन्हीं ('चलने' और 'गूँजने') क्रियाओं का समुच्चय है।

समाधि समाप्त

———

प्रत्यनीक अलंकार

लक्षण

प्रतिपक्ष से संबंध रखनेवाले के तिरस्कार को प्रत्यनीक कहते हैं।

लक्षण का विवेचन

व्यूहरचनाकार सैन्य को अनीक कहते हैं और अनीक के सदृश को 'प्रत्यनीक' कहते हैं। 'प्रत्यनीकम्' पद में अव्ययीभाव समास है, अव्ययीभाव समास 'अव्ययं विभक्ति०' (२।१।६) इस पाणिनि सूत्र से होता है। इस सूत्र में जो 'यथा' शब्द आया है उसके चार अर्थों में से एक अर्थ सादृश्य भी है, उसी से 'सादृश्यार्थ में अव्ययीभाव' सिद्ध होने पर भी उक्त सूत्र में सादृश्य के पुनर्ग्रहण से वैयाकरणों ने यह तात्पर्य निकाला है कि गौण सादृश्य (सादृश्यवान्) में भी अव्ययीभाव समास होता है, अतः यहाँ प्रत्यनीक शब्द का अर्थ अनीक का सादृश्य न होकर 'अनीक का सदृश' (सादृश्यवान्) है। लोक में देखा जाता है कि प्रतिपक्ष के तिरस्कार के लिए अनीक (सेना) का प्रयोग किया जाता है, परंतु प्रतिपक्ष का तिरस्कार करने की शक्ति न होने पर किसी उससे संबंध रखनेवाले का तिरस्कार किया जाता है, इस तिरस्कार का भी सेना की तरह प्रयोग किया जाता है, अतः ऐसे तिरस्कार को प्रत्यनीक कहते हैं। ऐसे तिरस्कार में प्रतिपक्ष की बलवत्ता और अपनी दुर्बलता ध्वनित होती है। प्रतिपक्षी के संबंधी उपजीव्य, उपजीवक, मित्र इत्यादि के भेद से अनेक प्रकार के हैं।

उदाहरण

रे रे मनो मम मनोभवशासनस्य
पादाम्बुजद्वयमनारतमानमन्तम्।

किं मां निपातयसि संसृतिगर्तमध्ये
नैतावता तव गमिष्यति पुत्रशोकः ॥

अरे ! मेरे मन ! तू मनोभव (तेरे पुत्र) के दंडदाता शिवजी के दोनों चरणकमलों को निरन्तर नमन करने वाले मुझे संसाररूपी गड्ढे में क्यों गिरा रहा है ? इतने से तेरा पुत्रशोक मिटेगा नहीं।

अथवा; जैसे—

जितमौक्तिकसंपदां रदानां सहवासेन परां मुदं ददानाम् ।
विरसादधरीकरोति नासामधुना साहसशालि मौक्तिकं ते ॥

मोतियों की संपत्ति को जीतनेवाले दाँतों के सहवास से (उनके साथ रहने के कारण) परम आनंद देनेवाली नासिका को विरसता (बैर) के कारण तेरा साहसी मोती इस समय नीचा दिखा रहा है।

प्रथम उदाहरण में उपजीव्य (आश्रय देनेवाले) प्रतिपक्षी (शिवजी) के संबंधी का तिरस्कार है, तथा बैर आर्थ है (क्योंकि परंपरया—अनुसंधान द्वारा—ज्ञात होता है) और इस उदाहरण में प्रतिपक्षी के संबंधी उपजीवक (आश्रय लेनेवाले) का तिरस्कार है तथा 'विरसता के कारण' इस शब्द से उक्त होने के कारण शाब्द है।

इस तरह अन्य उदाहरण भी सोच लेने चाहिए।

प्रत्यनीक पर विचार

यह अलंकार हेतूत्प्रेक्षा से ही गतार्थ है, अतः भिन्न अलंकार होने के योग्य नहीं। उक्त उदाहरणों में से द्वितीय उदाहरण में 'विरसात्' यह हेतु का अंश शाब्द है, केवल उत्प्रेक्षा का अंश आर्थ है, और प्रथम उदाहरण में तो दोनों आर्थ हैं। 'पुत्रमारक का सेवक होने'

रूपी कारण से वैर की, और मन के 'अपने को गड्ढे में गिराने रूपी कार्य' से उस वैर के हेतु होने की स्पष्ट ही प्रतीति है।

कहा जायगा कि इस अलंकार में हेतुत्व का निश्चय रहता है और हेतूत्प्रेक्षा में तो हेतुत्व की संभावना रहती है—यह दोनों में भेद है। तो यह उचित नहीं, क्योंकि ऐसी स्थिति में गम्यहेतूत्प्रेक्षा उत्प्रेक्षा ही नहीं रहेगी, क्योंकि वहाँ संभावना के वाचक इवादि का अभाव रहता है, अतः वहाँ भी हेतुत्व की निश्चीयमानता कही जा सकती है।

"यस्य किंचिदपकर्तुमक्षमः कायनिग्रहगृहीतविग्रहः।
कान्तवक्त्रसदृशाकृतिं कृती राहुरिन्दुमधुनापि बाधते॥

शारीरिक दंड के कारण विरोध स्वीकृत करके भी उनका (विष्णु का) कुछ भी अपकार करने में असमर्थ, कुशल राहु आज भी उनके सुंदर मुख के समान आकृति वाले चंद्रमा को बाधित करता है।"

इस अलंकारसर्वस्व द्वारा उदाहृत प्राचीन पद्य में भी 'मानो भगवान् के वैरानुबंध से भगवान् के मुख के समान चंद्रमा को राहु बाधा पहुँचाता है' इस प्रतीति के कारण गम्योत्प्रेक्षा ही है। और

"मम रूपकीर्तिमहरद्भुवि यस्तदनुप्रविष्टहृदयेयमिति।
त्वयि मत्सरादिव निरस्तदयः सुतरां क्षिणोति खलु तां मदनः॥

जिसने पृथ्वी पर मेरी रूपकीर्ति का अपहरण किया वही इसके हृदय में प्रविष्ट है। मानो तुम्हारे साथ इस मत्सर ('दूसरे का भला न हो' इस द्वेष) के कारण, निर्दय कामदेव उसको अत्यंत क्षीण कर रहा है।"

इस कुवलयानंदकार के उदाहृत पद्य में तो हेत्वंश और उत्प्रेक्षांश

दोनों ही शब्द हैं, फिर भी आयुष्मान् ने इसे इस (प्रत्यनीक) अलंकार का उदाहरण कैसे बना दिया यह विदित नहीं होता।

कहा जायगा कि 'प्रतिपक्षी की बलवत्ता और अपनी दुर्बलता' की प्रतीति के कारण अन्य हेतूत्प्रेक्षाओं से इसमें विलक्षणता है (अतः यह पृथक् अलंकार होना चाहिए) परंतु इतने मात्र से यह हेतूत्प्रेक्षा से बाहर नहीं जा सकता, क्योंकि बिना हेतूत्प्रेक्षा के यह अलंकार रहता ही नहीं। हाँ, उसका अवांतरभेद हो सकता है; (और अवांतर भेद पृथक् होता नहीं) क्योंकि पृथ्वी के अवांतर भेद घट से पट विलक्षण है, इस कारण वह पृथ्वी से बाहर नहीं हो जाता। यह भी कहा जाता है।

प्रत्यनीक समाप्त

प्रतीप अलंकार

लक्षण

प्रतीप पाँच प्रकार का है—

(१) प्रसिद्ध उपमा की विपरीतता से वर्णन की जाने वाली उपमा प्रथम प्रतीप है।

उपमा से विपरीतता का अर्थ है—प्रसिद्ध उपमान में उपमेय की और प्रसिद्ध उपमेय में उपमान की कल्पना, अन्य किसी प्रकार से नहीं।

(२) किसी गुण के कारण उपमान की अद्वितीयता के उत्कर्ष

को मिटाने के लिए किसी दूसरे के प्रदर्शन द्वारा उठाया जाने-वाला सादृश्य ।

(३) इसी तरह किसी गुण के कारण उपमेय की अद्वितीयता के उत्कर्ष को मिटाने के लिए किसी दूसरे के प्रदर्शन द्वारा उठाया जाने वाला सादृश्य ।

(४) उपमान का कैमर्थ्य ('वह क्यों है' यह कहना) । और

(५) सादृश्य का विघटन ।

लक्षण का विवेचन

इनमें से पहले भेद में प्रसिद्ध सादृश्य में जो उपमेय था उसी के उपमान हो जाने से 'आधिक्य की प्रतीति' और जो उपमान था उसी के उपमेय हो जाने से 'न्यूनता की प्रतीति' फल है । उपमालंकार से सादृश्य में कोई विशेषता न होने पर भी इस अलंकार की विलक्षणता का यही बीज है । व्यतिरेक से इसका यह भेद है कि उसमें सादृश्य का निषेध किया जाता है—और इसमें सादृश्य की स्थापना ।

कहा जायगा कि सादृश्य उपमान और उपमेय में साधारणरूप से रहता है—जैसा वह उपमान में रहता है वैसा ही उपमेय में रहता है, फिर यहाँ एक की अधिकता और दूसरे की न्यूनता की प्रतीति किस कारण होती है ? तो सुनिए, उपमान में साधारणधर्म (कांति आदि) के संबंध का अनुवाद रहता है—अर्थात् पहले से विद्यमान को पुनः कह दिया जाता है, और उपमेय में विधान—यह तो निर्विवाद है, और विधान होता है साध्यत्व के कारण तथा अनुवाद होता है सिद्धत्व के कारण । सो यहाँ (प्रसिद्ध) उपमान में साधारणधर्म की साध्यता उसकी न्यूनता का और (प्रसिद्ध) उपमेय में [?]साधारणधर्म की सिद्धता उसकीआ धिकता का कारण बन जाती है । लोक में भी यह स्पष्ट ही देख

जाता है कि जिस विद्वान् की विद्या निश्चित है उसकी जैसी पूजा की जाती है उस तरह उस विद्वान् की नहीं जिसकी विद्या अनिश्चित है। आप कहेंगे कि तब तो यह बड़ा दोष हुआ कि सिद्ध को साध्य बना दिया गया और साध्य को सिद्ध; तो यह कोई बात नहीं; क्योंकि साध्यत्व और सिद्धत्व वक्ता की विवक्षा के अधीन हैं—जिसको चाहे सिद्ध कहे और जिसको चाहे साध्य कहे, अतः कोई दोष नहीं।

प्रतीप के दूसरे और तीसरे भेदों का फल तो 'अद्वितीयता के उत्कर्ष का परिहार' स्पष्ट ही है।

चौथे भेद का फल है—'जिसका निषेध किया जा रहा है उस (अर्थात् उपमान) में रहने वाले सब गुणों से युक्तता का बोध'।

पाँचवें का फल 'प्रथम (प्रतीप)' के समान है—अर्थात् 'उपमान की न्यूनता और उपमेय की अधिकता की प्रतीति'।

प्रथम प्रतीप का उदाहरण; जैसे—

किं जल्पसि मुग्धतया हन्त ममाङ्गं सुवर्णवर्णमिति।
तद्यदि पतति हुताशे तदाः हताशे तवाङ्गवर्णं स्यात् ॥

सखी या नायक नायिका से कहता है—भोलेपन से क्या कह रही हो कि ओह ! मेरा अंग सुवर्ण वर्ण है, हे निराशे, यदि वह अग्नि में गिरे तो तुम्हारे अग के वर्णवाला हो सकता है।

यहाँ पूर्वार्ध की उपमा से प्रतीत होनेवाले 'सुवर्ण के आधिक्य' का तिरस्कार करके, द्वितीयार्ध में 'प्रतीप', बाला के अंग के वर्ण की अधिकता को बताता है।

विशेषता यह है कि अग्नि में गिरे बिना 'प्रतीप' भी दुर्लभ है, मुग्धत्व और हताशत्व के द्वारा यह प्रतीत होता है कि 'सुवर्ण को तुम्हारा सादृश्य सपने में भी संभव नहीं है'।

द्वितीय प्रतीप का उदाहरण; जैसे—

माहात्म्यस्य परोऽवधिर्निजगृहं गम्भीरतायाः पिता
रत्नानामहमेक एव भुवने को वापरो मादृशः।
इत्येवं परिचिन्त्य मा स्म सहसा गर्वान्धकारं गमो
दुग्धाब्धे! भवता समो विजयते दिल्लीधरावल्लभः।

हे क्षीरसमुद्र! मैं अकेला ही माहात्म्य की पराकाष्ठा हूँ, गंभीरता का निजभवन हूँ और रत्नों का पिता हूँ, संसार में मुझसा दूसरा कौन है? इस प्रकार सोचकर सहसा गर्वांधकार में मत डूब। तेरे समान दिल्लीश्वर का विजय हो रहा है—वे आज भी तेरी छाती पर बैठे हैं।

तृतीय प्रतीप का उदाहरण; जैसे—

निभाल्य भूयो निजगौरिमाणं मा नाम मानं हृदये विधासीः।
गृहे गृहे पश्य तवाङ्गवर्णा मुग्धे सुवर्णावलयो लुठन्ति॥

हे मुग्धे! बार बार अपने गोरेपन को देख कर हृदय में मान मत करो, देखो तुम्हारे अंग के से रंग वाले सुवर्ण की पंक्तियाँ घर घर में लोट रही हैं।

चतुर्थ प्रतीप का उदाहरण तो 'अभूदप्रत्यूहः०' इत्यादि आक्षेप के प्रकरण में ही कहा जा चुका है।

पञ्चम प्रतीप का उदाहरण; जैसे—

करिकुम्भतुलामुरोजयोः क्रियमाणां कविभिर्विशृङ्खलैः।
कथमालि! शृणोषि सादरं विपरीतार्थविदो हि योषितः॥

हे सखि! उच्छृंखल कवियों द्वारा की जाने वाली स्तनों की करि-

कुंभ के साथ तुलना को आदर सहित कैसे सुन लेती हो ? प्रतीत होता कि स्त्रियाँ उलटा ही अर्थ समझती हैं।

यहाँ 'कैसे सुन लेती हो' इसके द्वारा 'तुलना संभव नहीं है' यह अभिव्यक्त होता है। अर्थांतरन्यास भी इसी अर्थ की पुष्टि करता है—अर्थात् तुलना को भी तुम अतुलना समझती हो।

सो इस तरह प्राचीनों के अनुरोध से पाँच प्रकार के प्रतीप का निरूपण किया गया है।

प्रतीप पर विचार

वस्तुतः तो पहले तीनों भेद उपमा के ही अंतर्गत हैं, चौथा कुछ लोगों के मत में आक्षेप है और पाँचवाँ अनुक्तवैधर्म्य व्यतिरेक में अंतर्भूत हो जाता है। देखिए—'सिद्ध होने वाले सादृश्य' का अथवा 'सुंदर सादृश्य' का नाम उपमा है। अब सोचिए कि 'मुख के समान कमल' इत्यादि प्रतीप के प्रथम उदाहरण में सादृश्य की असिद्धि अथवा असुंदरता नहीं है, जिससे वह उपमा से बाहर हो जाय, क्योंकि एक प्रकार की सुंदरता तो तुमने भी स्वीकार की है और किसी भी प्रकार की सुंदरता रहने पर सामान्य सुंदरता का निवारण नहीं हो सकता—अर्थात् असुंदर नहीं कहा जा सकता, और यह कोई राजाज्ञा तो है नहीं कि जिस सादृश्य में प्रसिद्ध कमल आदि उपमान हो वही उपमा है। कहा जायगा कि 'प्रतीप' शब्द 'उपमाविरुद्ध' का वाचक है (न कि उपमा का), अतः उसके प्रभाव से ही प्रतीप के विरुद्ध सादृश्य को उपमा कहा जाय। पर यह उचित नहीं, क्योंकि उपमा-सामान्य (यावन्मात्र उपमाओं) के विरुद्ध होने पर ही प्रतीप कहा जाय ऐसा नहीं है। किंतु उपमाविशेष (किसी उपमा) के विरुद्ध का वाचक होने से भी प्रतीप शब्द उपपन्न हो सकता है। सो इस तरह

प्रथम प्रतीप प्रसिद्ध उपमा के समान उपमा का विशेष—अर्थात् एक प्रकार की उपमा ही है।

इसी कारण प्रतीप के दूसरे और तीसरे भेद भी विशेष प्रकार की उपमाएँ हैं। कहा जायगा कि उनमें से दूसरे में उपमान का तिरस्कार और तीसरे में उपमेय का तिरस्कार है, अतः वे उपमाविशेष कैसे हुए? तो इसका उत्तर यह है कि तिरस्कार किसी दूसरी उपमा से विलक्षणता का प्रयोजक हो सकता है सामान्य उपमा (यावन्मात्र उपमाओं) से विलक्षणता का प्रयोजक नहीं, क्योंकि उसकी प्रतीति उपमा से अनुस्यूत होकर ही होती है। अंगूर मधुरता की अधिकता के कारण अन्य पार्थिव वस्तुओं से विलक्षण होता है, इस कारण वह अपार्थिव नहीं हो जाता। दूसरी बात यह है कि यदि उपमान और उपमेय के तिरस्कार को भिन्न अलंकारता का प्रयोजक माना जाय तो उनका पुरस्कार भी भिन्न अलंकारता का प्रयोजक हो सकता है; जैसे—

एको विश्वसतां हराम्यपघृणः प्राणानहं प्राणिना-
मित्येवं परिचिन्त्य मा स्म मनसि व्याधानुतापं कृथाः।
भूपानां भवनेषु किं च विमलक्षेत्रेषु गूढाशयाः
साधूनामरयो वसन्ति कति न त्वत्तुल्यकक्षाः खलाः॥

हे व्याध! 'मैं अकेला निर्दयी विश्वास करनेवाले प्राणियों के प्राणों का हरण करता हूँ' इस तरह सोचकर मन में पश्चात्ताप मत कर, राजाओं के भवनों में और निर्मल क्षेत्रों में—अर्थात् तीर्थादिकों में—अपने मन का भेद छिपानेवाले सत्पुरुषों के शत्रु तुम्हारे ही समकक्ष कितने दुष्ट नहीं रहते?

यहाँ सादृश्य के प्रदर्शन का फल उपमान का तिरस्कार नहीं है, क्योंकि कवि उसे गर्वित नहीं कहना चाहता, किंतु उसके पश्चात्ताप का

नाश ही सादृश्य का फल है, सो इस तरह फल की विलक्षणता मात्र से भिन्नालंकारता कहनेवाले आपको उक्त उदाहरण में भी भिन्ना-लंकारता अथवा प्रतीप का छठा भेद स्वीकार करना पड़ेगा।

तीसरे, तुमने जो प्रतीप के भेद लिखे हैं वे भी परस्पर विलक्षणता के कारण पृथक् पृथक् अलंकार ही होंगे; प्रतीप के भेद नहीं, क्योंकि प्रतीप का कोई ऐसा सामान्य लक्षण[1] नहीं है जो सब भेदों में साधा-रण हो। और 'उनमें से कोई एक' यह लक्षण बनाना तो हजारों दूषणों से ग्रस्त है, अतः लक्षण ही नहीं है, यह बार बार कहा जा चुका है। रहा उपमा का लक्षण, सो तो (प्रतीप के) सब भेदों में साधारण है ही।

चौथा प्रभेद जिनके मत में आक्षेप नहीं है उनके मत में प्रतीपा-लंकार हो सकता है। पंचम भेद का गति तो कही ही जा चुकी है—अर्थात् वह पहले भेद के समान है, अतः उपमा के ही अंतर्गत है।

प्रतीप समाप्त

१—नागेश कहते हैं—'कोई सामान्य लक्षण नहीं है' यह कहना विचारणीय है; क्योंकि 'जिसका तिरस्कार फल है ऐसी उपमान के अप-कर्ष के बोध के अनुकूल चेष्टा' यह प्रतीप का सामान्य लक्षण हो सकता है। यह दूसरी बात है कि वह चेष्टा वाच्य हो अथवा व्यंग्य।

प्रौढोक्ति अलंकार

लक्षण

किसी पदार्थ में किसी धर्म के कारण, अतिशय के प्रतिपादन की इच्छा से, जिसमें वह धर्म प्रसिद्ध है उसके साथ, इस पदार्थ के संसर्ग का उद्भावन (उत्पन्न करना) प्रौढोक्ति है।

यह संसर्ग सच्चा, झूठा, साक्षात् या परंपरा से कैसा भी हो सकता है।

उदाहरण

वल्मीकोदरसंभूतकपिकच्छूसहोदराः।
हा पीडयित्वा निघ्नन्ति सज्जनान्दुष्टदृष्टयः॥

हाय! वाल्मीक के गर्भ से उत्पन्न कपिकच्छू[1] (कौंछ—(केवाँच)-स्पर्शमात्र से भयंकर खुजली पैदा करने वाला पौधा) के सगे भाई दुष्ट दृष्टि वाले लोग सज्जनों को दुःख देकर मारते हैं।

यहाँ 'कपिकच्छू का सगा भाई' होन से 'मारकता' नहीं प्राप्त होती, किंतु केवल पीड़ाजनकता प्राप्त होती है, परंतु कवि 'दुख देकर मारने' के रूप में अतिशय बताना चाहता है, अतः कपिकच्छू का विशेषण 'वल्मीक (जिसमें साँप रहते हैं) के अंदर से उत्पन्न' यह दिया गया है जिससे साँप के साथ रहने के रूप में मारकत्व प्रतीत होता है, जो कि कवि ने अपनी प्रतिभा से कल्पित किया है।

१—कपिकच्छू का वृश्चिक अर्थ, जो सरला में लिखा है, अप्रामाणिक प्रतीत होता है। —अनुवादक

अथवा; जैसे—

मन्थाचलभ्रमणवेगवशंवदा ये
दुग्धाम्बुधेरुदपतन्नणवः सुधायाः।
तैरेकतामुपगतैर्विविधौषधीभि-
र्धाता ससर्ज तव देव! दयादृगन्तान्॥

हे देव! आपके कृपाकटाक्षों को विधाता ने मंदराचल के भ्रमण के वेग के अधीन जो अमृत के अणु क्षीरसमुद्र से निकले, इकट्ठे हुए उनसे, तथा विविध ओषधियों से उत्पन्न किया है।

यहाँ कटाक्षों में केवल अमृत के ही गुण 'संजीवकता—आदि' कवि को नहीं समझाने हैं, किंतु समग्र मनुष्यो के वशीकरण आदि अन्य गुण भी बताने हैं, इसलिए अतिशयजननार्थ सुधाकणों में 'ओषधियों का संसर्ग' विशेषणरूप से ग्रहण किया गया है। यहाँ सुधाकणों के साथ दृगंतों का उत्पाद्योत्पादकभाव संबंध लोकसिद्ध नहीं है, किंतु केवल कविकल्पित है।

अथवा; जैसे—

त्वदङ्गणसमुद्भूता सिक्ता कुङ्कुमवारिभिः।
त्वदङ्गतुलनां याति कदाचिल्लवलीलता॥

लवलीलता (हरफारेवड़ी?) यदि तुम्हारे आँगन में उत्पन्न हो और केसर के पानी से सींची जाय तो कदाचित् तुम्हारे अंग की तुलना कर सकती है।

यहाँ केवल लवली में उपमानता का बोझ सहन करने का सामर्थ्य नहीं है, अतः उपमानता का सामर्थ्य सिद्ध करने के लिए 'नायिका के सहवास' और 'कुंकुमजल के संयोग' का ग्रहण किया गया है।

'प्रौढोक्ति और 'सम'का भेद

यह स्मरण रखना चाहिए कि यहाँ किसी धर्मी के संसर्ग से यदि अन्य धर्मी में रहने वाला अतिशय व्यंग्य हो तभी यह अलंकार होता है। किंतु अभिधा द्वारा यदि तत्तत्कार्यत्वेन कहा जाय तो समालंकार का ही विषय होता है; जैसे—

त्वत्तो जन्म हिमांशुशेखरतनुज्योत्स्नानिमग्नात्मनो
दुग्धाम्भोनिधिमुग्धवीचिवलयैः साकं परिक्रीडनम् ।
संवासः सुरलोकसिन्धुपुलिने वादः सुधांशोः करैः
कस्मान्नोज्ज्वलिमानमश्नुतितमां देव त्वदीयं यशः ॥

हे देव! तुम्हारा यश क्यों न अत्यंत उज्ज्वलता को प्राप्त करे! शिवजी के शरीर की चाँदनी (चंद्रमाकी कांति) में जिनका अंतःकरण निमग्न रहता है ऐसे आप से (जिसका) जन्म, क्षीर समुद्र के मुग्ध तरंगमंडलों के साथ (जिसकी) क्रीडा, देवनदी गंगाजी के पुलिन पर (जिसका) निवास और चंद्रमा की किरणों से (जिसकी) प्रति-स्पर्धा हो (वह ऐसा क्यों न हो)।

यहाँ यश की धवलता का अतिशय तत्तद् धर्मी के संबंध से प्रयुक्त होने के रूप में कहा गया है, इस कारण उस अंश में समालंकार ही है, किंतु 'हिमांशुशेखरतनुज्योत्स्नानिमग्नात्मनः' यहाँ किरणकृत धवलता का अतिशय चंद्रमा में, चंद्रकृत धवलतातिशय भगवान् शिव में और भगवत्कृत धवलतातिशय राजा में, इस तरह उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ राजगतधवलता का अतिशय अनुक्त होने के कारण प्रौढोक्ति का ही विषय है।

'मिथ्याध्यवसिति' अलंकार का खंडन

सो इस तरह

शशशृङ्गधनुर्लसत्करा गगनाम्भोरुहमालिकाधराः ।
तनयैः सह भाविजन्मनां तव खेलन्ति नरेन्द्र वैरिणः ॥

हे महाराज ! आपके वैरी खरगोश के सींग का धनुष हाथ में लिए हुए और गगनकमल की मालाएँ धारण किए हुए जिनका जन्म अब होगा उनके पुत्रों के साथ खेल रहे हैं ।

इत्यादिक में एक का मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिए अन्य मिथ्याभूत वस्तु की कल्पना मिथ्याध्यवसिति नाम का भिन्न अलंकार है, यह कहना उचित नहीं, क्योंकि यह अलंकार प्रौढोक्ति से ही गतार्थ हो जाता है । कारण, जिस प्रकार प्राचीनों के

"केशाः कलिन्दजातीरतमालस्तोममेचकाः ।

अर्थात् केश यमुनातट के तमाल—समूह के समान काले हैं ।" इत्यादि प्रौढोक्ति के उदाहरण में 'तमालों में श्यामता के अतिशय' के लिए श्यामत्व का आधार न होने पर भी आधाररूप में संपादित कालिंदी का संबंध उद्भूत किया जाता है, वैसे वैरियों में भी मिथ्यात्व की सिद्धि के लिए मिथ्यात्व के आधारभूत शशशृंगादिकों का संबंध है—यह भी कहा जा सकता है, (अतः मिथ्याध्यवसिति की कल्पना व्यर्थ है) ।

यदि कहा जाय कि वहाँ 'श्यामता का अतिशय' है और यहाँ तो केवल मिथ्यात्व है उसका अतिशय तो सिद्ध होता नहीं—यह विलक्षणता है; तो यह उचित नहीं; क्योंकि तमाल-समूह में अन्य समूहों से श्यामता सिद्ध होने पर भी कालिंदी के संसर्ग का उद्भूत करना पुनः श्यामत्व का साधन होने से अतिशय का व्यंजक ही हो सकता है, किंतु वैरियों में तो मिथ्यात्व असिद्ध है अतः शशशृंगादि के संबंधों से मिथ्यात्व की सिद्धि होती है, इस कारण उक्त अतिशयसिद्धि अर्थ-

प्राप्त समास के अधीन, है—अर्थात् 'अतिशय' शब्दतः प्रतिपादित तो है नहीं अर्थ के अधीन है, जहाँ पहले से श्यामता सिद्ध है वहाँ केवल अतिशय को सिद्ध करती है और जहाँ अर्थ (मिथ्यात्व) ही असिद्ध वहाँ उसे सिद्ध करती है, अतः यह अतिशयसिद्धि विलक्षणता का प्रयोजक नहीं होती।

और जो कुवलयानंदकारने—

"वेश्यां वशयेत्खस्रजं वहन्।

आकाशपुष्प की माला लेकर वेश्या को वश में कर सकता है।"

यह मिथ्याध्यवसिति का उदाहरण बनाया है वह तो निदर्शना से ही गतार्थ है। कहा जायगा कि यहाँ पर निदर्शनागर्भ मिथ्याध्यवसिति है, तो यह उचित नहीं, क्योंकि मिथ्याध्यवसिति (स्वयं) ही मिथ्या है—फिर उसकी बात ही क्या करना है, क्योंकि यदि मिथ्याध्यवसिति ही भिन्न अलंकार हो तो सत्याध्यवसिति भी भिन्न अलंकार हो सकता है। जैसे—

हरिश्चन्द्रेण संज्ञप्ताः प्रगीता धर्मसूनुना।
खेलन्ति निगमोत्सङ्गे मातर्गङ्गे! गुणास्तव॥

हरिश्चंद्र द्वारा बताए हुए और युधिष्ठिर द्वारा गाए हुए तुम्हारे गुण, हे मातर्गंगे! वेद की गोदी में खेल रहे हैं।

यहाँ हरिश्चंद्र, युधिष्ठिर और वेद के संबंध से गुणों की सत्यता प्रतीत होती है। इसी प्रकार—

मध्ये सुधासमुद्रस्य सितामयगृहोदरे।
पूर्णेन्दुविष्टरे देव! स्थातुं योग्यास्तवोक्तयः॥

हे देव ! आपकी उक्तियाँ सुधासमुद्र के मध्य में मिश्री के बने हुए घर के अंदर पूर्णचंद्र के आसन पर स्थान पाने योग्य हैं।

यहाँ भी समुद्रादि के संबंध से उक्तियों में प्रतीत होनेवाला माधुर्य का अतिशय किस अलंकार का विषय होगा ? इसलिए यह भी भिन्न अलंकार ही होगा। मेरे मत में तो इन सबकी प्रौढोक्ति से ही गतार्थता है इस कारण इसे यहीं रहने दीजिए—आगे बढ़ाना व्यर्थ है।

प्रौढोक्ति समाप्त

ललितालंकार

लक्षण

प्रस्तुत धर्मी में प्रस्तुतव्यवहार का उल्लेख न करके निरूपण किया जाने वाला अप्रस्तुतव्यवहार का संबंध ललितालंकार होता है।

लक्षण का विवेचन

'आददानः परद्रव्यं विषं भक्षयसि ध्रुवम्।

दूसरे का धन लेते हुए तुम निश्चय ही जहर खा रहे हो' इत्यादि निदर्शनालंकार में अति व्याप्ति न होने के लिए लक्षण में 'प्रस्तुत व्यवहार का उल्लेख करके' यह भाग दिया गया है। अप्रस्तुत प्रशंसा में अति व्याप्ति न होने के लिए 'प्रस्तुत धर्मी में' यह लिखा गया है।

उदाहरण; जैसे—

क्व वा रामः कामप्रतिभटललाटन्तपबल-
स्तव क्वामी वीरा रणशिरसि धीरा मखभुजाम्।
दिधक्षोस्त्रैलोक्यं प्रलयशिखिनः पद्ममथन-
प्रगल्भैः प्रालेयैः प्रशममसि कर्तुं व्यवसितः॥

कहाँ शिवजी के शिर को चकरा देने वाले बल से युक्त राम और कहाँ यज्ञ खाने वालों (देवताओं) के रण के अग्रभाग में धीर रहने वाले तुम्हारे ये वीर! (तुम तो) कमलों को नष्ट करने में निपुण ओस की बूँदों द्वारा त्रिलोकी को दहन करना चाहनेवाले प्रलयानल को शांति करने का उद्यत हो। यह रावण के प्रति विभीषण की उक्ति है।

यहाँ प्रस्तुत धर्मी है रावण, उसमें 'दूसरों के दिये पुरोडाशादिक खानेवाले देवताओं के सामने धैर्यशाली कुंभकर्णादिक वीरों से भगवान् राम के पराभव की इच्छा करता हुआ' इस रूप में स्पष्टतया तादृश इच्छारूप प्रस्तुत व्यवहाररूपी विषय को न कहकर 'वैसी ओस की बूँदों द्वारा वैसी अग्नि की शांति का उद्यम' रूपी अप्रस्तुत व्यवहार विषयी (उपमान) के रूप में ग्रहण किया गया है, अतः ललितालंकार है। यदि (पूर्वोक्त) विषय का ग्रहण किया जाय तो निदर्शना ही होगी।

अथवा; जैसे—

नान्यास्ति किं भूमितले सुरूपा सीतैव वा किं भवतोऽनुरूपा।
आकर्षता चन्दनशाखिशाखां प्रबोधितोऽयं भवता फणीन्द्रः॥

क्या पृथ्वीतल पर और कोई सुंदरी नहीं है? अथवा क्या सीता ही तुम्हारे अनुरूप है? तुमने चंदनवृक्ष की शाखा को खींचते हुए इस नागराज को जगा दिया।

यहाँ भी 'राघवसंबंधिनायिकाहरण के कारण उनके क्रोध जगाने' को न कहकर 'चंदनसंबंधिशाखा खींचने के कारण नागराज का जगाना' रक्खा गया है।

अन्य अलंकारों से भेद

कहा जायगा कि यहाँ 'भेद में अभेदरूपा अतिशयोक्ति' द्वारा गतार्थता हो सकती है, पर यह ठीक नहीं; क्योंकि 'कनकलतायां विराजते चंद्रः—कनकलता (गौरांगी) पर चंद्र (मुख) सुशोभित हो रहा है' इत्यादिक अतिशयोक्ति में पदार्थ से पदार्थ का ही अभेदाध्यवसान देखा गया है, व्यवहार से व्यवहार का अभेदाध्यवसान नहीं। इस कारण यह अतिशयोक्ति का विषय ही नहीं है। न यह सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसा से ही गतार्थ हो सकता है, क्योंकि धर्मी के अंश में अप्रस्तुतता का अभाव है। न यह निदर्शना से ही गतार्थ हो सकता है, क्योंकि एक धर्मी में दो व्यवहारों का ग्रहण हो तभी निदर्शना इष्ट है। अतएव निदर्शना के लक्षण में 'दोनों व्यवहारों का गृहीत होना' कहा गया है, किंतु प्रस्तुत उदाहरण में प्रस्तुत व्यवहार गृहीत नहीं है। अतः यह भिन्न ही अलंकार होगा। सो इस तरह—

"क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्॥

कहाँ सूर्य से उत्पन्न वंश और कहाँ अल्प विषय वाली (अल्पज्ञ मेरी) मति, मैं मोह के कारण छोटी डोंगी से दुस्तर सागर को पार करना चाहता हूँ ।

इसको काव्यप्रकाशकार ने जो निदर्शना का उदाहरण बताया है वह असंगत ही है। क्योंकि ललितालंकार अवश्य ही स्वीकार करने योग्य है और निदर्शना की यहाँ प्राप्ति भी नहीं है। यह है ललित को भिन्न अलंकार मानने वालों का अभिप्राय।"

ललित की निदर्शना से ही गतार्थता

दूसरे तो कहते हैं कि 'ललित' भिन्न अलंकार नहीं है, क्योंकि वह निदर्शना से ही गतार्थ हो जाता है। कहा जायगा कि—निदर्शना का जीवन है 'एक धर्मी के अंदर प्रस्तुत और अप्रस्तुत दो व्यवहारों का ग्रहण' सो वह केवल अप्रस्तुत व्यवहार के ग्रहण करने पर यहाँ कैसे स्थान पा सकती है ? तो आयुष्मान् सुनें—अलंकारशास्त्र में (सभी) अलंकार प्रायः श्रौत और आर्थ हुआ करते हैं। उनमें कहीं भी श्रौतों से आर्थ पृथक् अलंकार के रूप में नहीं गिने जाते, किंतु उस अलंकार के पृथक् भेद के रूप में ही गिने जाते हैं; क्योंकि वे उस अलंकार के सामान्य लक्षण के ही अंतर्गत होते हैं (यह निर्णीत है)।

अब इस दृष्टि से विचार करिए—वाक्यार्थनिदर्शना का स्वरूप है 'दो व्यवहारों से युक्त (भिन्न भिन्न) दो धर्मियों के अभेद के प्रतिपादन द्वारा आक्षिप्त दो व्यवहारों का अभेद' वहाँ दो व्यवहारों से युक्त धर्मियों के अभेद का प्रतिपादन श्रौत ही अपेक्षित है ऐसा कोई नियम नहीं, किंतु तादृश अभेद का प्रतिपादनमात्र होना चाहिए। अतः जिस प्रकार—

'परद्रव्यं हरन्मर्त्यो गिलति क्ष्वेडसंचयम्—जो मनुष्य दूसरे के धन का हरण करता है वह विषसमूह को निगलता है'

यहाँ जहाँ कि दो व्यवहारों से युक्त दो धर्मियों के अभेद का प्रतिपादन है, उसी तरह 'धिक् परस्वं, तथाप्येष गिलति क्ष्वेड-संचयम्—परद्रव्य को धिक्कार है तथापि यह विषसमूह को निगल रहा है।' यहाँ एक धर्मी है 'आर्थ प्रकृत व्यवहार' से युक्त और दूसरा धर्मी है 'श्रौत अप्रकृत व्यवहार से युक्त' इन दोनों धर्मियों के आर्थ अभेद का प्रतिपादन होने पर भी वाक्यार्थनिदर्शना होने में कोई क्षति नहीं। हाँ, इस विशेषता का निवारण नहीं किया जा सकता कि एक जगह श्रौती निदर्शना है दूसरी जगह आर्थी। पदार्थनिदर्शना का स्वरूप तो 'उपमान और उपमेय के धर्मों के अभेदाध्यवसाय के आधार पर उपमेय में उपमान के धर्म का संबंध' है, सो वह तो पृथक् है ही, और वाक्यार्थनिदर्शना अथवा पदार्थनिदर्शना में से कोई एक होना प्राचीनों की रीति से निदर्शना का सामान्य लक्षण है।

ऐसी दशा में यदि ललित पृथक् अलंकार हो तो लुप्तोपमादिक भेद भी उपमादिक से पृथक् हो जाएँगे, क्योंकि (श्रौत और आर्थ भेदों को पृथक् मानने वाली) तुम्हारी युक्ति दोनों जगह सामान्य ही है।

कहा जायगा कि ऐसा (अभेदाध्यवसान को आर्थ) माना जाय तो अतिशयोक्ति का भी रूपक में विलय हो जायगा, क्योंकि यह भी कहा जा सकेगा कि 'जहाँ विषय और विषयी दोनों का ग्रहण हो वहाँ श्रौत रूपक है और जहाँ केवल विषयी मात्र का ग्रहण हो वहाँ आर्थ रूपक है'। यह आपका कहना सच है, किंतु जहाँ अलंकार का शरीर दोनों (शाब्द और आर्थ) स्थानों पर विलक्षण नहीं होता वहाँ 'एक अलंकार कहना' उचित है; जैसे—'सिद्ध किया जाने वाला सादृश्य' उपमा का शरीर है वह लुप्तोपमादिक में भी विलक्षण नहीं है, अतः वहाँ भी उपमा कहना उचित है, अन्य अलंकार कहना नहीं।

रहा लुप्तत्व पूर्णत्व आदिक, सो वह तो उपमा के लक्षण के शरीर में निविष्ट नहीं है। अतः स्वयं एक दूसरे से पृथक् होते हुए भी (उक्त भेदों को) उपमात्व से पृथक् नहीं करता। वही बात अन्यत्र भी है। यह स्थिति है। ऐसी दशा में 'विषयतावच्छेदक (मुखत्वादि) के रूप से प्रतीत होने वाले विषय में विषयितावच्छेदक (चंद्रत्वादि) से अवच्छिन्न चंद्र आदि का अभेद' है रूपक का शरीर और अतिशयोक्ति का स्वरूप है 'विषयितावच्छेदक (चंद्रत्वादि) के रूप से प्रतीयमान विषय (मुख आदि)'। सो इन दोनों के (स्वरूप) विलक्षण होने से दोनों की एकालंकारता उचित नहीं; और निदर्शना एवं ललित में तो 'स्वरूप का विलक्षण न होना' दिखाया जा चुका है, इसलिये एकालंकारता ही है। यह कहा जाता है।

नवीनों का कहना है कि 'विषय (उपमेय) में विषयी (उपमान) का आहार्य निश्चय का विषयीभूत अभेद' रूपक का स्वरूप है। उसमें विषयतावच्छेदक आदि का निवेश नहीं है, क्योंकि उससे गौरव होता है। सो इस तरह विषयी में विषय का निगरण करके अध्यवसानरूपा अतिशयोक्ति भले ही रूपक का भेद रहे—इसमें हमारी क्या हानि है? यही बात अपह्नुति के विषय में भी है—अर्थात् अपह्नुति भी रूपक का ही भेद है। विषयतावच्छेदक (मुखत्वादि) के निह्नव (अपह्नुति में), अनिह्नव (रूपक में) और निगरण (अतिशयोक्ति) रूपक के ही अवांतर भेद हैं।

इस मत की रीति से तो निदर्शना से ललित को पृथक् अलंकार मानना केवल मनोरथ का विलास ही है।

सो इस तरह (प्राचीनों और नवीनों दोनों के मत से) 'तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्' इस काव्यप्रकाश के उदाहरण में निदर्शना अच्छी तरह संगत हो जाती है, क्योंकि 'क सूर्यप्रभवोवंशः क

चाल्पविषया मतिः' इस पूर्वार्ध द्वारा, 'अपनी मति और सूर्यप्रभव वंश की अत्यंत अननुरूपता' बताने के बाद 'अप्रस्तुत डोंगी द्वारा सागर तैरने की इच्छा' के कथन से 'तादृशमति द्वारा तादृशवंश के वर्णन की इच्छा' जो प्रकृत है, विदित हो जाती है।

कुवलयानंद का खंडन

और जो कुवलयानंदकार कहते हैं कि—

"अनायि देशः कतमस्त्वयाद्य वसन्तमुक्तस्य दशां वनस्य।

आपने किस देश को वसंत से छोड़े हुए वन की दशा में पहुँचा दिया?"

इस पद्य में 'आपने कौन सा देश छोड़ा है—अर्थात् आप कहाँ से आ रहे हैं? इस प्रस्तुत अर्थ को न कहकर उसके स्थान पर 'वसंत से छोड़े हुए वन की दशा को पहुँचाया' इस केवल उसके प्रतिबिंबभूत अर्थ के रखने से ललितालंकार है"।

सो यह अत्यंत असंगत है, क्योंकि यहाँ एक की दशा में दूसरा कैसे पहुँचाया जा सकता है, अतः शोभारहितता रूपी 'वसंत से छोड़े हुए वन की दशा को प्राप्त कर दिया गया है' यह अंतिम अर्थ है। तात्पर्य यह है कि 'वसंत से मुक्त वन की दशा' का अर्थ 'शोभारहितता है। सो इस अर्थ में 'शोभारहितत्व' रूपी कार्य के द्वारा (देश के विषय में) 'राजकर्तृकत्यागकर्मत्वरूपी कारण' का कथन पर्यायोक्त का विषय है (निदर्शना का नहीं)। यह दूसरी बात है कि 'दोनों दशाओं (वसंतमुक्त वन की दशा और राजमुक्त देश की दशा) की एकता का अध्यवसान पदार्थनिदर्शना का विषय है अथवा अतिशयोक्ति का। सो इस तरह यहाँ पदार्थनिदर्शना से उपबृंहित पर्यायोक्त का ही विषय है, ललित का नहीं।

दूसरे, तुम्हारा बताया हुआ ललितालंकार का लक्षण भी यहाँ नहीं बैठता। आपका लक्षण है—'प्रस्तुते वर्ण्यवाक्यार्थप्रतिबिम्बस्य वर्णनम्'। और उसका विवेचन आपने यों किया है कि—'प्रस्तुते धर्मिणि वर्णनीयं वाक्यार्थमवर्णयित्वा कस्यचिदप्रस्तुतस्य वाक्यार्थस्य वर्णनं ललितम्—अर्थात् प्रस्तुत धर्मी में वर्णन योग्य (प्रस्तुत) वाक्यार्थ का वर्णन न करके किसी अप्रस्तुत वाक्यार्थ का वर्णन ललित है'। इत्यादि। सो यहाँ प्रस्तुत धर्मी है देशविशेष, उसमें वर्णनीय अर्थ है—राजकर्तृकत्यागकर्मत्व, उसका वर्णन न होने पर भी अप्रस्तुत 'वसन्तकर्तृकत्यागकर्मत्व' का भी यहाँ वर्णन नहीं है; अतः लक्षण कैसे संगत होगा ?

हाँ, यदि 'अकारि देशः कतमस्त्वयाद्य निरस्तचन्द्रः कठिनाशयेन—कठोर अन्तःकरण वाले आपने आज किस देश को चंद्ररहित कर दिया ?' यह पद्य होता तो आपका मनोरथ हो भी सकता था। कहा जायगा कि वन की तादृश दशा अप्रस्तुत है उसका देशविशेष में वर्णन है ही, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ 'दशा' शब्द से उस दशा (वन की दशा) के समान अन्य दशा (देश की दशा) लक्ष्य है, वह दशा अप्रस्तुत हो नहीं सकती, अन्यथा पदार्थनिदर्शना का उच्छेद हो जायगा।

सो इस तरह—

रामो विजयते यस्य क्षणात्सामर्षवीक्षणात्।
दावाग्निदग्धकान्तारलीलां लङ्कापुरी दधौ ॥

राम सर्वोत्कृष्ट हैं, जिनके सक्रोध अवलोकन से क्षणभर में ही लंकापुरी ने दावानल से जले हुए जंगल की लीला धारण कर ली।

इत्यादिक में जो लोग ललित को भिन्न अलंकार मानते हैं उनके

भी मत में यह पद्य ललितालंकार का विषय नहीं, किंतु निदर्शना का विषय है। अतएव

"उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जा-
वहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम्।
वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टा-
द्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम् ॥

जिस समय ऊपर की तरफ किरणरूपी रस्मी फैलाए हुए सूर्य उदय होता है और चंद्रमा अस्त होता है उस समय यह पहाड़ (रैवतक) लटकते हुए दो घण्टाओं से युक्त गजराज की लीला को धारण करता है।"

यह प्राचीनों का निदर्शना का उदाहरण भी संगत हो जाता है। तुम्हारे पक्ष में तो 'किरणरूपी रस्सी से बंधे हुए सूर्य चंद्र जिसके दोनों बगल में लगे हुए हैं ऐसा यह पहाड़' इस रूप में प्रस्तुत धर्मी पर आरूढ प्रस्तुत अर्थ का ग्रहण न होने से ललितालंकार ही होगा। अब यदि कहा जाय कि 'प्रस्तुत व्यवहार का लेश मात्र भी कीर्तन न हो और केवल प्रकरणादि से गम्यता हो तब ललित होता है, अन्यथा निदर्शना होती है', तो फिर 'क्व सूर्यप्रभवः' यहाँ से निदर्शना को कैसे निकाल दिया? अतः यह सब गड़बड़ ही है।

ललितालंकार समाप्त

प्रहर्षण अलंकार

लक्षण

वांछित अर्थ की प्राप्ति के उद्देश्य से साक्षात् यत्न के बिना भी वांछित अर्थ के लाभ को प्रहर्षण कहते हैं।

लक्षण का विवेचन

प्रहर्षण तीन प्रकार का है (१) अकस्मात् वांछित अर्थ की प्राप्ति (२) वांछितार्थ की सिद्धि के लिए यत्न करते हुए उससे भी अधिक अर्थ की प्राप्ति (३) उपाय की सिद्धि के लिए किए जाने वाले यत्न से साक्षात् फल का लाभ। इन तीनों प्रहर्षणों का सामान्य लक्षण ऊपर बताया गया है। लक्षण में 'साक्षात्' शब्द तीसरे भेद में अव्याप्ति न होने के लिए दिया गया है।

क्रम से उदाहरण

(१) तिरस्कृतो रोषवशात्परिष्वज-
न्प्रियो मृगाक्ष्या शयितः पराङ्मुखः।
किं मूर्च्छितोऽसाविति कांदिशीकया
कयाचिदाचुम्ब्य चिराय सस्वजे ॥

किसी मृगनयनी ने आलिङ्गन करते हुए प्रिय का रोषवश तिरस्कार किया, प्रिय मुँह फेर कर सो गया, किंतु 'क्या यह मूर्छित हो गया' यह समझकर घबड़ाई हुई ने चुम्बन करके देर तक आलिंगन किया।

यहाँ किसी भी प्रकार का यत्न न करने पर भी इष्टलाभ का वर्णन है।

(२) केलीमन्दिरमागतस्य शनकैरालीरपास्येङ्गितैः
सुप्तायाः सरुषः सरोरुहदृशः संवीजनं कुर्वतः ।
जानन्त्याप्यनभिज्ञयेव कपटव्यामीलिताक्ष्या सखि !
श्रान्तासीत्यभिधाय वक्षसि तया पाणिर्ममाधीयत ॥

सखियों को धीरे धीरे इशारों से हटाकर मैं केलीमंदिर में आया और वहाँ क्रोधसहित सोई हुई कमलनयनी के पंखा झलने लगा, उसने जानते हुए भी न जानती हुई के समान कपट से आँखें मूंदे हुए ही 'सखि तुम थक गई हो' यह कर मेरा हाथ वक्षस्थल पर रख लिया।

यहाँ भामिनी के रोषनिवारणार्थ यत्न किए जाने पर भामिनी द्वारा कामुक के कर का उसके कुचों पर लगना रोषनिवारण से भी अधिकतर सुखदायी है।

यहाँ प्रहर्षण के तृतीय भेद की शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि पंखा झलते समय कामुक का मुख्य उद्देश्य माननिवारण था, अतः माननिवारण द्वारा प्राप्य कुचस्पर्शादि अन्य फल की वहाँ उपस्थिति ही नहीं थी। अथवा; जैसे—

लोभाद्वराटिकानां विक्रेतुं तक्रमानिशमटन्त्या।
लब्धो गोपकिशोर्या मध्येरथ्यं महेन्द्रनीलमणिः॥

कौड़ियों के लोभ से तक्र बेचने के लिये रात तक घूमती हुई गोपकिशोरी को बीच गली में महान् इन्द्रनीलमणि मिल गई।

यहाँ प्रहर्षण का द्वितीय भेद स्पष्ट ही है और अननुरूप सम्बन्ध को लेकर विषमालंकार भी है। उनमें से प्रहर्षण में 'महान् इंद्रनीलमणि' इस अतिशयोक्ति में अंतर्भूत विषय (भगवान् कृष्ण) और

विषयी (नीलमणि) दोनों ही में अनुकूल हैं, क्योंकि वांछित से अधिकार्थता मणि और भगवान् दोनों में समान है। और विषमालंकार में तो नीलमणिरूप केवल विषयी की ही अनुकूलता है, क्योंकि जैसा कौड़ी चाहने वाले के लिए करोड़ों के मूल्य वाले महान् इंद्र नीलमणि का संसर्ग अननुरूप है वैसा अननुरूप भगवान् का संसर्ग नहीं हो सकता। कहा जायगा कि अज्ञानियों को भगवान् का संसर्ग भी अननुरूप ही है, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि तब तो तक्र बेचने वाली होने से ही अज्ञानित्व प्राप्त हो जाने पर कौड़ियों के लोभ रूपी हेतु के उपन्यास का कोई विशेष प्रयोजन नहीं रहता।

यहाँ पर याद रखिए कि जिस प्रकार के वांछित की सिद्धि के लिये यत्न किया जाता है उसी प्रकार के वांछित की सिद्धि हो तो समालंकार ही होता है। (अतः विषमालंकारसिद्ध्यर्थ 'कौड़ियों के लोभ' रूपी हेतु का लिखना आवश्यक है)।

(३) तृतीय प्रहर्षण का उदाहरण, जैसे—

तद्दर्शनोपायविमर्शनार्थं मया तदालीसदनं गतेन।
तत्रैव साऽलक्ष्यत पक्ष्मलाक्षी दाक्षायणीमर्चयितुं प्रयाता ॥

उसके देखने के उपाय का परामर्श करने के लिए मैं उसकी सखी के घर गया था; वहीं पार्वती के पूजन के लिए गई वह पक्ष्मलाक्षी दीख पड़ी।

यहाँ नायिका के दर्शन के उपाय की सिद्धि के लिए नायिका की सखी के घर जाने रूपी यत्न का प्रयोग किया गया था, उससे साक्षात् ही नायिका के दर्शन का लाभ हो गया।

कुवलयानंद का खंडन

और जो कुछ कुवलयानंदकार ने प्रहर्षण के द्वितीय भेद का

"'वांछितादधिकार्थस्य संसिद्धिश्च प्रहर्षणम्—वांछित से अधिक अर्थ की संसिद्धि को (द्वितीय) प्रहर्षण कहते हैं।" यह लक्षण बनाकर—

"चातकस्त्रिचतुरान् पयःकणान् याचते जलधरं पिपासया।
सोऽपि पूरयति विश्वमम्भसा हन्त! हन्त! महतामुदारता॥

प्यासा चातक मेघ से तीन चार जल के कण माँगता है और वह विश्व को जल से भर देता है, वाह!! वाह!! महापुरुषों की उदारता।"

यह पद्य उदाहरण में दिया है वह ठीक नहीं, क्योंकि 'वांछित से अधिक अर्थ की संसिद्धि' इस लक्षण में 'संसिद्धि' पद से केवल 'काम बन जाना' कहना उचित नहीं, यदि ऐसा माना जाय तो काम बन जाने पर भी चाहनेवाले को उस लाभ से उत्पन्न संतोष की अधिकता न होने के कारण प्रहर्षण शब्द के योगार्थ (अत्यंत हृष्ट होने) की असंगति रहती है, अतः वैसी दशा में प्रहर्षणालंकार नहीं हो सकेगा। किंतु संसिद्धि का अर्थ यहाँ 'तादृश लाभ से उत्पन्न संतोष की अधिकता' है सो इस तरह प्रस्तुत उदाहरण में चातक केवल तीन चार कणों का चाहनेवाला है, उसे बादल द्वारा जल से विश्व भर देने से हर्ष की अधिकता नहीं हो सकती, ऐसी स्थिति में प्रहर्षण कैसे स्थान पा सकता है[1]। हाँ, वांछित से अधिक दान के कारण होनेवाला दाता

१—नागेश कहते हैं—"यहाँ चातक का वृत्तांत अप्रस्तुत है। उसका दाता और याचक के वृत्तांत में पर्यवसान हो जाता है; अतः 'संतोष की अधिकता' का होना अनिवार्य है।" पर तब भी 'याचक को अधिक प्राप्त हुआ' इसका वर्णन तो यहाँ है नहीं, यदि संसार को खूब मिला और याचक को याचक की योग्यतानुसार ही मिला तो फिर प्रहर्षण का द्वितीय भेद कैसे हुआ? —अनुवादक

का उत्कर्ष तो (प्रतीत होता हुआ) नहीं निवारण किया जा सकता। अतएव 'हन्त हन्त महतामुदारता' इस अर्थान्तरन्यास द्वारा उसी का पोषण किया जा रहा है।

'लोभाद्वराटिकानाम्' इस हमारे उदाहरण में तो चाहनेवाले को वांछितार्थ से अधिक वस्तु का लाभ होने से संतोष की अधिकता प्रतीत होती है, अतः वह प्रहर्षण का उदाहरण उचित ही है।

प्रहर्षण समाप्त

———

विषादन अलङ्कार

लक्षण

अभीष्ट अर्थ से विरुद्ध के लाभ का नाम विषादन है।

लक्षण का विवेचन

विषादन का विषय विषमालंकार से पृथक् दो स्थानों पर है,

(१) एक, वहाँ जहाँ अभीष्ट वस्तु के लाभ के लिए कारण का प्रयोग नहीं किया गया, केवल इच्छा ही की गयी और विरुद्ध वस्तु का लाभ हो गया (२) और दूसरा, वहाँ जहाँ इष्ट वस्तु के लिए कारण का प्रयोग किया गया, उससे तो विरुद्धार्थ का लाभ नहीं हुआ, किंतु विरुद्धार्थ के (स्वतंत्र) कारणवश ही विरुद्धार्थ की प्राप्ति हो गई।

किंतु जहाँ इष्ट के लिए प्रयुक्त कारण से ही विरुद्ध अर्थ का लाभ हो वहाँ तादृश कारण और उसके विरुद्ध अर्थ में जन्यजनकभाव संसर्ग की अननुरूपता के कारण विषम और वांछित से विरुद्ध वस्तु का लाभ होने से विषादन—इस प्रकार दोनों का संदेहसंकर ही होता है।

सो इस तरह विषमालंकार के भेदों से विषादन की गतार्थता हो जाती है—यह शंका नहीं करनी चाहिए; क्योंकि विषमालंकार से रहित भी विषादन का विषय आगे दिखाया जा रहा है।

प्रथम भेद का उदाहरण;जैसे—

स्वस्वव्यापृतिमग्नमानसतया मत्तो निवृत्ते जने
चञ्चूकोटिनिराकृतार्गल इतो यास्याम्यहं पञ्जरात्।
एवं कीरवरे मनोरथमयं पीयूषमास्वादय-
त्यन्तः संप्रविवेश वारणकराकारः फणिग्रामणीः ॥

लोग अपने अपने काम में मग्नचित्त होकर जब मुझसे निवृत्त हो जायँगे, तब मैं चोंच की नोंक से अर्गला को हटाकर इस पिंजड़े से निकल जाऊँगा, इस तरह तोता जब मनोरथमय अमृत का आस्वादन कर रहा था, तब हाथी की सूँड के आकार वाला भुजंगराज अंदर घुस आया।

यहाँ विषमालंकार के भेद का विषय नहीं है, क्योंकि यहाँ इष्ट के लिए कारण के प्रयोग का अभाव है। कारण, विषमालंकार का शरीर है 'इष्ट के लिए प्रयुक्त कारण के साथ (उत्पन्न होनेवाली) विरुद्ध वस्तु के जन्यजनकभावरूप संसर्ग की अननुरूपता'। अतः यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा के घटक के रूप में विषादन अलंकार ही अवस्थित है।

द्वितीय भेद का उदाहरण; जैसे—

**चेलाञ्चलेनाननशीतरश्मिं संवृण्वतीनां हरिदर्शिनीनाम् ।
गोपाङ्गनानां स्मरजातकम्पादकाण्डसंपातमियाय नीवी ॥**

मुखचंद्र को वस्त्र के पल्ले से ढकती हुई जिन गोपांगनाओं ने हरि का दर्शन किया उनकी नीवी (अधोवस्त्र) कामदेव से उत्पन्न कंप के कारण असमय में ही गिर गई ।

यहाँ 'मुँह छिपाना' इष्ट है उसका विरुद्धार्थ है 'नीवी का गिर जाना'; क्योंकि वह (मुँह छिपाने आदि के) कारणरूप लज्जा-समूह का विरोधी है, और सात्त्विककंपरूप अपने कारण से ही उत्पन्न हुआ है, न कि मुख छिपाने के लिए किए गए यत्न से । यहाँ इष्टसाधन के रूप में प्रयुक्त कारण से इष्ट की अनुत्पत्ति भी नहीं है, क्योंकि वस्त्र के पल्ले के ढकने से मुख छिपाने रूपी इष्ट की उत्पत्ति हो ही गई । इसलिए यहाँ विषादन ही है, विषम नहीं ।

एक शंका और उसका समाधान

यहाँ यह समझ रखना चाहिए कि—'जो इष्टसाधन के रूप में निश्चित है उससे अनिष्ट की उत्पत्ति' इस रूप में जो विषम का भेद पहले वर्णन किया जा चुका है वह इस विषादन से ग्रस्त होने के कारण इसी का भेद हो सकता है, विषम का नहीं, यह यदि कोई कहे तो उससे पूछना चाहिए कि 'विषम का भेद नहीं' यह जो तुम कह रहे हो सो किस कारण ? जिस तरह वह भेद विषादन से ग्रस्त है उसी प्रकार 'कार्य कारण के संसर्ग की अननुरूपता' रूपी विषम से भी ग्रस्त है और यहाँ एक को दूसरे का अपवादक कह नहीं सकते, क्योंकि दोनों अलंकार सावकाश हैं और उनके विषय भी भिन्न हैं । विषादन का विषय है विरुद्ध लाभ रूपी अंश और विषम का विषय है विरुद्ध लाभ और इष्टार्थ में प्रयुक्त कारण के संसर्ग की अननुरूपता रूपी अंश, यह पहले

कहा जा चुका है। अतः उक्त स्थल में किसी अंश में विषम और किसी अंश में विषादन है इस कारण दोनों का समावेश समझना चाहिए--किसी एक की बात करना व्यर्थ है।

विषादन समाप्त

उल्लासालंकार

लक्षण

एक के गुण-दोष के कारण दूसरे में गुण-दोष के आधान का नाम उल्लास है।

लक्षण का विवेचन

यहाँ 'आधान' का अर्थ है एक के गुणदोष के कारण दूसरे की गुणदोषयुक्तता का ज्ञान (न कि गुणदोष की उत्पत्ति)।

उल्लास के भेद

वह आधान (१) गुण से गुण का (२) गुण से दोष का (३) दोष से गुण का और (४) दोष से दोष का, इस तरह चार प्रकार का होता है।

क्रम से उदाहरण

गुण से गुण का आधान; जैसे—

अलभ्यं सौरभ्यं हरति सततं यः सुमनसां
क्षणादेव प्राणानपि विरहशस्त्रक्षतहृदाम् ।
त्वदीयानां लीलाचलितलहरीणां व्यतिकरात्
पुनीते सोऽपि द्रागहह पवमानस्त्रिभुवनम् ॥

(हे गंगे) जो वायु पुष्पों की अलभ्य सुगंध का निरंतर हरण करता है—अर्थात् चोर है और विरहरूपी शस्त्र से जिनके हृदय घायल हैं उनके प्राणों को भी क्षण भर में ही हरण कर लेता है—अर्थात् हत्यारा है, आश्चर्य है कि वह भी तुम्हारी लीला से चलती हुई लहरियों के संबंध मात्र से तत्काल त्रिलोकी को पवित्र कर देता है।

यहाँ लहरियों की पवित्रता के अतिशयरूपी गुण से वायु में पवित्रतारूपी गुणांतर का वर्णन किया गया है।

गुण से दोष का आधान; जैसे—

विशालाभ्यामाभ्यां किमिह नयनाभ्यां खलु फलं
न याभ्यामालीढा परमरमणीया तव तनुः ।
अयं तु न्यक्कारो जननि ! मनुजस्य श्रवणयो—
र्ययोर्नान्तर्यातस्तव लहरिलीलाकलकलः ॥

हे जननि ! इस जगत् में इन बड़े बड़े नेत्रों का क्या फल है, जिनने परम सुंदर आपके स्वरूप का आस्वादन नहीं किया, और मनुष्य के उन कानों के लिए यह धिक्कार ही है कि जिनके अंदर आपकी लहरियों की लीला का कलकल निनाद नहीं पहुँचा।

यहाँ श्री भागीरथी के 'रमणीयता' रूपी गुण से भागीरथी के रूप

से विमुख नेत्रों में 'निष्फलता' रूपी दोष और उसके शब्द से विमुख कानों में 'धिक्कार' रूपी दोष बताए गए हैं।

दोष से दोष का और गुण से गुण का आधान; जैसे—

हिंसाप्रधानैः खलु यातुधानैर्यानीयताऽपावनतां सदैव।
रामाङ्घ्रियोगादथ सापि वन्या विन्ध्यस्य धन्यास्त मुनेः सतीव॥

हिंसाप्रधान राक्षसों के द्वारा जो सदा ही अपवित्र किया गया, वह विन्ध्य का वनसमूह रामचंद्र के चरणसंपर्क से मुनि की सती (अहल्या) के समान धन्य हो गया।

यहाँ पूर्वार्ध में 'दोष से दोष के आधान' का और उत्तरार्ध में 'गुण से गुण के आधान' का वर्णन है—यह विशेषता है।

अथवा; जैसे—

भूषितानि हरेर्भक्तैर्दूषितानि पराङ्मुखैः।
स्वकुलं नगरं देशो द्वीपं सर्वा च मेदिनी॥

अपना कुल, नगर, देश, द्वीप और सारी पृथ्वी हरिभक्तों से भूषित हैं और हरिविमुखों से दूषित हैं।

यहाँ भी गुण से गुण और दोष से दोष का वर्णन है, परंतु उत्तरोत्तर व्यापकता (अधिकदेशवृत्तित्व) के रूप में; यह विशेषता है।

दोष से गुण का आधान; जैसे—

श्वपाकानां व्रातैरमितविचिकित्साविचलितै-
र्विमुक्तानामेकं किल सदनमेनःपरिषदाम्।
मुदा मामुद्धर्तुं जननि ! घटयन्त्याः परिकरं
तव श्लाघां कर्तुं कथमिव समर्थो नरपशुः॥

हे जननि ! जिन्हें अपरिमित संशयों से विचलित चंडालों के समूहों ने भी छोड़ रक्खा है ऐसे अनेक पापसमूहों के एकमात्र स्थान मेरा उद्धार करने के लिए आनंद से कमर कसनेवाली आपकी, प्रशंसा करने के लिए, नरपशु कैसे समर्थ हो सकता है।

यहाँ वक्ता में रहनेवाले पापरूपी दोष से प्रयुक्त 'उसका उद्धार करनेवाली गंगा की प्रशंसनीयता' गुण है।

अथवा; जैसे—

श्ववृत्तिव्यासङ्गो नियतमथ मिथ्याप्रलपनं
कुतर्केष्वभ्यासः सततपरपैशुन्यमननम्।
अपि श्रावं श्रावं मम तु पुनरेवंविधगुणा-
नृते त्वत्को नाम क्षणमपि निरीक्षेत वदनम्॥

नियमित रूप से श्ववृत्ति (नौकरी) में लगे रहना, झूठी बकवाद, कुतर्कों का अभ्यास और निरंतर दूसरों की चुगलखोरी के विचार करते रहना, ऐसे मेरे गुणों को सुन सुनकर भी तुम्हारे सिवाय कौन ऐसा है, जो क्षण भर भी मुँह देखे।

यहाँ भी पूर्ववत् दोष से गुण के आधान का वर्णन है, किंतु वह व्यंग्य है। यह विशेषता है।

कुछ विद्वानों का कहना है कि 'यह अलंकार काव्यलिंग से गतार्थ है, अलंकारता की भूमि पर ही नहीं आता' दूसरों का कहना है कि 'केवल लौकिकार्थमय है, इसलिए अलंकार ही नहीं है'।

उल्लास समाप्त

———

अवज्ञालंकार

लक्षण

उल्लास के विपर्यय को अवज्ञालंकार कहते हैं।

लक्षण का विवेचन

विपर्यय का अर्थ यहाँ अभाव है, अतः लक्षण का पर्यवसित अर्थ यह हुआ कि—एक के गुणदोष से प्रयुक्त अन्य में गुणदोष के आधान का अभाव। तात्पर्य यह है कि किसी एक में जो गुण दोष हों उनका उसके संसर्ग में रहने वाले पर प्रभाव न पड़ने का नाम अवज्ञालंकार है। जैसे—

निष्णातोऽपि च वेदान्ते वैराग्यं नैति दुर्जनः।
चिरं जलनिधौ मग्नो मैनाक इव मार्दवम्॥

वेदांत में निपुण होने पर भी दुर्जन वैराग्य को प्राप्त नहीं होता, जैसे बहुत समय तक समुद्र में डूबे रहने पर भी मैनाक पर्वत मृदुता को (प्राप्त नहीं हुआ)।

यहाँ पूर्वार्द्ध में 'प्रपञ्च की अनित्यता बताने' रूपी वेदांतशास्त्र के गुण से प्रयुक्त 'वैराग्य'रूपी गुण के आधान का खल में अभाव है और उत्तरार्ध में 'द्रवत्वरूपी' समुद्र के गुण से प्रयुक्त 'मृदुता'-रूपी गुण के आधान के अभाव का मैनाक में वर्णन किया गया है।

मध्येगलं विहरतां गरलं निकामं
नागाधिपः शिरसि भालतले हुताशः।

ध्याता भवज्वलनमध्यगतैस्तथापि
तापं तदैव हरते हर! ते तनुश्रीः ॥

हे हर! (आपके) गले के बीच जहर, शिरपर नागराज और भालतल पर अग्नि भले ही विहार करे तथापि आपके शरीर की शोभा संसारानल के मध्यगत लोगों से ध्यान किए जाने पर तत्काल ताप हरण करती है।

यहाँ गरल आदि के तारकता रूपी दोष से प्रयुक्त क्रूरत्वादि दोष के आधान का भगवान् शिव के शरीर में अभाव है।

अतद्गुण से भेद

कहा जायगा कि यहाँ वक्ष्यमाण अतद्गुण अलंकार है; तो यह ठीक नहीं; क्योंकि जैसे (अतद्गुण के उदाहरण) 'यमुनाजल में स्थित राजहंसादिक द्वारा यमुनाजलकी श्यामता का ग्रहण नहीं है' वैसे भगवन्मूर्तिस्थित गरल-आदि में रहनेवाली क्रूरता का अग्रहण विवक्षित नहीं है, अपितु 'जहर की क्रूरता से प्रयुक्त क्रूरतांतर का आविष्कार न होना' विवक्षित है, अतः इन दोनों में भेद है और पूर्वोक्त 'निष्णातोऽपि०' इस उदाहरण में तो अतद्गुण की प्रसक्ति ही नहीं है।

मद्वाणि मा कुरु विषादमनादरेण
मात्सर्यमन्दमनसां सहसा खलानाम्।
काव्यारविन्दमकरन्दमधुव्रताना-
मास्येषु यास्यसि सतां विपुलं विलासम् ॥

हे मेरी वाणी! मात्सर्य से संकुचित हृदय वाले खलों के सहसा

अनादर से विषाद मत कर, तू काव्य-कमल के मधु के मधुकर सत्पुरुषों के मुखों में विपुल विलास को प्राप्त होगी।

यहाँ पूर्वार्ध में 'खल के अनादर' रूपी दोष से प्रयुक्त 'विषाद-' रूपी दोष का कविवाणी में निषेध किए जाने के कारण अप्रतिष्ठितता द्वारा शाब्द अभाव वर्णन किया गया है और वाणी में रहनेवाले 'रमणीयता' रूपी गुण से प्रयुक्त 'संतोष' रूपी गुण के आधान का खल में अभाव आर्थ है, अतः इस श्लोक में शाब्दी और आर्थी दोनों प्रकार की अवज्ञा है। उत्तरार्ध में तो सहृदय के सरसतारूपी गुण द्वारा वाणी में उल्लास (आनंदोद्‌बोध) रूपी गुण का आधान है, इस कारण उल्लासालंकार ही है।

अवज्ञा अतिरिक्त अलंकार नहीं है

यह भी कहा जाता है कि विशेषोक्ति अलंकार से ही गतार्थ होने के कारण 'अवज्ञा' अतिरिक्त अलंकार नहीं है।

अवज्ञालंकार समाप्त

अनुज्ञालंकार

लक्षण

किसी उत्कट गुण की लालसा से दोषरूप में प्रसिद्ध वस्तु की भी प्रार्थना अनुज्ञालंकार है।

उदाहरण

प्रणिपत्य विधे ! भवन्तमद्धा विनिबद्धाञ्जलिरेकमेव याचे ।
जनुरस्तु कुले कृषीवलानामपि गोविन्दपदारविन्दभाजाम् ॥

हे विधाता ! आप से हाथ जोड़ कर प्रणाम करते हुए एक ही यथार्थ प्रार्थना करता हूँ कि मेरा जन्म खेतिहरों के भी कुल में हो, पर ऐसे खेतिहरों के जो गोविंद के चरणारविंद का भजन करते हों।

यहाँ हरिभक्ति की लालसा से खेतिहरों के कुल में जन्म की प्रार्थना है।

अनुज्ञा समाप्त

तिरस्कारालंकार

लक्षण

इसी प्रकार—

किसी दोष के संबंध से गुणरूप में प्रसिद्ध का भी द्वेष 'तिरस्कार अलंकार' है।

उदाहरण

श्रियो मे मा सन्तु क्षणमपि च माद्यद्गजघटा-
मदभ्राम्यद्भृङ्गावलिमधुरसंगीतसुभगाः।
निमग्नानां यासु द्रविणरसपर्याकुलहृदां
सपर्यासौकर्यं हरिचरणयोरस्तमयते ॥

मदमत्त गजसमूह के मद के लिए भ्रमण करती हुई भ्रमरपंक्ति के मधुर संगीत से मनोहर संपत्तियाँ मेरे न हों, जिन संपत्तियों में डूबे मन के रस से व्याकुलहृदयों के भगवान् के चरणारविंद की सेवा का सौकर्य अस्त हो जाता है।

यहाँ हरिचरण की सेवा छूटने के भय से राज्यसुख का तिरस्कार है।

तिरस्कारालंकार पर विचार

इस तिरस्कारालंकार का लक्षण न बनाकर केवल अनुज्ञा का लक्षण बनानेवाले कुवलयानंदकार का विस्मरण ही सहारा है,

अन्यथा—

[1]भवद्भवनदेहलीविकटतुण्डदण्डाहति—
स्फुटन्मुकुटकोटिभिर्मघवदादिभिर्भूयते ।
व्रजेम भवदन्तिकं प्रकृतिमेत्य पैशाचिकीं
किमित्यमरसंपदं प्रमथनाथ! नाथामहे ॥

हे प्रमथनाथ ! आपके भवन की देहली पर विकटतुंड (वक्रतुंड नामक आपके गण) के डंडों की चोटों से इंद्रादिकों के मुकुट के

१—निर्णयसागर के मुद्रित कुवलयानंद में इस पद्य का पूर्वार्ध पीछे है और उत्तरार्ध पहले है, पर पंडितराज को विपरीत पाठ ही अभीष्ट प्रतीत होता है, अतएव उनने 'भवद्भवनदेहली'ति तदुदाहृतपद्ये 'किमित्यमरसंपदमित्यंशे' यह लिखा है। यह पाठभेद पुस्तकों में है भी (देखिए कुवलयानंद पृ० १४४ की टिप्पणी, निर्णयसागर संस्करण, पंचमावृत्ति, सन् १९२५) —अनुवादक

किनारे टूटते रहते हैं, अतः पिशाचों की योनि प्राप्त करके आपके समीप पहुँच जाय (यही प्रार्थना है)। देवताओं की संपत्ति को हम क्यों माँगें।

इस उनके उदाहृत पद्य के 'किमित्यमरसंपदम्' इस अंश में तिरस्कार का स्फुरण[1] होना चाहिए था।

कहा जायगा कि 'अनुज्ञा' और 'तिरस्कार' इन दोनों अलंकारों का यहाँ संभव ही कैसे है ? क्योंकि प्रार्थना का अर्थ है इच्छा और तिरस्कार का अर्थ है द्वेष, उनमें से दोष में इष्टसाधनताज्ञानरूपी कारण का अभाव होने से इच्छा उचित नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि कोई भी आदमी किसी काम में प्रवृत्त तभी होता है जब उसे यह पता हो कि यह वस्तु मेरे इष्ट (वांछित) का साधन है। दोष को कोई इष्ट का साधन मानता नहीं। फिर उसकी इच्छा कोई करेगा ही क्यों ? वही बात गुण में द्वेष की है, क्योंकि वहाँ भी द्विष्टसाधनताज्ञान का अभाव है—अर्थात् गुणों से द्वेष किसी को क्यों होगा। हाँ, कारण की सत्ता के कारण विपरीतता तो उचित हो सकती है—अर्थात् गुण में इच्छा और दोष में द्वेष; तो ऐसा न कहिए, क्योंकि दोष में गुणांश को लेकर और गुण में दोषांश को लेकर इष्टसाधनताज्ञान और द्विष्टसाधनताज्ञान की सत्ता रहती है; अतः तुम्हारे बताए कारण में कोई व्याघात नहीं आता।

और जो आपने गुण में इच्छा और दोष में द्वेष वाली विपरीतता की बात की, सो भी उचित नहीं है, क्योंकि उपाय की इच्छा के प्रति उत्कट द्विष्ट से अनुबंध न रखनेवाला इष्टसाधनताज्ञान कारण है—और उपाय के द्वेष के प्रति उत्कट इष्ट से

१—यहाँ मुद्रित पुस्तकों में मूल में 'स्फुरणानापत्तेः' यह पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है 'स्फुरणापत्तेः' यही शुद्ध पाठ होना चाहिए।—अनुवादक

अनुबंध न रखनेवाला द्विष्टसाधनताज्ञान कारण है ऐसा कहना चाहिए। (अर्थात् उपाय की इच्छा के प्रति केवल इष्टसाधनता का ज्ञान ही कारण नहीं है, किंतु उसके पीछे द्विष्ट न लगा हो तभी वह कारण हो सकता है। और इसी प्रकार केवल द्विष्ट-साधनता का ज्ञान उपाय के द्वेष के प्रति कारण नहीं है, किंतु जिसके पीछे उत्कट इष्ट न लगा हो ऐसा द्विष्टसाधनता का ज्ञान ही कारण है।) अन्यथा जो वस्तुएँ सुख दुख दोनों का साधन हैं; जैसे—'चांद्रायणव्रत' और 'हरीतकीभक्षण' आदि कष्टप्रद और विरस होने के कारण द्विष्ट हैं, तथापि लोग उन उपायों की इच्छा करते ही हैं। और कलञ्ज, दही और फूट (पकी ककड़ी) के भक्षण स्वादिष्ठ होने के कारण इष्ट हैं पर उत्कट द्विष्ट (नरक में जाना और रोगी होना) उनके पीछे लगा हुआ है, अतः बुद्धिमान् लोग उनके प्राप्ति के उपाय की इच्छा नहीं करते—इत्यादि में इच्छा और द्वेष का अनियम ही हो जाएगा। कहने का तात्पर्य यह है कि चांद्रायणव्रत करना कष्टदायी होने के कारण यद्यपि द्विष्ट है, और कलञ्ज खाना स्वादिष्ठ होने के कारण इष्ट है फिर भी धार्मिकों की चांद्रायण करने की और कलञ्ज छोड़ने की इच्छा होती है, क्योंकि वे जानते हैं कि चांद्रायण स्वर्ग का साधन है और कलञ्जभक्षण नरक का। इसी प्रकार हरीतकी स्वादिष्ठ न होने से द्विष्ट है और दही फूट स्वादिष्ठ होने से इष्ट हैं, फिर भी समझदार लोग हरीतकी खाना चाहते हैं और दही फूट को पसंद नहीं करते, क्योंकि हरीतकी आरोग्यवर्धक है और 'दधित्रपुसं प्रत्यक्षो ज्वरः' इस महाभाष्य के अनुसार दही फूट (एक साथ खाने से) ज्वर उत्पन्न करता है। अतः आपका कहना ठीक नहीं।

हाँ, इतना अवश्य है कि इसमें 'पुरुष' और 'काल' का प्रवेश भी आवश्यक है। अर्थात् उस पुरुष के उस काल में उत्कट द्विष्ट से

अनुबंध न रखने वाली उस पुरुष के तात्कालिक इच्छा के विषय फल की साधनता का ज्ञान उस पुरुष की उपाय की इच्छा के प्रति कारण है। इसी प्रकार उस पुरुष के उस काल में उत्कट इष्ट से संबंध न रखने वाले उस पुरुष के उस समय में द्वेष के विषय फल की साधनता का ज्ञान उस पुरुष के उपाय के द्वेष के प्रति कारण है। तात्पर्य यह कि इष्टता अथवा द्विष्टता जिस समय और जिस पुरुष की होगी उसी को और उसी समय वह वस्तु इष्टसाधन अथवा अनिष्टसाधन प्रतीत होगी अन्य को और अन्य समय नहीं। इस तरह कहने से अन्य पुरुष और अन्य काल से संबंध रखने वाले द्विष्ट अथवा इष्ट को लेकर दोष नहीं होगा। (नहीं तो जो वस्तु एक का इष्टसाधन है वह दूसरे का अनिष्ट-साधन हो सकती है और जो वस्तु आज अनिष्टसाधन है वह कल इष्ट-साधन हो सकती है, अतः वहाँ दोष आ जायगा।)

यहाँ यह समझना चाहिए कि फल में उत्कट इच्छा होने से उपाय में भी उत्कट इच्छा ही उत्पन्न होती है; इसी प्रकार फल में उत्कट द्वेष होने से उपाय में भी उत्कट द्वेष ही होता है। सो इस तरह सुखदुःख दोनों के साधन चांद्रायण आदिक में यदि अपनी सामग्री के कारण पहले सुख में उत्कट इच्छा होती है तो उसके साधन चांद्रायण आदि में भी उत्कट इच्छा ही होती है और अपनी सामग्री के कारण पहले दुख में उत्कट द्वेष होता है तो चांद्रायण आदिक में भी उत्कट द्वेष ही होता है, क्योंकि उत्कट सामग्री में ही बलवान् होने की कल्पना होती है, और इस प्रसंग में उत्कटता का अर्थ है इच्छा द्वेष में रहने वाली एक प्रकार की विषयिता। कहने का तात्पर्य यह है कि जो वस्तुएँ सुख दुख दोनों का साधन हैं उनमें यदि उनको सुखरूप समझानेवाली सामग्री बलवान् होगी तो तद्विषयक उत्कट इच्छा होगी, और यदि उनको दुखरूप समझानेवाली सामग्री बलवान् होगी तो तद्विषयक उत्कट द्वेष हो जाएगा, क्योंकि जहाँ एक साधन से इष्टरूप और

अनिष्टरूप दो फल उत्पन्न होते हैं वहाँ एक ही समय में एकत्र उत्कट इच्छा और अन्यत्र उत्कट द्वेष संभव नहीं है। वैसा होने पर चांद्रायणादिकों में एक ही समय में इच्छा द्वेष दोनों होने लगेंगे (जैसा कि होता नहीं) सो इस तरह उपाय की इच्छा में बलवान् अनिष्ट का अनुबंधी न होना और उपाय के द्वेष में बलवान् इष्ट का अनुबंधी न होना कारणतावच्छेदक के रूप में देना ही चाहिए। यह कुछ विद्वानों का सिद्धांत है।

दूसरे विद्वानों का कहना है कि उपाय की इच्छा के प्रति फल की इच्छा और फल की साधनता का ज्ञान दोनों कारण हैं और इसी प्रकार उपाय के द्वेष के प्रति फल के द्वेष और फल की साधनता का ज्ञान कारण हैं। इस तरह एक ही वस्तु के इष्ट, अनिष्ट दोनों का साधन होने पर भी उत्कट सामग्री के बलवान् होने के कारण कोई दोष नहीं रहता।

सो इस तरह जो दोष इष्ट अनिष्ट दोनों का साधन है उसमें गुण के मिश्रित रहने से इच्छा की उत्पत्ति और जो गुण इष्ट अनिष्ट दोनों का साधन है उसमें दोष के मिश्रित रहने से द्वेष की उत्पत्ति सहृदयों के लिए उचित ही है। जैसा कि हरीतकी और केला खाने में होता है। समझदार आदमी उदरशुद्धिकारित्वरूपी गुण होने से विरसता रूपी दोष की स्थिति में भी हरीतकी खाने की इच्छा रखते हैं और केलों में स्वादिष्ठतारूपी गुण होने पर भी गरिष्ठतारूपी दोष होने के कारण उससे द्वेष रखते हैं—यह अनुभवसिद्ध है।

तिरस्कार समाप्त

लेशालंकार

लक्षण

अनिष्ट का साधन होने के कारण गुण का दोषरूप में और इष्ट का साधन होने के कारण दोष का गुणरूप में वर्णन लेशालंकार कहलाता है ।

उदाहरण

गुण का दोषरूप में वर्णन; जैसे—

अपि बत गुरुगर्वं मा स्म कस्तूरि यासी-
रखिलपरिमलानां मौलिना सौरभेण ।
गिरिगहनगुहायां लीनमत्यन्तदीनं
स्वजनकममुनैव प्राणहीनं करोषि ॥

हे कस्तूरी ! खेद है कि सब परिमलों (रगड़ने पर पैदा होनेवाले सुगंधों) के शिरोमणि सौरभ के कारण तुम्हें अधिक घमंड नहीं करना चाहिए । तुम इसी गंध के कारण पर्वत की गंभीर गुफा में छिपे अत्यंत दीन अपने जनक (मृग) को प्राणहीन करती हो ।

दोष का गुणरूप में वर्णन;

नैर्गुण्यमेव साधीयो धिगस्तु गुणगौरवम् !
शाखिनोऽन्ये विराजन्ते खण्ड्यन्ते चन्दनद्रुमाः ॥

निर्गुणता ही अच्छी है, गुणों के गौरव को धिक्कार है । दूसरे पेड़ सुशोभित रहते हैं और चंदन के पेड़ काटे जाते हैं ।

प्रथम उदाहरण में गुण का केवल दोषरूप में वर्णनमात्र है और दूसरे उदाहरण में दोष का गुणरूप में वर्णन अर्थांतरन्यास से अनुविद्ध है।

स्खलन्तो स्वर्लोकादवनितलशोकापहृतये
जटाजूटग्रन्थौ यदसि विनिबद्धा पुरभिदा।
अये निर्लोभानामपि मनसि लोभं जनयतां
गुणानामेवायं तव जननि दोषः परिणतः॥

हे जननि, आप भूतल के शोक का हरण करने के लिए स्वर्ग लोक से गिरती हुई जो शिवजी द्वारा जटाजूट की ग्रंथि में बाँध ली गई, यह निर्लोभों के भी मन में लोभ पैदा करनेवाले तुम्हारे गुणों का ही दोष-रूप में परिणाम है।

यहाँ 'दोष' शब्द का अर्थ अपराध है। सो इस तरह गुणों की अपराधरूप में दोषता कही गई है।

लेश और व्याजस्तुति में भेद

यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिए कि यह अलंकार दोनों प्रकार की (निंदा से स्तुतिरूप और स्तुति से निंदारूप) व्याजस्तुति से गतार्थ है, क्योंकि यहाँ सर्वत्र ऐसा नहीं है कि जो बात आरंभ में कही गई हो वह पर्यवसान में विपरीत हो जाय। ऊपर दिए हुए 'अपि बत गुरुगर्वं०' इस उदाहरण में ही देखिए, कविका तात्पर्य कस्तूरी की स्तुति में नहीं है, किंतु 'जनक का प्राण लेनेवाली होने' से निंदा में ही है। अतएव अप्रस्तुत कस्तूरी के वृत्तांत से ध्वनित होनेवाले प्रस्तुत (अकृतज्ञ के) वृत्तांत में भी निंदा में ही विश्राम होता है। इसी

तरह 'नैर्गुण्यमेव साधीयः०' इस द्वितीय उदाहरण में भी अन्य वृक्षों की निंदा विवक्षित नहीं है, किंतु उनका आराम से रहना ही विवक्षित है। (इसी तरह) 'गुणी अपने गुणों से दुखी है' इस वाक्य में निर्गुणों की निंदा अनपेक्षित है, किंतु उनकी स्तुति ही वक्तव्य है। हाँ, 'स्खलंती स्वर्लोकात्०' यह तृतीय श्लोक भागीरथी की स्तुति के प्रकरण में पठित है, अतः यदि भागीरथी की स्तुति में कवि का तात्पर्य है तो वहाँ व्याजस्तुति भी रहे, किंतु व्याजस्तुति सावकाश है, अतः वह लेश को बाधित नहीं कर सकती, क्योंकि

रवितुरगदिग्गजेषु स्वर्णाचलजलधिधनदकोषेषु।
सत्स्वेव राजपुङ्गव! किं दातास्मीति गर्वमावहसि॥

हे राजश्रेष्ठ! सूर्य के अश्व, दिशाओं के गज, सुमेरु, समुद्र (रत्नाकर) और कुबेर का भंडार विद्यमान रहते आप 'मैं दाता हूँ' यह घमंड क्यों करते हैं?

यहाँ अंत में प्रतीत होनेवाली 'सूर्य के घोड़े' आदि कुछ परिगणित वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य सब वस्तुओं के दानरूपी गुण का दोषरूप में वर्णन नहीं है और 'जिस सूर्य के घोड़ों आदि के अदान' का वर्णन है वह गुण नहीं है, अतः गुण दोष दोनों का विषय भिन्न होने के कारण यहाँ लेश के स्पर्श से रहित व्याजस्तुति होने से स्पष्ट ही सावकाशता है।

इसी सावकाशता के कारण लेश भी व्याजस्तुति का बाधक नहीं होता, अतः पूर्वोक्त भागीरथीस्तुति में लेश और व्याजस्तुति दोनों का समावेश है, बाध्यबाधकभाव नहीं।

लेश अलंकार समाप्त

तद्गुणालंकार

लक्षण

अपने गुण का त्याग करके समीपवर्ती अन्य वस्तु से संबंध रखनेवाले गुण के ग्रहण को तद्गुण कहते हैं।

उदाहरण

नीतो नासान्तिकं तन्व्या मालत्याः कुसुमोत्करः।
बन्धूकभावमानिन्ये रागेणाधरवर्तिना॥

कृशांगी द्वारा नाक के समीप पहुँचाया हुआ मालती का कुसुम-समूह अधरोष्ठ के रंग द्वारा बंधूकता (रक्तपुष्पता) को प्राप्त कर दिया गया। अथवा जैसे—

अधरेण समागमाद्रदानामरुणिम्ना पिहितोऽपि शुद्धभावः।
हसितेन सितेन पक्ष्मलाक्ष्या पुनरुल्लासमवाप जातपक्षः॥

पक्ष्मलाक्षी के दाँतों की शुद्धता अधर के समागम के कारण ललाई से आच्छादित हो जाने पर भी श्वेत हास्य द्वारा उसके पंख निकल आए (फिर जोर पकड़ गई) और पुनः उल्लसित हो उठी।

यहाँ प्रथम उदाहरण में मालती के कुसुमसमूह के अधर के रंग से रँग जाने के कारण बंधूकता सिद्ध हो जाने से तद्गुण है।

दूसरे उदाहरण में भी पूर्वार्ध में तो दाँतों पर अधर की ललाई आ जाने से स्पष्ट ही तद्गुण है, परंतु उत्तरार्ध में फिर लौट आने के सदृश हास के द्वारा हटाए जाने के कारण भंगुर है—स्थिर नहीं। यदि यह

माना जाय कि हास से अधर को श्वेत करने द्वारा 'अधर की अरुणिमा का बाध' भी यहाँ वर्णित है तो वहाँ भी दूसरा तद्गुण है।

इस भंगुर तद्गुण को कुछ विद्वान् **पूर्वरूप** नामक अलंकार कहते हैं।

उल्लास से तद्गुण का भेद

यद्यपि उल्लास में भी एक के गुण से दूसरे में गुणाधान होता है तथापि वहाँ जैसे चूने आदि की क्षारता के कारण हल्दी आदि में ललाई उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार एक के गुण के कारण दूसरे में अन्य नवीन गुण उत्पन्न किया जाता है, किंतु तद्गुण में पहले का गुण ही (ज्यों का त्यों) दूसरे में आहित हो जाता है, जैसे जपाकुसुम की ललाई स्फटिक में संक्रांत होती है। यह है उल्लास से तद्गुण का भेद।

तद्गुण समाप्त

अतद्गुणालङ्कार

लक्षण

तद्गुण का विपर्यय (अर्थात् संनिहित अन्य वस्तु के संपर्क में रहकर भी अपने गुण का अत्याग और परगुण का अग्रहण) अतद्गुण अलंकार कहलाता है।

उदाहरण

कुचाभ्यामालीढं सहजकठिनाभ्यामपि रमे!

न काठिन्यं धत्ते तव हृदयमत्यन्तमृदुलम्।

मृगाङ्गनामन्तर्जननि निवसन्ती खलु चिरं

न कस्तूरी दूरीभवति निजसौरभ्यविभवात्॥

हे माता लक्ष्मी ! तुम्हारा अत्यंत कोमल हृदय स्वभावतः कठिन कुचों से व्याप्त होने पर भी कठिनता को धारण नहीं करता ; चिरकाल पर्यंत मृग के अंगों के अंदर रहती हुई कस्तूरी अपनी सुगंध की संपत्ति से दूर नहीं होती—यह निश्चित है ।

यहाँ पूर्वार्ध में अन्य वस्तु के गुण (कठिनता) का अग्रहण शाब्द है और अपने गुण (कोमलता) का अत्याग आर्थ है । उत्तरार्धगत दृष्टांतालंकार में तो 'अपने गुण (सुगंध) का अत्याग' शाब्द है और 'अन्य वस्तु के गुण का अग्रहण' आर्थ है ।

अवज्ञा और अतद्गुण में भेद

यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिए कि अवज्ञा और अतद्गुण में कोई भेद नहीं है, क्योंकि उल्लास के विपर्यय का नाम अवज्ञा है और तद्गुण के विपर्यय का नाम अतद्गुण । सो अवज्ञा का प्रतियोगी है उल्लास और अतद्गुण का प्रतियोगी है तद्गुण और उल्लास तथा तद्गुण में भेद ऊपर बताया जा चुका है अतः प्रतियोगियों के भेद से उनके विपर्ययों में भी भेद होना स्वतः सिद्ध है ।

अतद्गुण के भेदों और अलंकारांतरता पर विचार

अलंकारसर्वस्वकार ने लिखा है कि—अतद्गुण दो प्रकार का है । (१) जहाँ गुण न ग्रहण करने वाले की अपेक्षा संनिहित गुणवान् उत्कृष्ट हों और (२) जहाँ गुण न ग्रहण करने वाले की अपेक्षा संनिहित गुणवान् सम हो । इसका आशय यह हुआ कि—अपकृष्ट संबंधी गुण का ग्रहण न करना स्वभावसिद्ध है—अतः विचित्रताजनक न होने के कारण कोई भी अपकृष्ट से गुण लेता नहीं, सो अपकृष्टता को लेकर तीसरा प्रकार संभव नहीं है ।

दूसरों का कहना है कि उक्त दोनों भेदों में भी अवांतर चमत्कार नहीं है, अतः यह द्विविधता भी नहीं हो सकती ।

अन्य विद्वान् तो यह भी कहते हैं कि—उत्कृष्ट वस्तु का संनिधान गुणग्रहण का हेतु है, उसके रहते हुए 'तद्गुणग्रहण' रूपी कार्य का अभाव होने से अतद्गुण विशेषोक्ति का ही अवांतर भेद है, अतिरिक्त अलंकार नहीं। कहा जायगा कि 'यहाँ कार्यकारणभाव विवक्षित नहीं है, किंतु 'संनिधान में भी उसके गुण के ग्रहण का अभाव' इतना ही मात्र विवक्षित है, अतः अतद्गुण विशेषोक्ति से भिन्न है; पर यह कथन उचित नहीं, क्योंकि आपने जो 'संनिधान में भी' यह कहा है, यहाँ 'भी' से स्पष्ट है कि 'केवल संनिहित के गुण के ग्रहण का अभाव' ही विवक्षित नहीं है, किंतु उन दोनों में विरोध भी विवक्षित है (यदि विरोध न हो तो पास में रहने पर भी गुणग्रहण क्यों नहीं होगा) और यह विरोध ही तो अतद्गुण का जीवन मूल है—यदि यह नहीं रहेगा तो अतद्गुण में अलंकारता ही न होगी (उसी में तो चमत्कार है) और यह विरोध कार्यकारणभाव की विवक्षा न होने पर हो नहीं सकता, अतः आप कैसे कह रहे हैं कि 'कार्यकारणभाव विवक्षित नहीं है'। (सो विशेषोक्ति से इसे पृथक् मानना अनुपपन्न ही है)।

अतद्गुण समाप्त

———

मीलितालङ्कार

लक्षण

स्पष्ट उपलब्ध हो रही किसी वस्तु के लिंगों (ज्ञापकों) से अत्यंत समानता के कारण भिन्नता से प्रतीत न होनेवाले किसी अन्य वस्तु के लिंगों द्वारा अपने कारण (अन्य वस्तु) के अनु-मान न करवाने को मीलितालंकार कहते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि दो वस्तुओं के लिंग एक से होने पर स्पष्ट प्रतीत होनेवाली वस्तु के लिंगों में हिल मिल जाने से अन्य वस्तु की प्रतीति (अनुमिति) न होने का नाम मीलित है।

इस लंबे लक्षण का संग्रह (संक्षेप) इस श्लोक में है—

भेदाग्रहेण लिङ्गानां लिङ्गैः प्रत्यक्षवस्तुनः।
अप्रकाशो ह्यनध्यक्षवस्तुनस्तन्निमीलितम्॥

प्रत्यक्ष वस्तु के लिंगों से (अनुमेय वस्तु) के लिंगों के भेद का ज्ञान न होने के कारण अप्रत्यक्ष वस्तु के प्रकाशित न होने को मीलित कहते हैं।

लक्षण का विवेचन

इस श्लोक में 'अप्रत्यक्ष वस्तु के' यह सामान्यालंकार में अतिव्याप्ति न होने के लिए दिया गया है, क्योंकि सामान्य में प्रत्यक्ष होने पर भी अन्य वस्तु ही का ज्ञान नहीं होता (और यहाँ अनुमेय वस्तु का अनु-मान नहीं होता।)

'तद्गुण' में इसकी अतिव्याप्ति का तो प्रसंग ही नहीं है, क्योंकि यही इन दोनों में भेद है। तद्गुण में अन्य वस्तु के गुणों का भिन्न रूप में ग्रहण न होने पर भी अन्य वस्तु का ज्ञान तो रहता ही है (और मीलित में तो वस्तु का ही ज्ञान नहीं होता)।

उदाहरण

जलकुम्भमुम्भितरसं[1] सपदि सरस्याः समानयन्त्यास्ते।
तटकुञ्जगूढसुरतं भगवानेको मनोभवो वेद॥

तलैया से बड़े आनंद के साथ तत्काल पानी का घड़ा लाती हुई तुम्हारे, तट के कुञ्ज पर, गुप्त सुरत को अकेले भगवान् कामदेव ही जानते हैं।

यहाँ सुरत के ज्ञापक हैं—स्वेद, कंप और निश्वास। उनका जल-कुंभ के लाने की त्वरा से उत्पन्न उन्हीं के साथ भेद का ग्रहण नहीं होता, अतः सुरत का प्रकाशन नहीं होता।

अथवा; जैसे—

सरसिरुहोदरसुरभावधरितबिम्बाधरे मृगाक्षि! तव।
वद वदने मणिरदने ताम्बूलं केन लक्षयेम वयम्॥

हे मृगनयनी, कमल के गर्भ के समान सुगंधी और बिंबाफल को नीचे दिखानेवाले अधर से युक्त और मणियों के से दाँतों वाले तुम्हारे मुख में तांबूल को हम किस प्रकार पहचानें?

१—उम्भितः पूर्णो रसो यस्मिन् कर्मणि तत्तथेति क्रियाविशेषणमिदम्, न तु सरलोक्तः 'पूरितजल'मित्यर्थः 'जलकुम्भमित्यनेन पुनरुक्त्यापत्तेः। न हि रिक्तः कुम्भो जलकुम्भशब्देनोच्यते।

यह 'तांबूल क्यों नहीं ले रही हो' प्रिय के यह पूछने पर 'अभी अभी तांबूल खाकर ही आई हूँ' यह कहनेवाली प्रिया के प्रति प्रिय की उक्ति है।

प्रथम उदाहरण में प्रत्यक्ष वस्तु (जलकुंभ लाने) के लिंग (स्वेदादि) आगंतुक हैं—अर्थात् सुरत के धर्म घड़ा लाने से उत्पन्न बताए गए हैं और इस उदाहरण में (अधर की अरुणता) साहजिक (स्वभावसिद्ध) है—यह विशेषता है।

मीलितालंकार समाप्त

सामान्यालङ्कार

लक्षण

प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली वस्तु का बलवान् सजातीय ज्ञान के कारण उस (सजातीय) वस्तु से भिन्न रूप में प्रतीत न होने को सामान्यालंकार कहते हैं।

लक्षण का विवेचन

ऊपर लिखा जा चुका है कि मीलित में तो जो वस्तु छिपाई जा रही है वह प्रत्यक्ष का विषय नहीं होती। इसलिए मीलित में अतिव्याप्ति नहीं है।

उदाहरण

यस्मिन्हिमानीनिकरावदाते चंद्रांशुकैवल्यमिव प्रयाते।
पुच्छाश्रयाभ्यां विकला इवाद्रौ चरन्ति राकासु चिरंच मर्यः॥

बर्फ के ढेर से सफेद पहाड़ (हिमालय) जिस समय चंद्रमा की किरणों के साथ मानों एकता को प्राप्त हो जाता है—अर्थात् चाँदनी में डूब जाता है, उस समय उस पहाड़ पर पूर्ण चंद्रवाली पूर्णिमाओं के दिन चमरी गाएँ देर तक (रात भर) पूँछ और आधार (हिमालय) से रहित—सी घूमती हैं।

यहाँ चाँदनी के अंदर हिमाचल और चमरी के पुच्छ के पृथक् रूप में न दीखने के कारण उत्प्रेक्षा की उत्पत्ति है। उस उत्प्रेक्षा में सामान्यालंकार गुणीभूत (अंगरूप) है।

सामान्य के विषय में मतभेद

कुछ विद्वानों का कथन है कि—पूर्वोक्त लक्षण में 'भिन्न रूप में प्रतीत न होने' के स्थान में 'भिन्नजातीय के रूप में प्रतीत न होना' यह कहा जाना चाहिए। ऐसा कहने से व्यक्तिभेद प्रतीत होने पर भी सामान्यालंकार ही होता है। जैसे—

स्तबकभरैर्ललिताभिश्चलिताभिर्मारुतैर्नृप ! लताभिः।
वृतमुपवनमेवासीदरिमहिलानां महावनं भवतः॥

हे राजन्! गुच्छों के भारों से ललित और वायुओं (अर्थात् कभी इधर की कभी उधर की हवाओं) से हिलने वाली लताओं से परिवृत आपका उपवन ही आपकी शत्रु—महिलाओं के लिए महावन हो गया।

यहाँ उपवन को महावन इसलिए कहा गया है कि उपवन ने महावन का कार्य 'छिपना' संपन्न कर दिया और वह 'छिपने का संपादन' तुम्हारे भटों द्वारा लताओं के साथ तत्तद् व्यक्ति के रूप में महिलाओं का प्रत्यक्ष रूप में भिन्नता से ग्रहण होने पर भी भिन्न जातीयता से ग्रहण न होने के कारण, ठीक हो जाता है—अर्थात् महिलाएँ

तो पृथक् पृथक् दिखाई पड़ती हैं, पर सजातीयता के कारण लताओं से पृथक् नहीं होती। पूर्व मत में तो यहाँ दूसरा अलंकार स्वीकार करना पड़ेगा।

मीलित, सामान्य और तद्गुण एक अलंकार ही क्यों नहीं ?

कहा जायगा कि मीलित, सामान्य और तद्गुण इन तीनों अलंकारों में साधारण रूप से रहनेवाला 'भेदाग्रह' नाम का ही एक अलंकार होने दीजिए। तीन अलंकारों (के पृथक् पृथक् मानने) की क्या आवश्यकता है, क्योंकि मीलित में तो प्रस्तुत और अप्रस्तुत धर्मियों में गुणों के भेद का ग्रहण न होना पहले सिद्ध किया ही जा चुका है; सामान्य में कुछ विद्वानों के मत में गुण और गुणी के भेद का अग्रहण है और कुछ लोगों के मत में कहीं गुण गुणी के भेद का अग्रहण और कहीं केवल जातिमात्र के भेद का अग्रहण होता है; और इसी प्रकार तद्गुण में भी रक्त (जिस पर गुणों का प्रभाव पड़ा है) में रञ्जक (प्रभाव डालनेवाले) के गुण के भेद का अग्रहण है।

यदि कहा जाय कि इनमें परस्पर अवांतर भेद (अर्थात् प्रस्तुत और अप्रस्तुत धर्मी के गुणों का अग्रहण, गुण-गुणी के भेद का अग्रहण और रक्त तथा रञ्जक के भेद का अग्रहण) होने के कारण एक अलंकारता नहीं बनती; तो यह उचित नहीं। क्योंकि तब तो लुप्तोपमादि से पूर्णोपमादि भी पृथक् अलंकार होने लगेंगे, अतः भेदाग्रह के ही मीलितादिक तीन अवांतर भेद हैं—यह उचित है, पृथक् अलंकार होना नहीं। तो इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि—इस तरह तो 'अभेद' नाम का भी एक अलंकार होने दीजिए और रूपक, परिणाम और अतिशयोक्ति आदिक उसके अवांतर भेद हो जायँगे। यदि कहा जाय कि 'उनमें चमत्कारभेद है' सो वह तो प्रस्तुत में भी समान ही है। (अतः यह आपकी कल्पना व्यर्थ है)

उन्मीलित और विशेषक का खंडन

कुवलयानंदकार कहते हैं कि—"मीलित की रीति से भेद का अग्रहण प्राप्त होने पर किसी हेतु द्वारा भेद का ज्ञान हो जाय तो मीलित का प्रतिद्वंद्वी उन्मीलित होता है और सामान्य की रीति से जाति के भेद का अग्रहण होने पर किसी हेतु के द्वारा विजातीयता का ज्ञान हो जाय तो सामान्य का प्रतिद्वंद्वी विशेषक, ये दो नवीन अलंकार होते हैं। जैसे—

हिमाद्रिं त्वद्यशोमृष्टं सुराः शीतेन जानते।
लक्षितान्युदिते चन्द्रे पद्मानि च मुखानि च ॥

तुम्हारे यश से पुते हुए हिमाचल को देवता लोग शीत के कारण पहचानते हैं।

चंद्रमा के उदय होने पर पद्म और मुख (पृथक् पृथक्) लक्षित हुए।"

सो नहीं हो सकता; क्योंकि—अनुमानालंकार से ही गतार्थ होने के कारण इन दोनों में अलंकारांतरता का संबंध ही नहीं है। कहा जायगा कि यहाँ प्रत्यक्ष की सामग्री बलवान होने के कारण अनुमिति का उदय न होने से अनुमानालंकार का निरूपण नहीं किया जा सकता, तो यह उचित नहीं; क्योंकि अनुमानालंकार के लक्षणवाक्य में जो 'अनुमिति' पद है उससे 'व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मताज्ञानजन्य ज्ञान' का ही ग्रहण किया जाता है, लिंगपरामर्शजन्य ज्ञान का नहीं। अतएव हमने वहाँ पक्षांतर लिखा है। प्रस्तुत में विशेष दर्शन जिसका हेतु है ऐसा प्रत्यक्ष ही 'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानजन्य ज्ञान' हो जाता है, क्योंकि प्रमाणों का विभाग करने वाले नैयायिकों के समान आलंकारिकों की पद्धति हो, यह आवश्यक नहीं है, जिससे हमें

ऐसी अनुमिति की परिभाषा बनानी पड़े जो प्रत्यक्षत्व से अस्पृष्ट हो। कहा जायगा कि ऐसे विषय में मान्य लोगों द्वारा 'अनुमिति' पद का प्रयोग नहीं किया जाता, तो हम कहते हैं कि यद्यपि यह ठीक है, तथापि जैसे उन्मीलितादि के लिए नवीन परिभाषा बनाई जा सकती है, वैसे (अनुमान के विषय में भी) नवीन परिभाषा नहीं रोकी जा सकती।

अथवा अनुमिति को अनुमितित्व जाति से युक्त ही रहने दीजिए—अर्थात् जैसा प्राचीनों का सिद्धांत है उसमें हम बाधा नहीं डालना चाहते, किंतु प्रस्तुत उदाहरण में प्रतिबंधकवशात् अनुमिति का उदय न होने पर भी अनुमिति के साधकतम कारणों में कोई विघ्न न होने से अनुमानता में कोई व्याघात नहीं आता, क्योंकि अग्नि के विद्यमान रहने पर भी मणिमंत्रादि से प्रतिबद्ध होने के कारण दाह न होने से यह नहीं कहा जा सकता कि अग्नि दाह का कारण नहीं है। फल के असंबंध का अभाव (अवश्य प्राप्ति) करणता का प्रयोजक नहीं है, किंतु व्यापार ही करणता का प्रयोजक है। इससे यह कथन भी परास्त हो जाता है कि 'विशेष दर्शन किसी दूसरी कोटि की प्रतीति का प्रतिबंधक है और (पूर्वोक्त उदाहरण में) वैसा प्रत्यक्ष चक्षुःसंयोगादिरूप अपनी सामग्री के अधीन ही उत्पन्न हुआ है, अतः (अनुमान की) हेतुता में कोई प्रमाण न होने के कारण पारिभाषिक अनुमिति भी यहाँ नहीं हो सकती, फिर अनुमिति का करण अनुमान (जिसे आप अलंकार कहते हैं) यहाँ कैसे हो सकता है?' (क्योंकि पूर्वोक्तरीत्या अनुमितिकरणता निर्बाध है)।

कुवलयानंद का खंडन

और कुवलयानंदकार ने जो यह लिखा है कि—"तद्गुण की रीति से भी भेद का अग्रहण प्राप्त होने पर (ग्रहण हो जाय तो) 'उन्मीलित' देखा जाता है; जैसे—

नृत्यद्भर्गाट्टहासप्रसरसहचरैस्तावकीनैर्यशोभि-
धर्वाल्यं नीयमाने त्रिजगति परितः श्रीनृसिंहक्षितीन्द्र ।
नेदृग्यद्येष नाभीकमलपरिमलः प्रौढिमासादयिष्य—
द्देवानां नाभविष्यत्कथमपि कमलाकामुकस्य प्रबोधः ॥

हे नृसिंह पृथ्वीपति ! नृत्य करते हुए शिवजी के अट्टहास के विस्तार के साथी (अर्थात् अत्यंत श्वेत) आपके यशों से त्रिलोकी के श्वेत कर दिए जाने पर यदि ऐसा यह नाभी के कमल का परिमल (अति सुंदर सुगंध) उत्कर्ष को प्राप्त न होता तो देवताओं को लक्ष्मीपति भगवान् नारायण का प्रबोध किसी प्रकार नहीं होता ।"

सो यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि तद्गुण में दो गुणों का अभेदग्रहण होता है, दो वस्तुओं का नहीं—यह तो निर्विवाद है । ऐसी स्थिति में नाभिकमल की सुंदर सुगंध के द्वारा भगवान् का ज्ञान हो जाने पर भी 'भगवान् के गुण नीलत्व में यश के गुण श्वेतत्व से भेद के अग्रहण' रूपी तद्गुण में किसी प्रकार की बाधा न होने से इस उन्मीलित को तद्गुण का प्रतिद्वंद्वी कैसे कहा जा रहा है । (कहने का तात्पर्य यह है कि सुगंध से तद्गुण का बोध तो हुआ नहीं, क्योंकि भगवान् के विदित हो जाने पर भी यश के श्वेतत्व से जो भगवान् की नीलता तिरोहित हुई थी वह तो वापस लौटी नहीं । तब तद्गुण में किसी प्रकार की बाधा न आने पर भी प्रतिद्वंद्विता कैसे हुई ।)

अब यदि कहा जाय कि एक वस्तु में समीपवर्ती अन्य वस्तु के गुण से युक्त का भेदाग्रहण ही तद्गुण का जीवन है—(अर्थात् तद्गुण में केवल गुण का ही अभेदग्रहण नहीं होता, जैसे यहाँ नीलत्व और श्वेतत्व का, किंतु नील वस्तु श्वेत हो गई इस रूप में नीलत्ववान् में श्वेतत्ववान् का अभेद है) तथापि यहाँ तद्गुण में कोई बाधा नहीं

आती, क्योंकि उक्त पद्य में 'भगवान् श्वेत नहीं रहे' (पुनः नील हो गए) इस ज्ञान का कोई उपाय नहीं बताया गया है—सुगंध से भगवान् का बोध हो जाने पर भी श्वेतता तो उनकी मिटी नहीं। फिर तद्गुण का उन्मीलन क्या हुआ।

कहा जायगा कि भगवत्त्व नीलत्व का व्याप्य है (अर्थात् भगवान् की गणना नील वस्तुओं में है, श्वेत में नहीं), अतः भगवत्त्व का ज्ञान होने पर उनके (पूर्ववर्ती) नीलत्व का भी ज्ञान हो जायगा, इस कारण तद्गुणबाध का उपाय हो गया, तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि तब भी 'भगवान् यद्यपि पहले नीले थे किंतु कारणविशेष (यशः प्रसार) के प्रभाव से अब श्वेत हो गए,' जो प्रत्यक्ष से अनुगृहीत है—अर्थात् अब वे श्वेत दिखाई दे रहे हैं, इस ज्ञान को तो कोई मिटा नहीं सकता, अतः भगवान् तो श्वेत के श्वेत ही रहे, फिर तद्गुण का उन्मीलन कहाँ हुआ ?

अतएव आपके उपजीव्य (जिनके आधार पर आपने कुवलयानंद लिखा है उन) अलंकारसर्वस्वकार ने 'उन्मीलित' और 'विशेषक' अलंकारों की चर्चा ही नहीं की।

इसी कारण मर्यादा के वशवर्त्ती आर्यों को जहाँ तक प्राचीनों द्वारा विभक्त किए अलंकारों में (नवनिर्मित अलंकारों का) अंतर्भाव किया जा सके तहाँ तक भिन्न अलंकारता की अडंगेबाजी करके अपनी उच्छृंखलता का नाटक दिखाना उचित नहीं[1]।

---

१ नागेश कहते हैं कि—"अप्पय दीक्षित यहाँ 'तद्गुण नहीं है' यह नहीं कहते, किंतु 'तद्गुण की रीति से भेद का अग्रहण प्राप्त होने पर यदि किसी प्रकार भेद का ग्रहण हो जाय तो उन्मीलित हो जाता है' एतावन्मात्र कहना चाहते हैं, अतः कोई दोष नहीं।"

पर तब उन्मीलन किसका हुआ ? तद्गुण तो ज्यों का त्यों रहा ही,

और जो—

"वेत्रत्वचा तुल्यरुचां वधूनां कर्णाग्रतो गण्डतलागतानि ।
भृङ्गाः सहेलं यदि नापतिष्यन्कोऽवेदयिष्यन्नवचम्पकानि ॥

बेंत की छाल के समान कांतिवाली वधुओं के कानों के ऊपर से कपोलतल पर आए हुए नवीन चंपा के पुष्पों को, यदि खेलते हुए भौंरे उन पर न गिरते तो, कौन पहचानता ?"

यह सामान्य का उदाहरण देकर काव्यप्रकाश में लिखा है कि 'निमित्तान्तरजनितापि नानात्वप्रतीतिः प्रथमप्रतिपन्नमभेदं न व्युदसितुमुत्सहते । प्रतीतस्य त्यागायोगात्'[1]—अन्य निमित्त से उत्पन्न भी भेद की प्रतीति प्रथमतः ज्ञात अभेद को हटाने का उत्साह नहीं कर सकती, क्योंकि प्रतीत वस्तु का त्याग असंगत है'। सो यह उचित नहीं, क्योंकि यहाँ उत्तर बोध से तिरस्कृत होने के कारण पूर्व प्रतीति में चमत्कारिता नहीं है, किंतु उत्तर प्रतीति की ही चमत्कारिता है अतः उसी से व्यपदेश उचित है, अन्यथा व्यतिरेक में भी उपमा होने लगेगी । हाँ, विरोधाभास तो (ऐसी दशा में भी) चमत्कारी होता है, क्योंकि उसका स्वरूप ही पूर्व उत्तर दोनों प्रतीतियों से बनता है— उसमें उत्तर प्रतीति से पूर्व प्रतीति का बाध नहीं होता ।

सामान्यालंकार समाप्त

———

फिर इसका 'उन्मीलित' नाम ही व्यर्थ हो जायगा । इस पर भी विचार करना चाहिए । —अनुवादक

१ काव्यप्रकाश का पाठ 'प्रतीतत्वात्तस्य । प्रतीतेश्च बाधायोगात् ।' यह है । यह उसका तात्पर्यकथनमात्र है ।

उत्तरालंकार

लक्षण

प्रश्न के प्रतिबंधक ज्ञान के विषयीभूत अर्थ का नाम उत्तर है। अर्थात् जिस वस्तु का ज्ञान हो जाने पर प्रश्न करना निवृत्त हो जाय वह वस्तु उत्तर कहलाती है।

लक्षण का विवेचन

'प्रच्छ' धातु का अर्थ है 'ज्ञीप्सा' और वही 'प्रश्न' शब्द का भी अर्थ है, क्योंकि प्रश्न शब्द 'प्रच्छ' धातु से भावार्थक 'नङ्' प्रत्यय करने से बनता है और धातु के अर्थ का नाम ही भाव है, अतः जो धातु का अर्थ है वही भावप्रत्ययांत शब्द का भी अर्थ होता है। 'ज्ञीप्सा' का अर्थ है ज्ञानविषयक इच्छा, सो 'प्रश्न' शब्द का अर्थ हुआ 'जानने की इच्छा'। यह इच्छा उत्तरवाक्य द्वारा विषयीभूत ज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर निवृत्त हो जाती है। सारांश यह कि 'प्रश्न' शब्द का अर्थ है ज्ञानविषयक इच्छा और उसके निवृत्त करने का साधन है उस इच्छा का विषयीभूत ज्ञान।

अब यहाँ यह प्रश्न होता है कि उक्तरीत्या 'प्रश्न' शब्द के पर्याय 'जिज्ञासा' का अर्थ है ज्ञानविषयक इच्छा, और ज्ञान की इच्छा किसी वस्तु को विषय बनाकर ही उत्पन्न होती है तथा इच्छा उसी विषय में होती है जिसमें इष्टसाधनता का ज्ञान हो—अर्थात् प्रश्नकर्ता जिसके विषय में यह समझे कि इससे मेरे अभीष्ट की पूर्ति हो जायगी वही ज्ञान विषयीभूतज्ञान है। ऐसी स्थिति में जब ज्ञान की इष्टसाधनता का ज्ञान हो जायगा तब इष्टसाधनताज्ञान के रूप में ही विषयीभूत ज्ञान के सिद्ध हो जाने पर जिज्ञासा उत्पन्न ही कैसे होगी? तात्पर्य यह कि जैसे दो

दर्पण आमने सामने रक्खे जायँ तो जो प्रतिबिंब एक दर्पण में पड़ेगा वह दूसरे दर्पण में भी स्वभावतः पड़ जायगा, उसी प्रकार इष्टसाधनताज्ञान में भी प्रश्नविषयीभूतज्ञान आ ही जायगा—यदि विषयीभूतज्ञान का ही पता न होगा तो उसे इष्टसाधन समझा कैसे जायगा। तब उसी से प्रश्न की निवृत्ति हो जायगी, फिर विषयीभूत ज्ञान की इच्छा उत्पन्न ही कैसे होगी।

पर ऐसा न कहिए। कारण यह है कि—'किमेकं दैवतं लोके=जगत् में प्रधान देवता कौन है ?' इत्यादि प्रश्नवाक्य से 'एकदैवतत्व के व्याप्य धर्म जिसके प्रकार हैं वह ज्ञान' इष्टसाधन है—सारांश यह कि प्रश्नकर्ता की जिज्ञासा 'एकदैवतत्व' के अवांतर भेदों के विषय में है। इस ज्ञान से उत्पन्न होनेवाली इस वाक्य के प्रयोग करनेवाले की 'उक्त ज्ञान मुझे उत्पन्न हो' यह इच्छा अनुमित होती है। तात्पर्य यह कि जिस इष्टसाधनता के ज्ञान से आप जिज्ञासा का प्रतिबंध मान रहे हैं वह इष्टसाधनता का ज्ञान तो प्रयोक्ता की वास्तविक जिज्ञासा का उत्पादक मात्र है। यह वास्तविक जिज्ञासा उत्तरवाक्य से उत्पन्न होने वाले ज्ञान में इष्टसाधनता के ज्ञान से उत्पन्न होती है। अभिप्राय यह कि प्रश्नवाक्य के प्रयोक्ता का इष्टसाधन है उत्तरवाक्यार्थ का ज्ञान, न कि, 'एकदैवतत्व' मात्र का ज्ञान, जो कि सामान्य ज्ञान है। यह सामान्य ज्ञान उत्तर वाक्य से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान का जनक है और इसका ग्रहण तब होता है जब कि किसी (आप्तपुरुष) से दैवतत्वप्रकारक उपस्थिति (दैवतरूप सामान्य का स्मरण) और 'एक संबंधी का ज्ञान अन्य संबंधी का स्मारक होता है' इस ज्ञान के अधीन 'दैवत के व्याप्य धर्म' के रूप से उक्त सामान्यज्ञान की उपस्थिति ये दोनों उपस्थितियाँ हो जायँ।

अब सोचिए कि प्रश्नवाक्य के प्रयोक्ता की वास्तविक जिज्ञासा का विषय, दैवतत्व के व्याप्यधर्म जिसका प्रकार है उस सामान्यरूप से

देवतत्वव्याप्यधर्म के अंश में निरवच्छिन्न (आवरण रहित) प्रकारता से मुक्त 'विष्णुर्दैवतम्=विष्णु (प्रधान) देवता हैं' इत्यादि ज्ञान ही हैं, अतः उत्तरवाक्य से उत्पन्न उन्हीं ज्ञानों से वाक्यप्रयोक्ता की इच्छा प्रतिबद्ध होती है, अतः वही वाक्य उत्तररूप हो सकता है। इस जिज्ञासा का जनकीभूत ज्ञान तो इस जिज्ञासा का विषय ही नहीं है, अतः आपका बताया हुआ इष्टसाधनताज्ञान इस जिज्ञासा का प्रतिबंधक नहीं होता। सो कोई दोष नहीं है।

तात्पर्य यह कि पहले दोनों प्रकार के सामान्य धर्मों का जिसे बोध है वही प्रश्न करता है, अतः निरावरण धर्म ही उसकी जिज्ञासा का विषय होता है, सो 'विष्णु प्रधान देवता हैं' इत्यादि निरवच्छिन्न प्रकारता वाले उत्तर वाक्यों से ही उसकी जिज्ञासा शांत हो सकती है। इष्टसाधनताज्ञान अथवा एक दैवतत्व के व्याप्य धर्मों का सामान्य ज्ञान जो कि उस इच्छा के कारणरूप ज्ञान हैं, वे तो जिज्ञासा का विषय ही नहीं है, तब उनसे जिज्ञासा शांत होने की बात करना ही व्यर्थ है।

उत्तरालंकार के भेद

उत्तरालंकार के प्रथमतः दो भेद हैं—उन्नीतप्रश्न (जिसमें प्रश्न ऊपर से लाया जाय) और निबद्धप्रश्न (जिसका प्रश्न पद्य में ही लिखा हो)।

उन्नीतप्रश्न उत्तरालंकार का उदाहरण; जैसे—

त्वमिव पथिकः प्रियो मे विटपिस्तोमेषु गमयति क्लेशान्।
किमितोऽन्यत्कुशलं मे संप्रति यत् पान्थ! जीवामि॥

हे पथिक, मेरा प्रिय तुम्हारे समान (पथिक) है और वृक्ष-समूहों में (पेड़ों के नीचे) श्रांति मिटा रहा है, इससे अतिरिक्त मेरी कुशल क्या है कि अभी जी रही हूँ।

यहाँ किसी पथिक की कुटुंबिनी का अन्य पांथ के प्रति उत्तर है। इस उत्तर से पथिक द्वारा किए गए कुशलप्रश्न का अनुमान किया जाता है, क्योंकि कुशल न पूछने पर कुशल कहना नहीं बनता।

निबद्धप्रश्न उत्तरालंकार का उदाहरण; जैसे—

किमिति कृशाऽसि कृशोदरि ? किं तव परकीयवृत्तान्तैः।
कथय तथापि मुदे मम कथयिष्यति याहि पान्थ तव जाया ॥

(किसी पथिक ने कहा—) हे कृशोदरि, दुबली क्यों हो ? (उसने कहा—) तुम्हें दूसरों के वृत्तांतों से क्या प्रयोजन ? (फिर कहा—) तब भी कहिए, मुझे आनंद होगा (उसने कहा—) हे पथिक—जाइए, आपकी पत्नी आपसे कह देगी।

यहाँ प्रथम प्रश्न का व्यंग्य है—यदि कारण बता दो तो उपाय कर दूँगा और उत्तर का व्यंग्य है—मैं पतिव्रता हूँ, परपुरुष के सामने हेतु कहना उचित नहीं और न तुम उसका उपाय कर ही सकते हो। दूसरे प्रश्न का व्यंग्य है—पातिव्रत्य में क्या धरा है, यह तो अचतुरों की केवल हठचेष्टा है, संसार का सार तो है अपने आपको और दूसरों को संतुष्ट करना और द्वितीय उत्तर का व्यंग्य है—जो मेरी दशा है वही तुम्हारी पत्नी की भी है। उपाय ही करना है तो उसी का करिए। कोई भी अपने घर को जलता छोड़कर दूसरे के घर की आग नहीं बुझाता और यदि 'अपनी हानि सहकर भी परोपकार करना चाहिए' यह बुद्धि है तो ऐसे उपकार में प्रवृत्त तुम्हारी पत्नी का उपकार किसी दूसरे को करना पड़ेगा, अतः मेरे समान परपुरुष से दूर रहनेवाली उसका विरह तुम्हें ही दूर करना चाहिए।

प्राचीनों का कथन है कि उन्नीतप्रश्न उत्तरालंकार में एक बार

उत्तर सुंदर होता है, किंतु निबद्धप्रश्नोत्तरालंकार में प्रश्न और उत्तर के अनेक बार आने पर सुंदरता होती है।

उत्तरालंकार के अन्य भेद

पूर्वोक्तरीत्या दो प्रकार का यह उत्तरालंकार प्रश्न और उत्तर में से किसी एक अथवा दोनों के साभिप्राय और निरभिप्राय होने के कारण प्रत्येक चार प्रकार का होता है, अतः ८ आठ भेद होते हैं।

उन्नीत साभिप्राय प्रश्न; जैसे—

प्रियो हृदयवर्ती मे न मां मुञ्चति जातुचित्।
उत्तरे नावकाशोऽस्ति दूरतस्ते मनोरथः॥

मेरा प्रिय मेरे हृदय में रहता है, मुझे कभी नहीं छोड़ता। तुम्हारा मनोरथ तो दूर रहा उत्तर देने को भी अवकाश नहीं है।

यहाँ किसी पथिक द्वारा किया गया किसी पतिव्रता के प्रति 'तुम्हारा प्रिय कहाँ है?' यह प्रश्न उन्नीत है, जिसमें यह अभिप्राय गर्भित है कि यदि प्रिय समीपवर्ती है तो उसे धोखा देकर और यदि दूर है तो स्वच्छंदता से हम दोनों का मन्मथविलास होगा, अन्यथा 'तुम्हारा मनोरथ तो दूर रहा' यह उत्तर असंगत हो जाता है। उत्तर तो स्पष्ट है, अतः अभिप्रायगर्भित नहीं है।

उन्नीतप्रश्न का साभिप्राय उत्तर; जैसे—

सुवर्णस्य कृते तन्वि देशं देशमटाम्यहम्।
तस्य दुष्प्रापताहेतोश्चिन्ताक्रान्तं मनो मम॥

हे तन्वि! सुवर्ण (सोना + सुंदर रूप) के लिए मैं देश देश घूम रहा हूँ, किंतु उसकी दुर्लभता के कारण मेरा मन चिंताक्रांत है।

यहाँ किसी ग्रामीण स्त्री के 'तुम्हारा मन किस कारण चिंताक्रांत है ?' इस स्पष्टार्थ प्रश्न का किसी नागरिक के द्वारा साभिप्राय उत्तर है कि 'यदि सुंदर रूप मुझे दे दो तो चिंता की निवृत्ति हो जायगी'।

उन्नीत प्रश्न वाले उत्तरालङ्कार में साभिप्राय प्रश्नोत्तर; जैसे—

रोगस्य ते चिकित्सां निदानमालोच्य सुन्दरि करिष्ये।
मा हन्त ! कातरा भू रसक्रियायां नितान्तनिपुणोऽस्मि ॥

हे सुंदरि ! निदान (मूल कारण) का विचार करके तुम्हारे रोग की चिकित्सा करूँगा। तुम घबराओ नहीं, मैं रसक्रिया (पारदादि रस बनाने + रसोत्पादन) में अत्यंत निपुण हूँ।

यहाँ 'बिना पूछे किसी से न कहना चाहिए' इत्यादि नीति के अनुसार वैद्य की प्रतिज्ञा से तर्कित 'हे वैद्य ! मेरे रोग की चिकित्सा करोगे ?' यह प्रश्न उन्नीत है। वह विदग्ध नायिकारूपी बोलनेवाली की विशिष्टता के कारण संभोगरूप अभिप्राय से गर्भित है और उत्तर भी इसी अभिप्राय से गर्भित है।

प्रश्न और उत्तर दोनों की निरभिप्रायता का 'त्वमिव पथिकः०' यह उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है ये उन्नीतप्रश्नोत्तरालंकार के भेद हैं।

इसी प्रकार निबद्धप्रश्न उत्तरालंकार के उदाहरण भी दे लेने चाहिए। वैसे तो उपर्युक्त 'किमिति कृशासि०' यह पद्य भी वक्ता के वैदग्ध्य और अवैदग्ध्य की व्यवस्था से चारों निबद्ध प्रश्नों का उदाहरण हो सकता है।

उक्त भेदों के विषय में मतभेद

इस विषय में कहा जाता है कि—इस अलंकार का जीवनमूल है 'प्रश्न और उत्तर दोनों का कई बार निबद्ध होना', क्योंकि चमत्कार

का उदय उसी प्रकार हो सकता है, केवल एक बार लिखने से नहीं। अतः 'एक बार प्रश्न का एक बार उत्तर' अलंकार का विषय नहीं है।

कहा जायगा कि तब तो 'उन्नीतप्रश्न उत्तरालंकार' में अव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि यहाँ प्रश्न एक ही होता है और वह पद्य में निबद्ध भी नहीं होता तथा उत्तर भी एक ही होता है। इसका उत्तर वे यह देते हैं कि—प्रश्न की उन्नीतता का अर्थ 'उत्तर द्वारा आक्षिप्त होना' नहीं है, किंतु प्रश्नोत्तर की परंपरा (अनेक प्रश्नों) में प्राचीन उत्तर के सुनने से उत्पन्न होना मात्र है—अर्थात् उस प्रश्न से पूर्व भी कोई प्रश्न होना चाहिए, अतः अनेकता आ जाती है; जैसे—

श्यामं यज्ञोपवीतं तव किमिति ? मषीसंगमात् कुत्र जातः
सोऽयं ? शीतांशुकन्यापयसि कथमभूत्तज्जलं कज्जलाक्तम् ?
व्याकुप्यन्नूरदीनक्षितिरमणरिपुक्षोणिभृत्पद्मलाक्षी—
लक्षाक्षीणाश्रुधारासमुदितसरितां सर्वतः संगमेन ॥

(हे ब्राह्मण) तुम्हारी जनेऊ काली क्यों है ? कालिख लग जाने से। यह कलौंच कहाँ लग गई ? नर्मदा के जल में। नर्मदा का जल काजल से मलिन कैसे हो गया ? क्रोधयुक्त पृथ्वीपति जहाँगीर[1] के शत्रुराजाओं की लाखों सुंदरियों की निरंतर अश्रुधाराओं से इकट्ठी नदियों के चारों ओर से मिल जाने के कारण।

यहाँ 'यह जनेऊ का कालापन कहाँ हो गया ?' यह प्रश्न 'कालिख लग जाने से' इस उत्तर द्वारा उपजा है, अतः ऐसे प्राचीन उत्तर से उपजे हुए प्रश्न को 'उन्नीत प्रश्न' कहा जाता है। प्रथम प्रश्न तो

---

१ काव्यमालासंपादक की टिप्पणी है कि 'नूरदीन' जहाँगीर का दूसरा नाम है।

उन्नीत न होने पर भी उत्तर उठाने के लिए लिख दिया गया है। यहाँ कोई अलंकार नहीं है।

सो इस मत में पूर्वदर्शित उन्नीत प्रश्न उत्तरालंकार के उदाहरण ('त्वमिव पथिकः०' आदि) उदाहरण ही नहीं हैं। इन लोगों के मतानुसार इस अलंकार के दो भेद भी 'उन्नीतप्रश्न' और 'निबद्धप्रश्न' नाम से नहीं कहे जाने चाहिए, किंतु 'उन्नीतप्रश्न' और 'अनुन्नीतप्रश्न' इस नाम से होने चाहिए।

सिद्धांत

वास्तव में तो प्रश्न और उत्तर यदि अभिप्रायगर्भित हो तो उतने से ही चमत्कार हो जाने के कारण प्रश्नोत्तर के बार बार ग्रहण की कोई अपेक्षा नहीं है। हाँ, यदि प्रश्नोत्तर अभिप्रायगर्भ न हो तो 'निबद्धप्रश्न' भेद में प्रश्नोत्तर के बार बार ग्रहण करने से उत्पन्न चमत्कार अपेक्षित है, किंतु 'आक्षिप्तप्रश्न' में तो यदि प्रश्न के आक्षेप से उत्पन्न चमत्कार को सहृदय लोग उत्तर मानते हैं तो एक बार प्रश्नोत्तर में भी अलंकारता होने दो। हमारा क्या बिगड़ता है।

अन्य भेद

उत्तरालंकार के दूसरे प्रकार से भी भेद संभव हैं। उदाहरणार्थ (प्रश्नोत्तर) पद्य के अंतर्गत और पद्य के बहिर्गत होने से दो भेद हो सकते हैं। पद्यांतर्वर्ती प्रश्नोत्तर वाले भेद के भी पुनः दो भेद हो सकते हैं—(१) प्रश्न और उत्तर दोनों के एक ही वाक्य में आ जाने से और (२) प्रश्न और उत्तर के भिन्न भिन्न वाक्यों में आने से। पद्यांतर्वर्ती और पद्यबहिर्वर्ती दोनों ही उत्तरों में पुनः बहुत से भेद हो सकते हैं—(१) जिसमें एक बार शब्द सुनना ही पर्याप्त हो, (२) जिसमें शब्द की आवृत्ति (दुहराना) पर्याप्त हो और (३) जहाँ अनेक प्रश्नों

का एक ही पद से उत्तर दिया गया हो—इत्यादि। इनमें से कुछ के उदाहरण दिए जा रहे हैं—

पद्यांतर्वर्ती एकवाक्योद्‌गीर्ण प्रश्नोत्तर; जैसे—

किंकुर्वते दरिद्राः कासारवती धरा मनोज्ञतरा।
कोपावनस्त्रिलोक्याम्[1] .... ॥

'किं कुर्वते दरिद्राः'—दरिद्र लोग क्या करते हैं? इस प्रश्न का संस्कृत भाषा में यही वाक्य उत्तर है—दरिद्राः किंकुर्वते (दरिद्री लोग किंकरता—चाकरी—करते हैं)। इसी प्रकार 'का सारवती धरा मनोज्ञतरा' (सारवती मनोज्ञतरा धरा का) कौनसी पृथ्वी सारयुक्त तथा अत्यंत मनोज्ञ होती है? इस प्रश्न का संस्कृत भाषा में उत्तर है—'कासारवती धरा मनोज्ञतरा' (तालाबों वाली पृथ्वी अत्यंत मनोज्ञ होती है)। इसी प्रकार 'कोऽपावनस्त्रिलोक्याम्'—त्रिलोकी में अपावन (अपवित्र) कौन है? इस प्रश्न का संस्कृत भापा में उत्तर है 'कोपावनः' (क्रोध रखने वाला—क्रोधी)।

इति शुभम्

———

१ दुर्भाग्य है कि यह ग्रन्थ इतना ही प्राप्त है।

परिशिष्ट नं० १

पारिभाषिक शब्दों के अर्थ

उपक्रम

प्रस्तुत अनुवाद में संस्कृत के पारिभाषिक शब्द, यथासंभव, हिंदी में न आने देने का पूर्ण अवधान रखा गया है। इतने पर भी कुछ नव्यन्याय के शब्द ऐसे हैं कि जिनके समानार्थक शब्द, हिंदी तो क्या, शायद संसार की किसी भी प्रचलित भाषा में, बिना नवीन निर्माण के कदाचित् ही प्राप्त हो सकें; ऐसे शब्द कहीं कहीं आए ही हैं। उन सबका अनुवाद ठेठ हिंदी में तो असंभव ही था, और यदि उनके समानार्थक कुछ नए सरल शब्द तैयार किए भी जाते तो वे संकेतज्ञान के अभाव तथा पर्याप्तार्थ-निदर्शक न होने के कारण, संस्कृत तथा हिंदी दोनों ही भाषाओं के अध्येताओं के लिये भ्रमजनक ही हो सकते थे। अतः इसकी अपेक्षा यही मार्ग सरल समझा गया कि ऐसे शब्दों की एक सूची ग्रंथ के अंत में दे दी जाय और उनके पारिभाषिक अर्थ—जहाँ तक हो सके—सरल हिंदी में समझा दिए जायँ। यद्यपि ऐसे पारिभाषिक शब्दों में से कुछ के अर्थ जहाँ तहाँ टिप्पणी अथवा ब्रेकिट में भी दिए गए हैं, पर वे पर्याप्त और यथेष्ट सुविधाजनक नहीं हैं। कारण, किसी महाग्रंथ के एक प्रकरण में आए अर्थ को बिना किसी विशेष संकेत के पुनः ढूँढ़ निकालना अति कठिन कार्य है, और यदि कोई संकेत कर भी दिया जाय तो भी अनेक शब्दों के अर्थों के लिये भिन्न-भिन्न पृष्ठों को बार बार उलटते रहना, पाठकों को अनुभव होगा कि घोर असुविधाजनक होता है, और बार-बार एक शब्द

के विस्तृत अर्थ को दुहराते रहना अनुचित प्रपंचमात्र होता, अतः वैसे शब्दों की एक वर्णक्रम-सूची तैयार कर ली गई है और यथाशक्य उदाहरणादि सहित उनके सरल अर्थ नीचे लिखे जा रहे हैं—

१—**अतिव्याप्ति**—किसी व्यक्ति अथवा वस्तु के लक्षण का उसके अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति अथवा वस्तु में चला जाना अतिव्याप्ति कहलाता है; जैसे 'गाय' का लक्षण 'सींगवाली' बनाया जाय तो इस लक्षण की भैंस आदि अन्य पशुओं में अतिव्याप्ति होगी।

२—**अध्यवसान**—उपमान (विषयी) उपमेय (विषय) में से किसी एक मात्र को लिखकर अन्य का उसके साथ मान लिया जानेवाला अभेद अध्यवसान कहलाता है; जैसे 'महलों की छतों पर चन्द्रमाओं की पंक्तियाँ सुशोभित हो रही हैं' यहाँ चंद्रमारूपी उपमान के साथ कामिनियों के मुखों का अभेद मान लिया गया है।

३—**अनुयोगी**—संबंध अथवा सादृश्य दो वस्तुओं में होता है। उनमें से जिस वस्तु में किसी वस्तु का संबंध अथवा सादृश्य बताया जाय वह अनुयोगी कहलाता है; जैसे 'राम श्याम का लड़का है', 'कामिनी का मुख चंद्रमा के समान है' इन वाक्यों में क्रमशः राम और मुख अनुयोगी हुए।

४—**अन्यथानुपपत्ति**—जहाँ किसी वस्तु के न होने के कारण अन्य वस्तु का होना असंभव हो जाय वहाँ अन्यथानुपपत्ति मानी जाती है; जैसे शब्दसे अर्थ के ज्ञान में अन्यथानुपपत्ति के द्वारा 'संकेत ज्ञान' को हेतु माना जाता है, क्योंकि शब्द अर्थ दोनों के प्रत्यक्ष हो जाने पर भी—अर्थात् कानों से शब्द सुन लें और वस्तु सामने पड़ी रहे तब भी—विना 'संकेतज्ञान' के अर्थावबोध असंभव है, जैसा कि संस्कृत या अँगरेजी न जाननेवाले के सामने संस्कृत या अँगरेजी में कहने पर होता है।

५—**अवच्छेदक**—जो धर्म न न्यून में रहे न अधिक में उसे अवच्छेदक कहते हैं; 'जैसे घट में घटत्व'। क्योंकि संसार का कोई घड़ा ऐसा नहीं जिसमें यह धर्म न रहता हो और न यह धर्म घड़े के अतिरिक्त किसी वस्तु में ही रहता है।

६—**अव्याप्ति**—अधूरे लक्षण में अव्याप्ति दोष समझा जाता है; जैसे गाय का लक्षण 'कपिलापन'; यह लक्षण अधूरा है, क्योंकि सभी गायें कपिला नहीं होतीं।

७—**असंगति**—प्रमाण के अभाव में किसी बात का ठीक-ठीक न जमना असंगति कहलाती है; जैसे 'पृथिवी चपटी है' यह बात असंगत है, क्योंकि इसमें पुरःस्फूर्तिक दृष्टि के अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं।

८—**असंभव**—जिस वस्तु का लक्षण बनावें उस चीज में उस लक्षण का सर्वथा न रहना 'असंभव' दोष कहलाता है; जैसे गाय का लक्षण 'एक खुरवाली होना'। यह लक्षण असंभव दोष से ग्रस्त है; क्योंकि कोई भी गाय एक खुरवाली नहीं होती।

९—**आत्माश्रय**—जहाँ स्वयं उस वस्तु के समझ लिए जाने पर ही वह वस्तु समझी जा सके वहाँ 'आत्माश्रय' दोष होता है; जैसे कोई बालक पूछे कि 'नकशे में काशी कहाँ है?' और उसका उत्तर दिया जाय कि 'जहाँ बनारस है', यहाँ आत्माश्रय दोष होगा, क्योंकि जो बनारस है वही काशी है, अतएव जब तक काशी का स्थान नहीं जान लेगा, तब तक बनारस का भी वह नहीं जान सकता।

१०—**आरोप**—जिसमें जो धर्म नहीं है उसको उस धर्म से युक्त बताना आरोप कहलाता है; जैसे 'मुखचंद्र', यहाँ मुख के चंद्रत्व धर्म से युक्त न होने पर भी उसे चंद्र (चंद्रत्व धर्म से युक्त) बताया जा

रहा है। यहाँ इतना और याद रखना चाहिए कि साहित्य की परिभाषा के अनुसार जहाँ 'मुख' और 'चंद्र' दोनों शब्द लिखे हों, वहीं आरोप माना जाता है और जहाँ उपमान को लिखकर उपमेय को अध्याहृत (understood) समझा जाय वहाँ अध्यवसान होता है।

११—आहार्यज्ञान—बाधित जानते हुए भी कल्पित ज्ञान को आहार्यज्ञान कहते हैं, जैसे 'मुख को चंद्रमा कहना' अथवा आग के लिये यह कहना कि 'यदि आग ठंडी हो जाय', क्योंकि यहाँ प्रत्येक वक्ता यह जानते हुए भी कि, न तो मुख चंद्रमा हो सकता है; न आग ठंडी हो सकती है, इन बातों को मान लेता है।

१२—उपमान—जिसके साथ किसी की तुलना की जाय उसे उपमान कहते हैं, जैसे मुख की चंद्रमा के साथ तुलना की जाय तो चंद्रमा उपमान होगा।

१३—उपमेय—जिसकी तुलना की जाय वह उपमेय होता है; जैसे उपर्युक्त उदाहरण में मुख।

१४—गौरव—किसी भी बात के मात्रा से अधिक बढ़ जाने में गौरव दोष माना जाता है; जैसे जातिवाचक 'गौ' आदि पदों का जाति में संकेत न मानकर व्यक्तियों में माना जाय तो गौरव दोष होगा, क्योंकि व्यक्ति अनंत हैं, अतः अनंत बार अनंत संकेत मानने पड़ेंगे।

१५—धर्म—जो स्वतंत्र न रहकर केवल दूसरे के आश्रित ही रहे वह 'धर्म' कहलाता है, जैसे जाति, गुण, क्रिया आदि।

१६—निर्विकल्पक ज्ञान—किसी भी वस्तु को हम तभी ठीक-ठीक समझ सकते हैं, जब उस चीज के विशेष धर्म (जाति आदि) को अच्छी तरह समझ लें; जैसे अँधेरे में मनुष्य है अथवा खंभा—इस बात को हम तभी कह सकते हैं जब उस चीज में मनुष्यपन अथवा

खंभापन का हमको पहले ज्ञान हो जाय। इस तरह यह सिद्ध होता है कि हम किसी भी व्यक्ति या वस्तु को ठीक-ठीक तभी जान सकते हैं जब व्यक्ति अथवा वस्तु और उसके विशेष धर्म (मनुष्यपन आदि) दोनों का ज्ञान हो। इस पूरे ज्ञान को सविकल्पक ज्ञान कहते हैं। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि किसी भी वस्तु अथवा व्यक्ति का ज्ञान तो बिना विशेष धर्म के हो नहीं सकता, किंतु सविकल्पक ज्ञान के पूर्व जो विशेष धर्म (मनुष्यत्व आदि) का ज्ञान होता है वह निर्विकल्पक होता है, क्योंकि विशेष धर्म पर भी विशेष धर्म मानकर यदि उसे भी सविकल्पक ज्ञान माना जाय तो अनवस्था हो जायगी उसका कहीं अंत ही न आवेगा।

१७—**प्रकार**—किसी विशिष्ट (विशेषण सहित) वस्तु के विशेषण रूप में ज्ञात होनेवाले धर्म को प्रकार कहते हैं; जैसे 'घट' उस वस्तु का नाम है जिसमें घटत्वरूपी विशेष धर्म रहता है, अतः घट शब्द का अर्थ होता है 'घटत्व धर्म से युक्त वस्तु'। यहाँ 'घटत्व' धर्म प्रकार कहलावेगा और 'घट' पदार्थ विशेष्य। मोटे तौर से यह समझना चाहिए कि विशेषण को प्रकार कहते हैं।

१८—**प्रकृति-प्रत्यय**—शब्द का वह मूल भाग जिससे कोई भी प्रत्यय किया जाता है प्रकृति कहलाता है, जैसे 'जयपुरीय' शब्द में 'जयपुर' प्रकृति है और 'ईय' प्रत्यय।

१९—**प्रतियोगी**—जिस वस्तु का अभाव, संबंध अथवा सादृश्य बताया जाय वह वस्तु प्रतियोगी कहलाती है; जैसे 'कामिनी का मुख चंद्रमा के समान है' यहाँ चंद्रमा का सादृश्य कामिनी के मुख में बताया गया है, अतः चंद्रमा प्रतियोगी हुआ। यह अनुयोगी का बिलकुल उलटा है।

२०—**प्रातिपदिक**—बिना विभक्ति के या (हिंदी की कारक दृष्टि से) केवल (कर्ता कर्म आदि संज्ञाओं से रहित) नाम को प्रातिपदिक कहते हैं, जैसे 'राम'।

२१—**लाघव**—किसी बात को बहुत न बढ़ाना पड़े और थोड़े ही में काम हो जाय तो वहाँ लाघव गुण होता है; जैसे 'सादृश्य' को अतिरिक्त पदार्थ न मानकर समानधर्मरूप मान लेने में। यह 'गौरव' दोष का बिलकुल उलटा है।

२२—**विषय**—संदर्भ में तुलना आदि के लिये प्रस्तुत वस्तु को विषय कहते हैं, जैसे उपमेय।

२३—**विषयी**—जिस अप्रस्तुत वस्तु को प्रस्तुत वस्तु के साथ तुलना आदि के लिये उपस्थित किया जाय उसे विषयी कहते हैं; जैसे उपमान।

२४—**व्यभिचार**—अभीष्ट भाग से अन्यत्र भी चले जानेवाले हेतु आदि में व्यभिचार दोष होता है, जैसे 'इस घर में आग है; क्योंकि इस घर का हमको पूरा पता है'। यहाँ 'क्योंकि हमको इस घर का पूरा पता है' इस हेतु में व्यभिचार दोष है। कारण, पूरा पता तो आपको घर का ही नहीं, किंतु और कई वस्तुओं का भी है, तो क्या उन सब वस्तुओं में भी आग नहीं होनी चाहिए।

२५—**व्यापार**—किसी वस्तु से पैदा होकर उससे पैदा होनेवाली वस्तु को पैदा करनेवाले को व्यापार कहते हैं; जैसे लकड़ी के काटने में 'कुल्हाड़े और लकड़ी का संयोग'; क्योंकि वह कुल्हाड़े से पैदा होता है और 'लकड़ी के काटने' को पैदा करता है, बिना लकड़ी से मिले कुल्हाड़ा लकड़ी को काट नहीं सकता।

२६—**सविकल्पक ज्ञान**—देखिए (नं० १६) निर्विकल्पक ज्ञान।

२७—**संसर्ग**—एक पद के अर्थ से दूसरे पद के अर्थ के संबंध को शाब्दबोध में संसर्ग कहते हैं, जैसे 'पंडित रामचंद्र' इन पदों में पंडित और रामचंद्र इन दोनों पदों के अर्थों का अभेद संसर्ग है,

क्योंकि जो पंडित है वही रामचंद्र है और जो रामचंद्र है वही पंडित है।

२८—सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति—सविकल्पक ज्ञान के लक्षण (नं० २६ और १६) में यह बात अच्छी तरह समझा दी गई है कि—बिना किसी विशेष धर्म के किसी भी वस्तु का ज्ञान नहीं होता। वह विशेष धर्म 'त्व' प्रत्यय के द्वारा समझाया जाता है, जैसे गाय में 'गोत्व'। इस धर्म को 'सामान्य' (अथवा 'जाति') कहते हैं। हमें एक गौ के देखने पर जो अन्य गौओं का ज्ञान हो जाता है—हमारे ज्ञान के अंदर अन्य सभी गौएँ प्रत्यक्ष रूप में आ जाती हैं—यह प्रत्यक्ष ज्ञान उपर्युक्त 'सामान्य' के द्वारा अथवा उस 'सामान्य' के ज्ञान द्वारा होता है। इस तरह उस अलौकिक प्रत्यक्ष करवा देनेवाले सामान्य अथवा ऐसे सामान्य के ज्ञान को 'सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति' कहते हैं।

—:o:—

उदाहृत तथा उद्धृत श्लोकों के प्रतीकों की वर्णानुक्रम सूची

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	१३	अत्युपस्थापिता प्रकृत	अत्युपस्थापिताप्रकृत
१	१४	भासमानाप्रकृत	भासमानप्रकृत
१२	६	व्यजक	व्यंजक
१२	१५	उच्चिय	उच्चित
१८	३	को	जो
२४	१७	रम्मश्री	रम्यश्रीः
२७	६	का स्थिति	की स्थिति
२८(टिप्पणी)	६	व्यग्य	व्यंग्य
३२	७	औषधियों के	ओषधियों के
३३	४	पद्मिनियों	पद्मिनियाँ
३६	७	तादुप्य	तादूप्य
३६	१६	यह प्रतीत होता है	हटादो
३७	१४	अयुष्टार्थ	अपुष्टार्थ
३६	१८	शौच	मृत्तिका से शौच
४६	१	विरिञ्चिः न अलम्	विरिञ्चिः
४८	६	गुम होना है	तुम्हारे सामने गुम हो जाती है
४८(टिप्पणी)	६	ककड़ी के	तकड़ी की
४७	१	प्रकृति	प्रकृत
५५	१५	पर भी वह।	पर भी वह
५६	६	धारातासिक्त	धारासारासिक्त
६१(टिप्पणी)	५	उनके	उनने

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६०	४	वहीं	वही
६१	१५	पर्यावसान	पर्यवसान
१०१	१७	उर्वी शासति	उर्वी शाःसति
११५	१८	अप्राकारणिक	अप्राकरणिक
१४३	३	दृशौ	दृशौ
१५५	१७	तृणाऽधिक	तृष्णाऽधिक
१५७	१	पुरुषस्थसिंहासनं	पुरुषस्यासिंहासन
१५७	१४	वपुमान्	वपुष्मान्
२०१	६	दो प्रकार	दो प्रकार का
२३४	६	तुम्हारे गति	तुम्हारी गति
२३६	१८	सामर्थ्य	समर्थ्य
२६०	१३	त्रपाचूर्णचारं	त्रपाघूर्णचारं
२६५	१८	आस्थिमाला	अस्थिमाला
२७२	६	तदितरमपां	तदितरदपां
२८६	३	पदाथा	पदार्थों
३०३	१५	तदाः	तदा
३०७	१२	भेद का गति	भेद का गति
३१८	१३	का आहार्य	के आहार्य
३१६	८	आपने	आपने आज
३२०	४	धमणि	धर्मिणि
३२८	१	चेलांजलेन	चेलाञ्चलेन

———

लेखक का परिचय

आसन्नासन्नपृथ्वीपरिवृढपरिषत्पूज्यपादारविन्दा
बुन्दी-टोडाधिपेभ्यः सबहुमति समासादिताजीवनाश्च ।
ऋग्वेदेऽधीतिनः सत्कुशिककुलभुवः ख्यातवैश्वानरत्वा
ज्ञातेर्नाम्नाऽथ धाम्नाऽप्यतुलितयशसो लोकनाथादिमिश्राः ॥
येषामभूदभिजनो जनवन्दनीया
जन्मक्षितिर्मधुपुरी मधुसूदनस्य ।
लोकोत्तरेण कविकर्मणि नैपुणेन
ये यत्त्रियश्च जगति प्रथितप्रभावाः ।
तेषां कुले कलितकीर्तिकुलेऽवलेप -
हीनः स्वधर्मनिरतः समवाप्तविद्यः ।
श्रीसूर्यमल्लधनिकप्रवरात्मजश्री -
श्रीनाथसूनुरभवन्मथुरादिलालः ॥
तस्यात्मजन्मा संप्राप्तसाहित्याचार्यसत्पदः ।
पुरुषोत्तमशर्माख्यश्चतुर्वेदीति विश्रुतः ॥
अनेकराजपुत्राणां शिक्षको राजमानितः ।
शुद्धाद्वैताख्यवेदान्तदर्शने विहितश्रमः ॥
साहित्यमार्मिकैर्यस्य मार्मिकत्वं प्रशस्यते ।
रसगङ्गाधरस्तेन भाषायां समनूदितः ।
स चायं विदुषां चित्तविनोदाय समर्पितः ।
प्रयासः पुष्पमालेव सौमनस्येन गृह्यताम् ।

इस ग्रन्थ (हिन्दी-रसगङ्गाधर) के प्रणेता पं० पुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी माथुर चतुर्वेदी ब्राह्मण हैं ।

इनका वेद ऋग्वेद तथा शाखा आश्वलायन है। गोत्र सौश्रवस और जातीय उपनाम वैश्वानर (वेसांधर) है।

पूर्वजों का वंशवृक्ष यह है—

मिश्रलोकनाथ जी
|
वैजनाथ जी
|
सूर्यमल्ल जी
|
श्रीनाथ जी
|
मथुरालाल जी
|

पुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी साहित्याचार्य, शुद्धाद्वैत वेदान्त के मान्य विद्वान्।

जन्म तिथि संवत् १९५५ (विक्रम) भाद्रपद कृष्ण ६ बुधवार है। इनकी लिखित पुस्तकों में से कुछ विशिष्ट पुस्तकें ये हैं:—

हिन्दी-रसगङ्गाधर (तीन भाग)

संस्कृत भाषा का सरल व्याकरण

श्रीमद्भागवतान्तर्गत वेदस्तुति की श्रीधरी और सुबोधिनी टीकाओं का अनुवाद

ध्वन्यालोकसार (संस्कृत)

भारतीय व्रतोत्सव। इत्यादि।

—०—